

आचार्य अभिनवगुप्त का लोचन-एक समालोचनात्मक मूल्यांकन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्ड० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

शोधकर्ता
कु० अञ्जलि अष्टाना

निर्देशक
डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
डी० लिट्.
रीडर संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१९७८ ई०

दुर्धरं तालप्रविन्तायां ध्वन्युपासनम् ।

वन्देऽभिनवगुप्ताख्यं ज्ञानमातङ्गमुदरम् ॥

प्राक्कल्प

काव्यशास्त्र में पद्य-विद्वान्त का बाधित्व कैसे ही हुआ है कैसे रक्ती और विश्व के मध्य प्रमाणात्मक का । विविध ज्ञान के संघर्षों के प्रकाश में किछपिछाती वास्तव्यशास्त्र की विभावरी स्फाटक आनन्द अंतर्णीय है कस्त उठी । अस्त तमिषा विमलित हो गई और अन्त प्रकाश-पुंज प्रसर गया । तदनन्तर प्रारम्भ हुआ वास्तव्यशास्त्र के अभिनन्दन दिवस का, जिसमें काव्य का कोई कोना मही-मांति निरखे बिना नहीं गया । उसका प्रथम अपनी सत्य बुझना है कलक उठा और उसका वास्तविक स्वरूप , जो सत्य-सत्य में केवल कल्पना के रूप में था, प्रत्यक्ष प्रकट हो गया ।

पद्य-विद्वान्त के पूर्व का काव्यशास्त्रीय चिंतन कैसे आनन्दवर्धन के अवतार की पूर्व पीठिका थी, अथवा उनकी श्यामल परछाईं, इसके बाद का चिंतन उन्हीं का प्रकृति-मान अथवा उस दीपलिंग का प्रकाश । पूर्वर्ती बाधार्थि अथवा अर्थ को मही-मांति, अथवा अनाद्योति , बाधोप, अस्तुति इत्यादि अंतर्कारों में ही देख रहे थे, उस अर्थ-अर्थ-रूपी वास्तव के वास्तविक वैशिष्ट्य को आनन्द-वर्धन की तत्वाधिनिवेष्टिनी सूक्ष्म दृष्टि ने ही पहचाना । अर्थ-अर्थ को अपनी उक्ति का सर्वस्व बनाकर वात्सीकि, व्यास, काठिन्यादि आदि कवियों ने अपनी काव्य-वाचना की थी । वह उनकी काव्य-प्रतिभा का मूठ बीज था । उसे उस रूप में नहीं समझने के कारण परकीर्ति बाधार्थ महाकवियों की काव्योक्तियों का सही स्वरूप निवारण ही नहीं कर सके । दुर्भाग्य है वे महाकवि स्वयं बाधार्थ नहीं थे कि अपनी कविता की भीमांश में काव्यशास्त्र-ग्रन्थ लिखकर उसका वास्तविक परिवर्तन की । परिणामतः अन्तर्धियों तक अटकल बाधियां चलती रहीं और केवल आनन्दवर्धन की उल्टी के साथ वह तत्त्व वास्तविक रूप में सत्य अथवा के अमरा का अमरा, जो उन महाकवियों की काव्य-वाचना का मूठ बीज था और कविता-कविनी का सर्वस्व ठावण था । काव्य में अर्थ-अर्थ को सही बाधार्थों ने पहचाना था, किन्तु उसकी प्रत्यक्षता आनन्दवर्धन को ही हुई - उसका

वास्तविक मजबूत आनन्दवर्षी की प्रज्ञा ने ही वाक्य -- 'कर्मणः पूजयिष्यमी तौ
 श्रद्धापूर्णां महाकर्मः' । और उन्होंने इस ध्यान की प्रमाण-रूप से अभिव्यक्त
 करने वाले वाक्य को ध्वनि संज्ञा की । विरह भावनाओं के होते हुए ही आनन्द-
 वर्षी का सिद्धान्त विद्वानों के मध्य मान्य हुआ । महा पूर्ण के प्रकाश को सौन-
 द्यकार कर सकता है । ध्वनि-सिद्धान्त का वास्तविक स्वल्प प्रकाश में आ जाने
 पर, यही काव्यशास्त्र का उत्पन्न बन गया ।

आनन्दवर्षी के ध्वन्यालोक की रचना के साथ ही उसकी टीका टिप्पणी
 प्रारम्भ हुई । कुछ टीकाकार गुप्त ऋषि के रूप में उसके विरोध के लिए प्रवृत्त हुए,
 और कुछ ने अपनी अवस्थिति अपना अप्रौढ़ बुद्धि के नाते उसके सिद्धान्तों का प्रान्त
 परित्यक्त किया । काव्यः ध्वनि के विषय में न केवल विवेक बल्कि उपहास्यात्मक
 विरोध प्रारम्भ हुआ, और यह बांधी तब समाप्त हुई, जब लगभग १५० वर्ष
 पश्चात् 'डोपन' टीका की रचना हुई । इससे ध्वनि के लोक प्रथम तत्त्व स्पष्ट हो
 गए । किन्तु, आनन्दवर्षी का किंतु प्रथम होते हुए भी बहुत उच्चों में था, जब
 कि अभिनव गुप्त की प्रारंभ प्रतिभा ने अपने 'डोपन' को खाना सम्पूर्ण बताया कि
 यह तरह-तरह से बोझिल हो गया और साधारण वैदुष्य के लक्ष्यों के लिए
 दुर्गन्धित बन गया । 'डोपन' में जब वे अपना मतान्वेद देते हैं तब वह सामान्यतः पक्ष-
 में नहीं जाता और ऐसा प्रतीत होता है कि यही सज्जानुवारी व्याख्यान है, कुछ
 भी उत्पन्न नहीं । ऐसे लोक स्पष्ट हैं, और वे स्पष्ट होने नास्तिक एवं मूल्य के हैं
 कि वहाँ अपना मत रखकर अभिनव गुप्त ने पूरे सिद्धान्त का स्वरूप ही खण्ड दिया
 और वह ध्वनि-सिद्धान्त आनन्दवर्षी का नहीं, अभिनव गुप्त का-बा हो गया ।
 ध्वनि ही राधा बन गया । काः प्रस्तुत प्राम्भ में डोपन-व्याख्यान में निहित
 स्वतन्त्र मतों को संक्षिप्त करने का प्रयत्न किया गया है । इस प्रकार प्रस्तुत समीक्षा
 पांच अध्यायों में विभक्त हो गई है :- प्रथम अध्याय- विषय-प्रवेश । द्वितीय
 अध्याय- सिद्धान्तपक्ष । तृतीय अध्याय- सांकेतिक विवेक । चतुर्थ अध्याय-
 ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में डोपन का मूल्यांकन । पंचम अध्याय- डोपन का परस्त्री
 ध्वनि-सम्प्रदाय पर प्रभाव ।

प्रस्तुत हीन कार्य में प्रवृत्त करने का मेरा मुख्य मुख्य उद्देश्य डा० बण्डिका प्रभाव
 बुलंद हो की है । मूल्य मुख्य का उदा से यह जानकर रहा है - बौद्धिक दास्ता

के परिवेश से सर्वथा मुक्त रहकर एवं निर्भीक होकर स्वतन्त्र रूप से सोचन का अभ्यसन करना । उन्हीं के निर्देशानुसार प्रस्तुत अभ्यसन किया है । यह प्रयास कहां तक सफल हुआ है उसके लिए विद्वान् अनुमति की प्रार्थना है ।

सोच कार्य की वास्तविक प्रेरणा देने वाले तथा हमारे प्रति आत्सलपूर्ण व्यवहार करने वाले सत्य गुरुवर्य डा० बाबाप्रसाद मिश्र के प्रति कृतज्ञ हूँ, प्रस्तुत सोच-ग्रन्थ उन्हीं के आशीर्वाद का एक फल रूप है । ग्रन्थ में साहित्यिक चेतना को जागरित करने वाले परम आदरणीय गुरुवर्य डा० पण्डिताप्रसाद शुक्ल जी के सम्मुख श्रद्धावन्त हूँ, उन्हीं के स्नेह एवं उपदेश से यह सोच-ग्रन्थ सम्पन्न हो सका । ध्वनि-सिद्धान्त पर हजर अनेक ग्रन्थरत्न लिखे गए हैं । मैंने परसक प्रयत्न किया है कि उनमें प्रथित विचार-मणियों का पूर्ण उपयोग करूं तथा उनके स्तार मार्गों का यथासम्भव अनुसरण करूं । अतः मैं इन गौरव ग्रन्थों तथा उनके मनीषी लेखकों के प्रति आभार-वार्त्तिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ ।

गंगादास का-रिखर-हन्स्टीट्यूट के प्रति आभारी हूँ, जहां से पुस्तकें मुक्त होती रहीं । प्रमाण विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने लेखों, पत्रिकाओं एवं दुर्लभ पुस्तकों को देने की व्यवस्था की । श्री गंगाधर तिवारी ने प्रस्तुत ग्रन्थ को यथासक्ति अल्प समय में टंकित किया है, उसके लिए अत्यन्त आभारी हूँ । टंकण कार्य में जो अनिवार्य अशुद्धियां रह गई हैं, उनके लिए अविनय क्षमा प्रार्थनी हूँ ।

ध्वनि-वीरेय विद्वानों के कर कमलों में इसे समर्पित करते हुए मुझे अधिकृत मुद्र की यह संज्ञा बराबर याद हो रही है -

तं वन्द्यः श्रीगुरुर्नृपतिः सर्वस्य व्यक्तित्वोत्तमः ।

केन्द्रः संतुष्टो ह्यङ्गी विभुदिः रयामिकाऽपि वा ॥

विनीता

अंजलि अस्थाना

विषयानुक्रमणी

प्राक्कल्प

१-३

प्रथम अध्याय

(पृष्ठ १-२२)

विषय प्रवेष्ट

- | | |
|--|-----|
| १- संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का स्थान | -२ |
| २- ध्वन्यालोक की टीका लेखन | -६ |
| ३- लेखनकार आचार्य अमिनकमुक्ष | -७ |
| क. जीवनकृत | -७ |
| ख. कृतियाँ | -८ |
| ग. आचार्य अमिनकमुक्ष एक समालोचक और व्याख्याकार | -१० |
| ४- विषय की उपयोगिता तथा उसका महत्त्व | -१५ |
| ५- अस्तन कृतियों का आकलन | -१६ |
| क. ध्वन्यालोक लेखन के संस्करण | -१६ |
| ख. उपलब्ध आलोचनात्मक ग्रन्थों का आकलन | -१८ |

द्वितीय अध्याय

(पृष्ठ २२-१३०)

सिद्धान्त पक्ष

- | | |
|--|-----|
| ध्वन्यालोक में विषय योजना | -२२ |
| १- ध्वनि के विरोधी पक्षों का प्रस्ताव और उनका समाधान | -२३ |
| क. समाववादी | -२३ |
| ख. भाक्तवादी | -२५ |
| ग. अनिर्वचनीयतावादी | -२६ |
| घ. ध्वनि विरोधी पक्षों का समाधान | -२७ |

२. बाण्य के पुष्प व्यंग्य अर्थ की. कता एवं मरता	-२३
३. काव्य मेव	-२६
४- ध्वनिकाव्य	-४०
ध्वनि काव्य के मेव	-४१
क. उत्तमोत्तमपुष्पविविधतया विविधितवाक्य	-४१
क. १. अत्यन्तिसुन्दरितवाक्य	-४२
क. २. अत्यन्ततिरस्कृतवाक्य	-४३
ख. विविधितान्यवाक्य	-४४
ख. १. उत्तमपुष्पव्यंग्य	-४४
रसमेव	-४५
रसपुकार	-४६
ख. २. अनुरणोपव्यंग्य	-४७
उपव्यंग्यवित्तुल्य	-४८
वदपुकारय अलंकारव्यंग्य	
वाक्यपुकारय अलंकारव्यंग्य	
अपेक्षिततुल्य	- ५८
वस्तुव्यंग्य	
कविप्रौढोक्ति-विद्व	
स्वतःसम्भव	
अलंकारव्यंग्य	
अलंकारपुकारय	
वस्तुपुकारय	
५- गुणीभूतव्यंग्य काव्य	- ६६
गुणीभूतव्यंग्य काव्य के मेव	-६६
तिरस्कृतवाक्य	- ६६
अतिरस्कृतवाक्य	-६७
उत्तमपुष्पव्यंग्य	-६८
रसादिअलंकार	
अनुरणोपव्यंग्य	-७०
वस्तु रूप	-७०
अलंकाररूप	-७१

काव्य.से वाचि.का गुणोद्भावन्य	-७२
६. व्यंग्यों का प्राधान्याप्राप्त्यर्थ विवेक	-७३
७. ध्वनि सम्मिश्रण	-७४
संकर : अनुप्रासवानुप्रासमय	-७४
सन्देश	-७४
रसवाचकानुप्रास	-७४
८. विप्रकाश	-७४
९. शब्द व्यापार	-७६
क. वाचकत्व	-७६
ख. गुणवृत्ति	-७६
ग. व्यंग्यत्व	-७६
ग. १. वाचकत्व और व्यंग्यत्व	-७७
ग. २. कैवाकरण और व्यंग्यत्व	-७७
ग. ३. गुणवृत्ति और व्यंग्यत्व	-७७
ग. ४. अनुमान और व्यंग्यत्व	-७७
१०- गुण	
माधुर्य	-८१
बोक्	-८१
पुष्टाव	-८२
११- कर्तृकार	-८३
ध्वनि काव्य में कर्तृकार -योजना	-८४
१२. संघटना का स्वरूप और ध्वनि काव्य में उसका महत्त्व.	-८८
१३. ध्वनि काव्य में वृत्ति सत्त्व	-१०३
१४. बोध	-१०४
१५. कविशिक्षा	-१०५
रसों का विरोध अविरोध विचार	-१०५
रस योजना	-१०६
प्रबन्ध में रस-योजना	-११३
प्रबन्ध में विरोधी रस की योजना के उपाय	-११४

इमनि रचना से प्रतिपाद्यान् कवि की जीवुद्धि	-११६
१. अवस्था मेहं से नवीनता	-१२२
२. देश मेह से नवीनता	-१२४
३. काष्ठ मेह से नवीनता	-१२५
४. स्वातन्त्र्यमेह से नवीनता	-१२६
५. उक्ति वैधियुक्त से नवीनता	-१२६
६. भाषा वैधियुक्त से नवीनता	-१२६
संवाद	-१२८
प्रतिविम्बकत्	-१२८
वाक्यस्थाकारकत्	-१२९
तुल्यवैधियुक्त	-१२९

तृतीय अध्याय

(कृष्ण १३१ - १५१)

वाक्यनिरूपण विवेचन

१. काश्मीरी शैव दर्शन	-१३१
क. प्रत्यभिज्ञादर्शन के तृतीय तत्त्वों का विवेचन	-१३२
ख. विन्मय सामरस्य की अवस्था	-१३७
ग. अमेववाद, वामासवाद	-१३८
घ. स्वरसता	-१३९
ङ. आनन्दवाद	-१४०
२. काव्य तत्त्व और अभिनवगुप्त की शैव दर्शनाभिन्न दृष्टि	-१४०
क. रस तत्त्व और शैव दर्शन से उसका सम्बन्ध	-१४१
कृ.१. उक्तिरसतत्त्व और रसतत्त्व	-१४३
क.२. वामासवाद और रसाभिध्वक्ति	-१४३
क.३. स्वरसता और सामारणीकरण	-१४४
क.४. आनन्द और रसानन्द	-१४४

क. ५ रस की कठौकियता -१५०

क. ६ ज्ञानन्दवाच और ज्ञानन्दस्वरूप रस -१५१

चतुर्थ अध्याय

(पृष्ठ १५६ -२५६)

विवेचन और विश्लेषण

१- ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में छंद का मूल्यांकन -१५६

क. वात्स्या यम के विभिन्न कर्ष -१५७

ख. ध्वनि और प्रतीयमानार्थ का पार्यय -१६०

ग. प्रतीयमानार्थ के भेद -१६१

घ. रसादि का महत्त्व -१६२

ङ. ध्वनि का उदाण -१६६

च. ध्वनि के पांच कर्ष -१६६

छ. ध्वनि के विरोधी -१७०

ज. ज्ञानन्दवर्क का ध्वनिविरोधियों को उलर -१७०

झ. ध्वनि काव्य भेद -१७१

क-१ विवक्षितवाच्य ध्वनि -१७१

क२. १. ज्ञान्तिर संक्षिप्तवाच्य -१७२

क १.२. ज्ञान्ततिरस्तुतवाच्य -१७२

क.२ विवक्षितान्वयपरवाच्य ध्वनि -१७६

क २.१. संक्षिप्तकृतव्यंग्य -१७८

अभिनवमुक्त का रस-सिद्धान्त -१८०

भावव्यंग्य -१८५

जामास -१८५

भावप्रवृत्तादि -१८६

संक्षिप्तकृतव्यंग्यध्वनि में कठोर -१८६

क२. २. संक्षिप्तकृतव्यंग्य -१८६

क २.२.१. संक्षिप्तकृतव्यंग्य

क. २. २. २. व्यंजनपुद्गल अनुस्वानोपव्यंग्य ध्वनि -१८६

.व्यंजनपुद्गलानुस्वानोपव्यंग्यध्वनि के वेद-१६१

ख. पुद्गल के व्यंजन का निबन्धन करिकार -१६१

लीला -१६५

ड. गुणनिबन्धनकारकललाभादि के रसवोधन -१६६

ढ. वणों का रसवोधन -२०१

ड. संघटना का रसाभिव्यंजन -२०१

ढ. तात्पर्यवृत्ति की स्थापना -२०१

ण. ज्ञान्त रस -२०५

ज्ञान्त रस का स्थायी भाव -२०६

लीला -२१६

त. गुंजार रस में विरोध वविरोध का निरूपण -२१७

थ. काहु से अन्तर प्रीति के स्थल में गुणीभूतव्यंग्य- २१६

द. ध्वनि सम्मिश्रण -२२१

ध. ध्वनि के संस्था -२२६

स - जीवन व्याख्यान में जार हुए मामल, उद्भट, वामन प्रभृति वाक्यांशों

की दृष्टि में रसों हुए विश्लेषण -२२७

क. मामल

ख. उद्भट

ग. वामन

न. कारिका और वृत्तिकार -२५५

मिन्नकृतित्व -२५६

अभिन्नकृतित्व -२५६

निष्कर्ष -२६०

पंचम अध्याय

(पृष्ठ २६२-३०१)

जीवन का परकीर्ण ध्वनि सम्प्रदाय पर प्रभाव -२६२

१. व्यंग्य एवं वीर ध्वनि में रस की प्राप्ति -२६२

२. रस प्रक्रिया	-२६६
३- रस संज्ञा	-२७४
ज्ञान रस	-२७५
४- शब्द शक्तियाँ	-२७७
अभिधा शक्ति	-२७७
उपाधा शक्ति	-२८१
(वाक्य की) सात्पर्यशक्ति	-२८२
व्यंजना शक्ति	-२८७
अभिधामुक्ता शाब्दी व्यंजना	-२८९
वाची व्यंजना	-२९५
५- ध्वनि काव्य भेद	-२९७
६- काव्य भेद	-३०१
७- उपसंहार	-३०३
८- प्ररिशिष्ट	-३०४

पुनः व्याख्यान

विषय सूची

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि-विज्ञान का स्थान :-

कविता स्वी वाक्य सरिता मानव की सांस्कृतिक पैना है साथ प्रकृत दुर्ग, और सभी वे सब का मन को आनन्ददायक में निमग्न करती रही । इसमें व्यंग्यवाच्य तो सभी अनुभव मन करते रहे, किन्तु उसके स्वरूप का परिचय मनीषी वाचार्थों का उपरवाहित्व बना । संस्कृत में, वाचार्थ महत् है और वाच तक चितने भी प्रस्थान प्रकृति वाचार्थ हुए, सभी ने अपने अपने बुद्धि-शील है काव्य के स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण किया ।

इसको (जो एक काव्य में के ही है) में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित करने वाले वाचार्थ महत् ने - 'रसः काव्याधीः' एवं 'न हि रसाद्वै कश्चिदर्थः प्रकृति' द्वारा माट्टव में रस का महत्त्व बताया । यन्त्री, मानव उपपत्त्यादि ने काव्य रचना का सारा धर्म्य अङ्गारों में पाया और सभी काव्य का सर्वस्व निष्पत्ति हुआ । उनकी दृष्टि में 'रस' एक प्रकार का अङ्गार बना रहा । वह वाच्य ने 'रीति' विवेक के प्रकाश में 'गुण' को काव्य का प्रधान तत्त्व बताया जब महत् द्वारा प्रतिपादित 'रस' यहाँ एक प्रकार का गुण बन गया । वह प्रकार महत् द्वारा प्रतिपादित रस कहीं अङ्गार कहलाया कहीं गुण । इसमें कोई शक्य नहीं कि उसे कहीं रूप ही समझ माना गया । वाचार्थ महत् ने उसे व्यापक माना था, किन्तु अङ्गार और गुण वादियों ने उपर ध्यान नहीं दिया ।

यही स्थिति 'व्यंग्य-वर्ण' की भी हुई । आनन्दवर्ण के पूर्ववर्ती वाचार्थों की बुद्धि में सब व्यंग्य वर्ण और व्यंग्यावृत्ति अलङ्कृत रूप से स्फुरित हो रही थी , तथापि वे वाचार्थ उसे किन्हीं अङ्गारों के अन्तर्गत वाच्य के उपरकारक रूप में ही पाते रहे । यथा -

नामक ने समाधीति कठंकार के उदाहण में कहा-- 'कहां समान विशेषणों के द्वारा व्यंघ्य एवं व्यंघ्य ही, कहां समाधीति-कठंकार है'।^१ इस प्रकार नामक ने व्यन्तिर की व्यंग्यमानता के द्वारा वाक्य के भिन्न व्यंग्यार्थों की और स्पष्ट केंद्र किया है। पर्यायोक्त कठंकार में 'अन्येन प्रकारेणाभिधीयते' द्वारा परीक्षा रूप के व्यंग्यावृत्ति की और ही केंद्र है। यन्ही ने ही उदाह कठंकार के प्रारंभ में 'व्यंघि' पद का प्रयोग भी किया है। और पर्यायोक्त कठंकार के उदाहण में 'प्रकारान्तराल्पानम्' द्वारा व्यंग्यावृत्ति की और केंद्र किया। उन्होंने उदाहरण के व्यंघ्य शब्दों को गिनाते हुए 'व्यंघ्यते'। पद का प्रयोग भी किया है।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यंघ्य-वर्ष पूर्विकी वाच्यार्थों को ज्ञात था। किन्तु, वे काव्य में उसके महत्त्व का उचित आकलन नहीं कर पाए। नामवादि वाच्यार्थ हव्याकंठंकार एवं काव्याकंठंकारों में ही काव्य का सारा सौन्दर्य सौक्य रहे। क्योंकि हव्यार्थ ही काव्य के विनायक तत्त्व या शरीर हैं। उनकी दृष्टि काव्य के वाक्याकंठंकार मात्र तक ही सीमित थी, उही दृष्टि से वे महाकवियों के काव्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते रहे। उन्होंने कठंकार मुद्रा, रीति वादि के चट्टारों से महाकवियों के काव्य की तौलना चाहा था, और उही का प्रतिपादन करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। किन्तु उन्होंने काव्य और शरीर के भीतर की काव्यात्मा को न पहचाना और न पहचानने का प्रयत्न किया। व्यंघ्य-वर्ष से परिचित होते हुए भी उसकी पूर्ण कला एवं महत्ता का प्रतिपादन करना एक प्रकार से पूर्वप्रतिष्ठित शास्त्रों की मान्यताओं को चुनौती देना था, जिसका उनमें साहस नहीं था, क्योंकि व्यंघ्य

१- काव्याकंठंकार २।३६

२- वही ३।८

३- पूर्वमाहव्याशास्त्रमवाच्यमनीरकम् ।

व्यंघिचित्ति प्रीतिमुदापदमव्यः॥ काव्यावर्ष २।३०३

४- वही २।२६५

५- वही २।२३४

जब की पुनः स्वीकार करने पर, अन्वीक व्यापार की भी कल्पना करनी पड़ती।
 बनिमा तथा उपाणा के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार पुनः नहीं गया था।
 एतद्विषय वाचार्थों ने इस की भी कभी कभी वाच्य जब रूप बनिमा जब पुनः रूप
 तक ही मान कर स्वीकार किया। किन्तु, महाकवियों के काव्य में कछुकी
 पाठे उस तत्त्व विशेष -- 'अंग्य-जब' की श्रान्तद्विती वाचार्थ वाच्यवकी ने
 पसनाया, जो महाकवियों के काव्य का प्राण तत्त्व था। उसी अंग्य-जब की
 दृष्टि से वाच्यवकी ने काव्य-रूप का विवेक किया। उसकी काव्य के वाच्य
 जब(उपमादि) प्रकारों से बनिमा भिन्न बताया। पूर्वोक्ती वाचार्थों ने ^{उसका} बहुधा
 व्याख्यान किया था, अतः वाच्यवकी ने उस बहुवर्णित तत्त्व की पुनरावृत्ति
 नहीं की, बर्यानानुसार उसका अनुकूलन मात्र करते होइ दिया। केवल अंग्य-
 जब के रूप का बनिमा नूतन दृष्टि से निष्पन्न किया और अंग्य के साथ उसके
 प्रतिपादक अंग की भी बनिमा प्रतिष्ठा की। ये दोनों तत्त्व अंगि-
 सम्प्रदाय के वाचारूप हैं।

यह अंग्य-जब प्रतिमा सम्पूर्ण महाकवियों की वाणी में स्फुरित होता
 है और केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञों द्वारा जाना जाता है। यह वस्तु, अङ्गार
 और इस रूप होता है। काव्य में अंग्य-जब की सर्वोपरि महता की गई और
 उसी दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन किया। विविध अंग्य-जब में विशेष महत्त्व
 'रसअंग्य' को दिया। जिसका प्राधान्येन प्रमपात वाचार्थ भरत ने किया था,
 उसका उचित स्वरूप परिष्कृत एवं मूल्यांकन वाच्यवकी ने किया -

अंग्यअङ्गनायेऽभिनिविकिमे सम्भवत्यपि ।

रसाधिनस एकस्मिन् कविः स्वापकमानवान् ॥

१- अङ्ग १।३

२- अङ्ग १।४

३- अङ्ग १।७

४- अङ्ग ४।५

और, वह 'रस रूप व्यंग्य-वर्णन' केवल अनुभवों को व्यक्तिक स्वरूपक मानकर
 देता है, वास्तु कवियों को काव्य-रचना के लिए अतीव स्वातन्त्र्य एवं
 मौलिकता के प्रयोग का अनन्त अवसर प्रदान करता है। क्योंकि, रस के सम्पर्क
 से वर्णन करने पर वे बातें भी मनीष्य लगती हैं, जिसका पूर्व के कवियों ने
 बहुत वर्णन किया है।

इस प्रकार वाचस्पतिक ने व्यंग्य-वर्णन की कलाक्षिति में अनुवाद की भाँति
 काव्यदृष्टि में उत्तारणा की और आरुत व्यंग्य के उपायन के साथ ही काव्य
 की कलाक्षिति अनेक और गुण स्वी कौशल तथा अनुभवों के सुन्दरों से संभूत
 हो उठा। अतएव मैं मानना चाहता हूँ कि काव्य-रामायण से लेकर सारी
 कौशल काव्य परम्परा का प्रान्त उत्तम संस्कृत ही नहीं, विरस के साहित्य
 का सर्वस्व अनुभवों को व्यंग्य वर्णन प्रतीत होने लगा। और ऐसा लगता कि
 अब तक काव्य के विषय में दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पाई थी। वह काव्य उत्तम
 कवियों को स्पष्ट था, किन्तु, वे वाचस्पतिक ने कहा: उन्होंने अनुभवों को उसका
 परित्यक्त हास्य रूप में न दिया। केवल काव्य में उल्लास प्रतीत करते रहे।
 वाचस्पतिक को लगता कि 'व्यंग्य' ही काव्य का सर्वस्व है और व्यंग्य-व्यंग्य
 का उचित प्रयोग करने ही काव्य रचना साधक का उत्तम है। उस व्यंग्य-वर्णन
 को प्रदान रूप से व्यंग्य करने वाले काव्य को 'व्यंग्य' कहा ही। और काव्य
 का एक ही प्रकार माना - 'व्यंग्य'। व्यंग्य वर्णन के अनुदान करने पर -
 'गुणीकृतव्यंग्य' नाम रखा। वह गुणीकृतव्यंग्य व्यंग्य निबन्धनकृत ही
 है।

१- वृत्तपूर्वा अपि कृपाः काव्ये रसप्रतिपत्ताम् ।

कौ नवा उवाचान्धियं अनुवाद रूप प्रमाः ॥ पद्य० ४१४

२- पद्य० ११२३

३- (१) व्यंग्य-वर्णन काव्यम् ।

(२) काव्यरस व्यवस्थापनी क्रियमाणे नास्त्येव व्यंग्यव्यतिरिक्तः काव्य-
 प्रकारः । पद्य० ४१४०

४- पद्य० ११२०

कती ह्यन्वयमेनापि कुलारेण विप्रुषिता ।

वाणी नक्तवनायाति पुनरिच्छिन्नवत्पि ॥

ध्वन्यालोक की टीका - टीपनः

‘टीपन’ के रचयिता बाबाई अभिनवमुखा हैं । उन्हें अभिनवमुखा ने वाचस्पत्ययन के ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तृत व्याख्यान किया है । अपने ‘टीपन’ का महत्व प्रतिपादित करते हुए स्वयं अभिनवमुखा कहते हैं - ‘किं टीपनं विना-
लोकौ नास्ति बन्धुव्यापि हि’ । विद्वानों ने भी ध्वन्यालोक के अध्ययन में टीपन का बड़ी महत्व बताया है, जो व्याकरण में पर्यायि के मंदाभाष्य का जगता देवान्तानुर्गों के अध्ययन में शंकराचार्य के भाष्य का । इन उक्तियों में कुछ दूर तक सत्यता है तथापि ये अतिशयोक्तिपूर्ण हैं ।

‘टीपन’ में अभिनवमुखा का उत्कृष्ट साहित्यिक क्षमता है । वेन यही के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने जो शक्ति का रही थी उसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में उनकी ‘अभिनवमाली’ और ‘टीपन’ दोनों कृतियों ने मुख्य प्रतिष्ठा प्राप्त की । बाबाई ने मतमस्तक होकर साहित्य-शास्त्र में अभिनव की इन दोनों टीकाओं के माध्यम से कही गई उक्तियों को प्रमाण माना और प्रायः किसी ने उनके कल की प्रामाणिकता की स्वीकार करना भी उचित न समझा । उसका विवेक पुनः व्यवस्थान करें ।

१- पृष्ठ ४१२

२- (१) टी० पृष्ठ १६४

(२) बाबाई अभिनवमुखा ने ‘टीपन’ में जोर स्थलों पर ‘बन्धुका’ ह
टीका का नाम दिया है जिससे स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक पर ‘टीपन’
टीका के पूर्व ‘बन्धुका’ टीका भी लिखी गई थी , जिसके रचयिता
अन्यथा अभिनवमुखा के ही पूर्वज थे ।

औपनकार बाबाई अभिनवमुख

क जीवनमुच-

बाबाई अभिनवमुख को साक्षित्य काल में 'अभिनवमास्तीकार' एवं 'औपनकार' के नाम से प्रसिद्ध हैं, यह नामबाबाई के 'उत्तर-दिग्बिम्ब' में निर्दिष्ट शास्त्राचार्यकार काकप देववाही अभिनवमुख से मिले हैं। अभिनवमुख अभि-
नवीय ब्राह्मण थे। अभिनवमुख ने तन्त्राचार्य में अपने पूर्ण अक्षिपुत्र का वर्णन
काले हुए लिखा है कि किसी कारणवश कर्मीर राजा उल्लिखित्य ने कर्मीर
पर चढ़ाई कर दी। उस समय कर्मीर के राजा यक्षोर्मा थे, यह युद्ध में यक्षोर्मा
पराजित हो गए। यक्षोर्मा के यहां अक्षिपुत्र नाम के एक बहुत बड़े पिछान थे।
कर्मीर के राजा उल्लिखित्य अक्षिपुत्र को अपने यहां ले गए, और बड़े
सम्मानपूर्वक उन्हें रखा। इन्हीं अक्षिपुत्र के वंश में लगभग २०० वर्ष बाद
अभिनवमुख उत्पन्न हुए।

अभिनवमुख ने तन्त्राचार्य में अपने पितामह वराक्षुपुत्र, पिता नरक्षिपुत्र
(बुद्ध) का वर्णन किया है। इन्हीं नरक्षिपुत्र के पुत्र अभिनवमुख थे। अभिनव
की माँ का नाम विमला था। अभिनव के सभी पूर्ण पदम दिन वृत्त थे। पिता-
मह वराक्षुपुत्र को तो अभिनव ने दिन का ही अवतार कहा है। पिता

१- सम्पूर्ण विवेक का आधार मुख - शा० कान्तिवन्द्य पाण्डेय का अभिनवमुखः।

२- उपनिषद्मेष नामकानामभिनवाभिनवीपुत्रबुद्धमुखः।

ककप किं शास्त्राचार्यकारं स च मन्त्रा मनस्येवाकृतौ।। उत्तरदिग्बिम्ब १५।१५

३- निःशेषशास्त्रवत् किं मन्त्रैश्चस्मिन्मन्त्रायां मुण्डान्मन्त्रां दिक्मन्त्रां।

कोऽप्यक्षिपुत्र इति नाम निरुक्तमत्रः। शास्त्राध्यैर्निरुक्तमप्यक्षिपुत्रः।।

समय उल्लिखित्यो राजा निर्व परमायकः। पुण्यवरणवात् कर्मीराख्यं विनायक-
मुखम्। (तन्त्राचार्य व्याख-२०)

४- अस्य हि मुखः। नरक्षिपुत्रविमलाख्या पितारी इति- तन्त्राचार्य १।१५

५- तस्यान्वये महति कोऽपि वराक्षुपुत्रनामा बभूव नमयान् स्वयन्मन्त्रकृते।

वीरानिदिनितुकरिकुलितपुत्रां यस्याकरोत् परमपुत्रमाग्रेण ।।

तस्यान्वयः पुत्रकृति को पुत्रिश्च वराक्षुपुत्रावभिनवणी नरक्षिपुत्रः।।

यं कतिपयकालेनपुत्रपुत्रिं मातृपरी परमपुत्रकृते एव मक्तिः ।।

(तन्त्राचार्य - २०।१२।)

नरसिंहेन्द्राचार्यः 'संसारकृतान्त परांशुः' एवं 'शिवैकचित' है। माता पिता की शिष्यता थी। अतः अमिनकुण्ड पर भी इस वातावरण का प्रभाव पड़ा और वे भी ठेव करने के प्रभाव विद्यमान हुए।

अमिनकुण्ड ने आजीवन कुशल कृत का पालन किया, क्योंकि वात्सल्य में ही माता के मत को माने पर, पिता नरसिंहेन्द्राचार्य भी कल्पित ही गए। परिणाम यह हुआ कि अमिन की सांसारिक जीवन के प्रति आकर्षण देने वाला कोई न रहा। फलतः वे सांसारिक जीवन से दूरी विरक्त ही गए। वे एक मात्र शिष्यता और दार्शनिक विषयों के अध्ययन में लग गए। उन्होंने ठेव-रुप को आत्मसात् कर लिया तथा उसे पुण्यः अपने जीवन में व्यवहार करने का प्रयत्न किया। अतएव, उनकी समस्त विचारधाराएं ठेव करने पर ही आधारित हैं। अमिन ने अपना सम्पूर्ण जीवन दार्शनिक विचार, मनन में एवं साहित्यसेवा में ही लगा दिया।

अमिन ने किसी एक गुरु से ज्ञान नहीं प्राप्त किया था। उन्होंने स्वयं ज्ञान है-

‘नानागुरुप्रवृत्तानिपातवाक्यार्थकिञ्चिद्वैकविकाचनिवेदितामीः’

इसलिए उनके विन्म-विन्म शास्त्रों के विन्म-विन्म गुरु हैं, जिनकी सभी विन्म शिक्षा है -

पिता नरसिंह गुण्ड(गुण्ड) है व्याकरणशास्त्र^४, मुतिराय है कृतवित्त^५ मुतिरायानय है ठेका, वामनाथ है शिवाश्रित्यम्^६ उपमन्य गुण्ड है

१,२- पराशरिज्ञान अन्तितम कथ - १२

३- 'साहित्यशास्त्ररत्नोपमा' महेन्द्रकृत्या स्वयंप्रणयुक्त्या मुदीतः।

स तन्मयीभूय न लोकाधीनमीश्वरणात् कामपि केचन पुनः ॥

तदीयस्य-मीश्वरिभूयै पुरा करोति दास्यं मुनेभ्यस्तु स्वयम् ।

४- पिता स अमिनस्यै कृतवित्तवैतः इति ।

५- तदीयस्यै कृतवित्त सः प्रत्यक्षवित्ति ।

शिवः श्रीमुतिरायौ वामनाथं प्रवृत्तयत् ।

६- श्रीनाथस्य-शिवशास्त्र-वैकल्यः श्रीमुतिरायानयः स्वपितृपुत्रावः ।

७- वामनाथस्य-शिवशास्त्र-वैकल्यः तदीयैकवरात्मकवामनाथः । तन्त्रालोक ३७/६० - ६२

सिद्धिभिः भिन्नभिः^१, मद्देन्दुराज दे ध्वनिविद्वान्^२, तथा मद्देवी दे नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया ।

उप सात गुरुजों का तो अभिनव ने शास्त्र के अतिरिक्त हल्लेक किया है ।
उनके अतिरिक्त १३ अन्य गुरुजों का भी हल्लेक एक रत्नक में एक प्रकार किया है -

‘वीर्यप्रदीपनमणि विद्याधरमानन्दनामिकादिभिरुक्तिविभिन्नाः ।

अन्येऽपि श्रीविद्याधरनामिकादिभिरुक्तिविभिन्नाः ॥’

स- कृतियां -

अभिनवगुप्त के ४२ से अधिक ऐसे ग्रन्थ हैं, जो केवल उनकी विविध शाखाओं पर लिखे गए हैं । इनके अतिरिक्त ध्वन्यालोक पर जोषन और मल्ल के नाट्यशास्त्र पर लिखी अभिनवमार्त्तरी टीकाएं शास्त्रशास्त्रीय कृतियां हैं । इनके ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है -

- १- वीर्यप्रदीपन, २- नाट्यशास्त्रविश्लेष, ३- पराभिहितविश्लेष,
- ४- सन्ध्यालोक, ५- सन्ध्यालोक, ६- सन्ध्यालोक, ७- ध्वन्यालोकजोषन, ८- अभिनव-
मार्त्तरी, ९- नाट्यशास्त्र-टीका, १०- परमाक्षर, ११- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविश्लेषविश्लेषिनी,
- १२- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, १३- परमाक्षर, १४- सन्ध्यालोक-विश्लेष,
- १५- कृतस्तोत्र, १६- देवस्तोत्र, १७- नैवस्तोत्र, १८- नैवस्तोत्र, १९- परमाक्षरविश्लेष,
- २०- परमाक्षर, २१- नाट्यशास्त्रविश्लेष, २२- अनुसारादिश्लेष, २३- अनुसारादिश्लेष,
- २४- रसस्वर्णविश्लेष, २५- सन्ध्यालोक, २६- गुरुजोंविश्लेष, २७- कृतक, २८- कृतक-
जोषन, २९- पूर्वाधिकार, ३०- परमाक्षरविश्लेषविश्लेषिनी, ३१- कृतकविश्लेष,
- ३२- कृतकविश्लेष, ३३- काव्यशास्त्रविश्लेष, ३४- कृतक-विश्लेष,

१- देवीप्रदीपनऽपि अथ श्रीविद्याधरनामिकादिभिरुक्तिविभिन्नाः ।

वीर्यप्रदीपनमणि विद्याधरमानन्दनामिकादिभिरुक्तिविभिन्नाः ।

२- मद्देन्दुराजवरणरक्षितादिनाट्यशास्त्रादिभिरुक्तिविभिन्नाः ।

३- कृतकविश्लेषमार्त्तरीदिनाट्यशास्त्रादिभिरुक्तिविभिन्नाः ।

कृतकविश्लेषमार्त्तरीदिनाट्यशास्त्रादिभिरुक्तिविभिन्नाः ।

४५- कैलाश विदारण, ४६- देवीस्तोत्रविदारण, ४७- तत्वाध्यायप्रकाशिका,

४८- विष्णुसत्त्वविनाभावस्तोत्र, ४९- विष्णुप्रतिविम्बवाद, ५०- परमायेंद्र्य,

५१- अनुसरणम्, ५२- प्रहरणस्तोत्र, ५३- नाट्यालोचन, ५४- अनुसरतत्त्वविमर्शिनी ।

अभिनवगुप्त की समस्त कृतियों उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु उपलब्ध कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे उच्च कोटि के शैव दार्शनिक।

अभिनवगुप्त को अपने शिष्य हेम और शिव का अवतार मानते थे। एक शिष्य ने अपने गुरु अभिनवगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है :-

अभिनवगुप्तारस्यसामाधिपत्यमरीचिपरिपक्वीभ्यः ।

वृत्तपुण्डरीकपुण्डरी निकासति नियमेन मौलाउत्पत्तिः॥

उसी प्रकार लामेन्द्र ने भी अभिनव को अपना साहित्य गुरु बताया है, और उन्हें 'गोव्यारिषि' वगैरह ज्ञानदायर कहा है -

गुप्ताभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं गोव्यारिषेः । (लामेन्द्र वृत्तपुण्डरीकपुण्डरी पृ० २५०)

जो: हमें समझ नहीं कि अभिनवगुप्त एक समाधि केतना है परम योगी है ।

यह प्रसिद्धि है कि अभिनवगुप्त ने भारत की शिष्य तथा शिष्याओं के साथ कश्मीर की सीमा पर और मुल्तान के बीच बीरवा नाम है प्रसिद्ध नाम की , उही नाम है आज भी विख्यात है। मैसूर गुफा में मैसूरस्तोत्र का पाठ करते हुए प्रवेश किया और वही अन्त काष्ठ के लिए उन्होंने कहा कि है ही ।

विद्वानों ने अनेक प्रामाणिक परिशीलनों के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त का काष्ठ ६५० ई० से ठीकर १०३० ई० तक निश्चित किया है ।

५- आचार्य अभिनवगुप्त: एक समाधीचक और व्याख्याकार -

अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्र पर कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा, ऐसा पहले कहा जा चुका है , उनकी केवल ही साहित्य-कृतियां हैं - अभिनवभारती और लीला और दोनों टीका रूप हैं । टीकाकार होते हुए भी संस्मरणार्थ के

१- (१) पृ० अभिनवगुप्त पृ० २५ ।

(२) मैसूरस्तोत्र का पाठ करते हुए गुफा में प्रवेश की बात डा० कान्ही ने लिखी है ।

समान अमिनबुद्ध' आचार्य' पर पर अभिहित हैं । यहां स्वाभाविक रूप से यह बिनाबा होती है कि किन कारणों से उन्हें आचार्यत्व पर की स्थापना मिली । इस स्थापना के मिलने के लोभ कारण हो सकते हैं यथा- दली-विचारक उनका आधुनिक ज्ञान, पुरातन-ज्ञान अथादि, किन्तु इन लोभ कारणों में से सर्व प्रमुख कारण उनका मौलिक स्व-विद्वान्ता ही है । परन्तु आचार्यों में सम्पन्न आदि ने उही आचार पर अपने कृत्य में स्व-विचार उपस्थित किया । इस प्रक्रिया की ठेकर अमिनबुद्ध अपने अर्थ प्रसिद्ध हुए कि स्वयम्भूत के प्रसिद्ध आचार्य परत की मुद्रा का दिया गया ।

अब, जीवन में प्रतिबिम्बित होती हुए अमिन के एक समाजीक और व्याख्याकार के व्यक्तित्व का परिष्कार करें । साथ ही, यह देखें कि अमिन ने किस प्रकार आत्मव्यवस्था के विद्वान्ता की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है और अपने एवं तत्काल का समय ठेकर किस प्रकार उन्होंने अपने सांस्कृतिक मापों और तात्त्विक प्रतीका का मंडल समन्वय साहित्य में किया है । इससे यह ज्ञात हो पावेगा कि आत्मव्यवस्था को अमिन बुद्ध का क्या योगदान है और भारतीय समाजीकता कर्म में अमिन बुद्ध का कौन सा स्थान है ।

यह निश्चित रूप से कदा सम्भव नहीं है कि जीवन में कोई एक व्याख्या पद्धति ही अपनाई गई है । अपनी कृति में कोई वैशिष्ट्य होने के विचार से अमिन ने किसी एक पद्धति का अवलम्बन करना उचित नहीं समझा । अपनी टीका को उपसर्गोक्ति की मौलिक कृति सिद्ध करने के लिए विभिन्न व्याख्या पद्धतियों को एक साथ 'जीवन' टीका में एक करने का उन्होंने प्रयत्न किया जिससे अमिन के व्याख्यान ने एक नया रूप ले लिया ।

अमिन बुद्ध ने व्याख्यान की इस पद्धति को सर्वाधिक अपनाया है, जिसमें पहले प्रवक्ता के रूप में प्रतिपक्षियों के मतों को उपस्थित करके, उनके प्रत्येक तथ्य का सम्यक् करते हुए, अन्त में अपने विद्वान्ता पक्ष की स्थापना की जाती है । सम्यक् सम्यक् करते हुए अमिन बुद्ध का सर्व की वरम अवस्था पर प्रवृत्त होती है, जब उनका उदात्त स्वभाव दुष्टतापर होता है । उपयुक्त उदाहरण का चयन करते हुए का कड़ी मुद्रा है उही वाक्यों में प्रयुक्त करते हैं, जब ऐसा प्रतीत होता है जैसे

कठं गर्भमीदृशानुसर्गिनः^१ । भीमाक्षं परं विभुं वाते हैं और ठिठो हैं - पुनं
भीमाक्षस्तु प्रसीतं प्रसिन्धिमिदिकम्भुमिदम् । अर्थात् भीमाक्ष अपने नाती को
बाप मान रहा है । अग्निस्रवणं नामक स्वभाव के कारण ही ऐसा सब देते
हैं । वे किसी पर झूठ कहा करते हैं और किसी पर बहुत अधिक वाणीस्रवण ।
आनन्दवर्धन पर उन्हें भक्त कहा है और उनके विरोधियों पर वाणीस्रवण ।

अग्निस्रवणं पुनः आख्यायन के प्रसंग में प्रायः विस्वात और प्रसिद्ध पुष्टान्तों
का भी प्रयोग करते हैं - यथा - सुष्माकान्तादिपुष्टान्तैश्च वीर्यप्रसूतौ -
पुष्टान्तैश्च । यथां सुविस्वात- कास्ताडीयन्पायेन का प्रयोग करते हैं यथा
अप्रसिद्ध काकातिन्वाय, काकाचरीयाप्रायमेव, काकरतिन्वाय, ठोन्ड-
प्रसारन्पायेन, का भी प्रयोग करते हैं । एक और उपहासास्पद उपाय देते ठोन्डों
के लिए प्रयुक्त करते हैं जो किता विलेक के दुष्टों का कथानुष्ठान करते हैं -
महद्विराजप्रसूतौपलब्धम्, महद्विराजप्रसूतितौ ठोन्डः ।

अग्निस्रवण की भाषा बहुत कुछ और सम्पन्न है । उसमें विविध रूपों का
उपायेन है । उनकी भाषा को बहुतेरी भाषा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न
होगी । उनके अधिकारि शब्द साक्षियों के ही हैं जैसे - अन्वय, व्यतिरेक, व्याप्ति,
अतिव्याप्ति, साध्यवाचन, वाति, कर्म, कर्त्री, गान्धरीयस्तथा आदि । एक
कुछ साक्षिण्य समाजोक्त होने के कारण एक ही पद के विभिन्न रूपों को पुनः
पुनः कई मौखन के लिए प्रयुक्त करते हैं । यथा - परीक्षा, परीक्षी, परीक्षित,
परिमाणः, परिमाणवाचकः, रक्षिता, रक्षमानवाचकः, रक्षमानः, व्यभि,
व्यम्पती, व्यम्पन इत्यादि ।

एक प्रकार ठोपन में अग्निस्रवण के पता, विपता में कौन तपुन होने का कर्ता
है । इसके अतिरिक्त उन्हें ठोपन के पूर्वार्थों आचार्यों के विषय में कौन तपुनों का

१- ठोन्डु १२२

४- ठोन्डु ३५३

७- ठोन्डु ८८८ १०- ठोन्डु ७२६

२- ठोन्डु ६६

५- ठोन्डु ३०२

८- ठोन्डु ३५०

३- ठोन्डु २२२

६- ठोन्डु ३५४

९- ठोन्डु २२०

ज्ञान होता है, विशेष रूप से उन भाषाओं के उनकी कृतियों का जो बाद अनुपलब्ध हैं। सोपान्यवत्त ने कृतियाँ केवल अभिनवमुक्त को ही प्राप्त कीं। अतः परत से लेकर अन्तिम सम्प्रदाय के विकास काल तक होने वाले विभिन्न भाषाओं के मतों का उत्तम एवं ठोस में मिश्रण है। अभिनवमुक्त अपने पूर्वजों भाषाओं से विरोध करते हुए भी उनके सिद्धान्तों को कभी कभी कुछ अंश में मान लेते हैं, जैसे - मनुनायक का विरोध, उनके बादविवाद। फिर भी अभिनव मनुनायक के सिद्धान्तों से प्रभावित होते हैं, उनके मतों को कुछ एवं तक स्वीकार करते अपने सिद्धान्त में मिठा लेते हैं।

यहां एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अभिनवमुक्त अन्तिम-सिद्धान्त को उही रूप में स्वीकार नहीं करते हैं कि वह रूप में आनन्दवर्मा ने उसे प्रस्तुत किया। स्पष्ट स्पष्ट पर वे आनन्दवर्मा से अलग नहीं होते। किन्तु वे उनका विरोध भी नहीं करते, बल्कि कहीं-कहीं तो पुनः से उनका परिष्कार कर अपने अनुसार आलसान कर देते हैं।

अभिनवमुक्त आलसान करते समय अपने अधिक तल्लीन हो जाते हैं कि कभी कभी एक ही अंश का अतिविस्तृत आलसान करने लगते हैं, और उस प्रश्न में आकर्षण, परीक्षा, आदि सम्पन्न अपने ज्ञान का प्रदर्शन कर देते हैं। उही प्रश्न में यदि हमारा ध्यान हो अपने पूर्वजों भाषाओं के मत को भी उपस्था करते उनका सम्मेलन करने लगते हैं। आनन्दवर्मा ने जो बात दो-तीन पंक्तियों में सरल पतावही में कही है, उसे ही अभिनवमुक्त पुनः-फिरा कर कई पान से सुझा कर समझाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सरल पतावही में कही गई बात सुझाने के बजाय और अधिक उलझ जाती है। अभिनव की उही प्रवृत्ति के कारण उनकी टीका बहुत कम गई है। और, उही कारण सुजात्यक व्यक्तन हेतु परे-परे आवश्यक रहना पड़ता है।

उन कतिपय चीजों के रहते हुए भी, अभिनव ने परकी भाषाओं को अवधि प्रभावित किया। अभिनवमुक्त के आलसान में सिद्धान्त और कलाचोचना का बहुत सम्भव हुआ है। यही कारण है कि पाठ्यिक भाषा से युक्त उनकी कर्म-प्रवृत्ति ने परकी भाषाओं को प्रभावित किया।

विषय की उपयोक्तता तथा उसका महत्व

‘विषय की प्रथिमा कैसी फ़ार एवं प्रदक्षिणी है उसकी ज़रूरत उसकी कैसी निमित्त है और वास्तविक है वास्तविक ही जाती है । वास्तविकी वास्तव वादि है सुझा करने पर वह वैयक्तिक का स्पष्ट ही जाता है । ध्वन्यात्मक की प्रथिमा का वह विषयवस्तु माध्य करते हैं तो एक और जहाँ उनकी जैसा वादीनिक तत्त्वों का प्रथम महान विरहेजण प्रस्तुत करती है जहाँ सुवरी और कैसी की निमित्तता की की सामान्य तत्त्वों को भी उत्पन्न होती है ।’

उपरोक्त निर्देशित हीनारं विषयवस्तु के पुनर्स्थापन की प्रेरणा होती है। निःसन्देह विषयवस्तु का प्रत्यक्ष वास्तविक है यही एवं कठोर प्रथिमा ध्वन्य वादीनिक वाचार्य हैं किन्तु वास्तविक के निमित्त पर उनकी हीनारं स्पष्ट ही जाती हैं । ठीक ही विषयवस्तु - दोनों ही वास्तविकतात्मक हीनारं की विषयवस्तु के अपनी वास्तविकता, माध्यताओं के परिवेश में कार्य कर जाता है । विषयवस्तु के पास अपनी एक विन्तन दृष्टि थी । उन्होंने न केवल महान के वास्तविकताओं की वास्तविक ध्वन्यात्मक को भी वह रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया । वास्तव उनका वास्तविक की की वास्तविक विन्तन का रूप है कैसा है और क्योंकि वे कठोर प्रथिमा एवं कठोर दृष्टि के परिपूर्ण वाचार्य है वाः उनकी माध्यताएं एक नवा वाचार्य प्रस्तुत करती हैं । यही कारण है कि परकी वास्तविकता-वास्तव विषय है वास्तविक प्रथिमा फ़ार है, वाचार्य महान एवं वास्तविकी के रूप । ध्वनि-विन्तन में रसादि विषय के प्रथम में परकी वाचार्यों ने फल-फल पर विषय की ही सुझाई की है । कैसी विन्तन का फल उनके फल रस के माध्य है प्रथिमा ही गया, कैसी ही ध्वनि-ध्वन्यात्मक वास्तविकी की ज़रूरत उनके हीनारं विषयवस्तु द्वारा प्रथिमा वा फल गया । कैसी, वैयक्तिक ज़रूरतों का ही गया और वास्तविकता मुझ विर पर ।

प्रस्तुत. प्रश्न का मुख्य प्रतिपाद विषय है उन्हीं स्वतन्त्र भाषों की जो व्याख्या के अन्तर्गत वे स्वयं प्रमाण बन गए हैं, उन्हीं को कहना है। और विभिन्नपक्षों में युक्त होने के वहाँ वहाँ ध्वनि-विज्ञान में अपने भाषा की निवेदिता किया है तथा ध्वन्यालोक में वहाँ वहाँ अपने भाषा की कठार्थ वारोपित किया है, उन स्थलों को हट कर पुनर् करना, उन पर विचार करना और ध्वनि-विज्ञान की विस्तृत रूप में देना - यही प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

प्रस्तुत: आचार्य विभिन्नपक्षों द्वारा ध्वनि-विज्ञान में परिवर्तन कर देने के ध्वनि का स्वरूप ही बतल गया, जो: प्रस्तुत विषय की उपयोक्तता यही है कि ध्वनि-विज्ञान का परिष्कार करके उसे पुनर्प्रतिपादित किया जाय। जिससे काव्यशास्त्र में ध्वनि का स्वरूप उही रूप में अनुभवकों के कानों उपस्थित हो सके, जिस रूप में आनन्दवर्मा ने प्रस्तुत किया था। वहाँ वह संकेतित करना वसि-कवीरि न सोना कि आनन्दवर्मा का विज्ञान हीरक रत्न मनु है, किन्तु विभिन्न युक्त ने उसे पुनर् किया था, कारण प्रस्तुत हीन प्रश्न की एक दृष्टि है की उपयोक्तता यह जाती है कि अब एक जीवन-टीका के कारण कि प्रकृता का अनुभव अनुभवकों की उताव था वह दूर हो जाय।

संगीत: प्रस्तुत अध्ययन का यही प्रभाव है कि आनन्दवर्मा के विज्ञान की विस्तृत रूप में बतलाना जाय तथा उसका पुनर्निर्माण किया जाय।

अध्ययन प्रतियों का आकलन

क : ध्वन्यालोक जीवन के संस्करण -

जहाँ प्रश्न बन्दों में काव्यशास्त्रा हीरीपु में ई० सं० १८८१ में ध्वन्यालोक के प्रथम तीन उपोद्ग, विभिन्नपक्षों के जीवन के साथ और कतुर् उपोद्ग नाम ध्वन्यालोक(जीवन के विना) प्रुष्टि हुए, जिसकी आचार्यजी तीन वाक्य लिखी थीं। यह निम्नलिखित काव्यशास्त्रा हीरीपु का संस्करण

१०. उसका प्रमाण, उसी उन्मादक महामहोपाध्याय पं० पुनर्प्रियाय, काशीवाय पर्य और बाबुल महामहोपाध्याय पं० पं० जीकर हैं। उनके अनुसार तीन वाक्यप्रुष्ट प्रतियों में प्रश्न प्रुष्टि कवीर महाराज के आश्रित ज्योतिषिद पवाराम जहाँ की पुस्तक का बहुत प्रुष्टिगत थी। द्वितीय प्रुष्टि नीरामकृष्णपाध्यायकर के पुण्यवर्णन रावजीय पुस्तकालय की पुस्तक थी, यह भी कार्मवीर प्रुष्टक का प्रुष्टिगत थी। तृतीय प्रुष्टि मैसूर के परिवर्तन स्मृत के संस्कृतभाष्याय आचार्य अनन्ताचार्य पण्डित के ही ही यहाँ प्राचीन किसी तात्पर्य की प्रुष्टिगत थी।

मूठ की दृष्टि से प्रायः सौम्य पूर्ण है । सम्प्रति कई पाण्डुलिपियां मिल चुकी हैं- यथा महामहोपाध्याय श्री श्री० काशी का कला है कि पाण्डारकर संस्थान में पांच पाण्डुलिपियां देवनागरी बहारा में और दो शारदा लिपि में प्राप्त हैं । कलकत्ता संस्कृत विश्वविद्यालय ने ध्वन्यालोक का संस्करण मनुस्मृतन मित्र लिखित अवतान नामक नई टीका के साथ प्रकाशित किया । महामहोपाध्याय श्री श्री० काशी के अनुसार इसका आध्यात्मिक संस्करण है । डा० वाकोबी ने ध्वन्यालोक का जर्मन भाषा में अनुवाद किया । उन्होंने स्थान स्थान पर कुछ पाठों की ओर भी ध्यान दिया है, जो परमेश्वर संस्करणों में साम्य हुए । ध्वन्यालोक के कथुर उद्योग से लोचन के सर्वप्रथम सम्पादन का मेव डा० एच० के० डे को है । K.Krishna-moorthy की Anandvardhan's Dhvanyaloka 1956 में प्रकाशित हुई । तदनन्तर सम्पूर्ण ध्वन्यालोक लोचन, श्री मद्रासिराम शास्त्री द्वारा 'वाङ्मय' और 'विष्णुका' टिप्पणी के साथ १९४० में प्रकाशित हुई । काशी चौदम्बा से पं० बदरीनाथ का की 'दीपति' टीका के साथ केवल ध्वन्यालोक प्रकाश में आया । ई० सन् १९४४ में ध्वन्यालोक -लोचन का प्रथम उद्योग उद्योगोदयराय की 'कौमुदी' आत्मा और महामहोपाध्याय शास्त्री के 'उपलोचन' के साथ मद्रास से प्रकाशित हुआ ।

ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्यान -सर्वप्रथम आचार्य विश्वेश्वर ने १९४२ ई० में प्रस्तुत किया । ई० सन् १९४५ ई० में पूना ओरीएण्टल विश्वविद्यालय में डा० कृष्णमूर्ति ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का ओरीजी का अनुवाद प्रस्तुत किया । तत्पश्चात् श्री विष्णुपद मद्रासिराम ने ध्वन्यालोक के प्रथम और द्वितीय उद्योग का ओरीजी व्याख्यान क्रमशः १९४६ और १९४७ ई० में प्रस्तुत किया । १९४६ ई० में वाङ्मय ने ^{प्रथम उद्योग के} लोचन पर 'रश्मि टीका' लिखी । आचार्य कल्याण पाठक ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक-लोचन का हिन्दी अनुवाद १९६५ ई० में प्रस्तुत किया । डा० रामचानर त्रिपाठी ने ध्वन्यालोक -लोचन पर 'शारदा' हिन्दी टीका प्रस्तुत की है । और साथ ही ध्वन्यालोक-लोचन का हिन्दी अनुवाद भी किया है । अनुवाद के साथ हिन्दी टीका का प्रतिपादन इस दिशा में आपका कार्य नवीन एवं सफल हुआ है ।

इसके अतिरिक्त श्री J.L. Hassen तथा M.V. Patwardhan द्वारा The Dhvanyaloka And the Dhvanyalokalechan का ओरीजी अनुवाद Harvard Oriental Series-(3 vols) की पाण्डुलिपि के अनुसार) पाण्डारकर

बोरिएण्टल रिजर्विस्टीट्यूट, फ्रांस से प्रकाशित हो रहा है। डा० बण्डिका प्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पूर्ण ध्वन्यालोक की संस्कृत टीका - 'दीपजिता' तथा हिन्दी टीका - 'परिशीलन' का प्रकाश विश्वविद्यालय-प्रकाशन वाराणसी से हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक का आचार्य संस्करण बौद्धिक का 'बाउप्रिया' बाउ संस्करण है।

स : उपलब्ध आलोचनात्मक ग्रन्थों का आकलन :

आचार्य अभिनवगुप्त ने दर्शन एवं काव्य कला सम्बन्धी विविध तथ्यों का व्यवस्थित एवं संगोपान अध्ययन का प्रथम प्रयास डा० कान्तिबन्धु पाण्डेय का है। उन्होंने अभिनवगुप्त का विशेष अध्ययन *Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study* में और *Indian Aesthetics* में प्रस्तुत किया। उनके इस अध्ययन से भारतीय सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन को एक नया आयाम प्रदान किया। यद्यपि 'लोचन' और 'अभिनवभारती' सुसंपादित रूप में कुछ पहले से ही उपलब्ध थे, किन्तु भाषा और शब्दावली की दुरुहता के कारण, दार्शनिक भावों की अटिक्ता के कारण उसे सही ढंग में ग्रहण करना कठिन था। डा० पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को स्पष्ट कर उनके संदर्भ में काव्य कला सम्बन्धी मान्यताओं की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिससे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का महान दार्शनिक और साहित्यिक मर्म उद्घाटित हुआ।

जिस समय 'अभिनवगुप्त' एक और डा० कान्तिबन्धु पाण्डेय कार्य कर रहे थे, उसमें उसी समय इटली में *A. Ghali* ने भी *The Aesthetic experience According to Abhinavagupta* नाम से अभिनवगुप्त, के आध्यात्मिक अनुभूति सम्बन्धी विचारों का कौड़ी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्यापरक तुलनात्मक टिप्पणियों के साथ रोमन अक्षरों में मूल पाठ को प्रस्तुत किया। *A. Ghali* ने बड़े ही व्यवस्थित एवं तर्क पूर्ण रीति से अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्त के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन *J.L. Masson* और *H.V. Patwardhan* ने अपनी पुस्तक - *Santarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics* और *Aesthetic rapture Vol. I. I.*

में किया है। अभिनवभारती और उद्यम से शान्त एवं सम्बन्धित अंश की भी अपने ग्रन्थ 'Santarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics' में उन्होंने उद्धृत किया है।

उपरोक्त दोनों सम्बन्धित सभी ग्रन्थों से अभिनवगुप्त के द्वैत-दर्शन को पूर्ण तथा व्यक्त करने में बहुत सहायता मिली।

डा० नोम्डू ने - एक सिद्धान्त (१९६४) में एक विषयक विभिन्न तथ्यों पर विचार किया है। साथ ही उन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में दोष भी दिखाए हैं। एक विद्या में डा० नोम्डू का यह प्रथम प्रयास है। पट्टोत्पट्ट, श्रीलंक एवं मद्रास के पत्रों में उन्होंने अनेक तर्क उपस्थित किए हैं। डा० नोम्डू ने आलोचना मात्र की है उन विशेष स्थलों का निर्देश नहीं किया है, जहां आनन्दवर्धन से अभिनवगुप्त के संबंध रहते हैं।

महेश गुरुवर्य डा० बण्डिकाप्रसाद शुनड का लेख 'What Anandavardhan Meant by Dhvani' जो The Journal of the Ganganath Jha Research Institute के Nov. 1965-Feb. 1966 के Vol XXII में प्रकाशित हुआ था, पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बहुत सहायक हुआ। उन्होंने उन प्रमुख स्थलों पर निर्देश किया है, जहां आनन्दवर्धन से अभिनवगुप्त का संबंध हो जाता है।

डा० मुकुन्द माधव शर्मा ने अपनी पुस्तक The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics 1968 में स्थान स्थान पर अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों का उल्लेख किया है। प्रस्तुत पुस्तक हमारे शोध कार्य में विशेष उपयोगी रही है। मैं इसके लिए उस ग्रन्थ तथा उसके विद्वान मनीषी लेखक के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन' में अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों की ओर उल्लेख किया है। डा० द्विवेदी का मुख्य उद्देश्य तो आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करना था। अतः ध्वन्यालोक के सिद्धान्त को उन्होंने समीक्षा रूप में, उद्यम से सर्वथा बहूता रहने का पूर्ण प्रयत्न किया है। उन्हें जहां उद्यम में स्वतंत्र मत मिले उसके उन्होंने फुटनोट में एक दिया है। डा० द्विवेदी ने प्रारम्भ में ही एक अपील की है।

अनुरोध :

ध्वन्यालोक के अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का अध्ययन स्वतंत्र रूप से करें। इसके लिए वे स्वभावतः जीवन पर निर्भीक न रहें।

डा० दिवेंदी का यह अनुरोध हमें शोध कार्य में निरन्तर चेतावनी देता रहा है। यही निर्देश पुनः गुरुवर्य डा० बालिकाप्रसाद शुक्ल जी ने भी हमें शोध कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व दिया था।

किन्तु, डा० रेवाप्रसाद दिवेंदी जी जिन्होंने स्वयं अध्येताओं को 'जीवन' के प्रति स्तर्क किया है वह एक स्थल पर स्वयं स्तब्ध हो गए, जिससे हैं ध्वनि के तीन भेद हैं- वस्तु, उच्चारण एवं रस^१ इत्यादि। वस्तुतः यह भेद ध्वनि का नहीं बल्कि प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ का है। इस तथ्य का विवेचन हम प्रबन्ध मान में यथास्थान करेंगे।

इन कृतियों के अतिरिक्त Dr. R. C. Divedi की पुस्तक Principles of Literary Criticism in Sanskrit. 1969 K. K. Krishnamoorthy

की Essays in Sanskrit criticism और Divyapala and its critics डा० निर्मला केन का रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, गुरुवर्य डा० पुरेष्ठचन्द्र पाण्डेय का ध्वनि सम्प्रदाय विरोधी सिद्धान्त और उनकी मान्यतायें इत्यादि ग्रन्थ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में बहुत सहायक हुए हैं।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक में स्थल-स्थल पर अपने स्वतंत्र मतों को गुप्त ढंग से निवेदित किया है - इस तथ्य की ओर कतिपय विद्वानों ने सख्त मात्रार दिया है। किन्तु अभी तक किसी ने उसका विश्लेषण करके यह नहीं सिद्ध किया है कि किस प्रकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मत को गौण करके अपने मत को प्रधान बना दिया है, वे कौन से कतिपय तथ्य हैं जो ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त द्वारा बलात् आरोपित होकर स्वयं प्रधान बन गए हैं। इस सम्बन्ध में हमें तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

संक्षेप में, प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य-जीवन का मूल्यांकन है, इसमें अभिनव गुप्त की व्याख्या पद्धति का तथा ध्वनिकार के सिद्धान्तों के साथ अभिनवगुप्त

के कैमल्य का समाधोचनात्मक अध्ययन है । पूर्व दूरियों द्वारा दिशाएँ गए मार्ग पर चढ़ कर मुझे वस्तुतः अधिक प्रयास न करना पड़ा । महाकवि काठियास के शब्दों में -

मणीवतु समुत्कीर्णो सुनस्वेवास्ति मे गतिः .

(रघुवंश) ।

-----:०:-----

द्वितीय अध्याय

विद्वान्ध - वत्

अध्यात्मिक में विषय-बोझ :-

अग्नि-विद्वान्त के कुछ प्रकीर्ण आनन्दकी संकृत काव्य शास्त्र के एक प्राप्तिकारी, उत्कर्षी आधार है । सम्प्राप्त्युक्त, प्राप्तिकारी के प्रति स्वभावः यह ठीक उदासीन ही नहीं, अपितु वैचर होता है । अग्निकार को भी ऐसी स्थिति का सामना अवश्य करना पड़ा होगा । यह तथ्य की पुष्टि उन्हीं की उक्तियों तथा उनके कलात्मक मनोत्व नामक कवि के एक श्लोक से होती है ।

अग्नि विद्वान्ध उक्तियों के मध्य केवल चर्चा का विषय बना हुआ था । उसके स्वभाव का विद्वान्त रूप में, किसी मूल्य में प्रतिपादन नहीं हो पाया था । वाच ही उसके विर विद्वान्तों के ज्ञाप में अग्नि के प्रति नतिवैचर्य की स्थापना थी । इसी कारण अग्निकार ने उक्तियों के नःप्रीति के लिए अग्नि के स्वभाव का मूल्य रूप में प्रतिपादन का निरूपण किया ।

१- न च तेष्टु कर्षादिपरीक्षा कृत्विष्योक्तमुक्तीकल्पनाविष्करणियम् । अ० १३६

२- यस्मिन्वास्ति न वस्तु किंन नः प्रकृतादि वाचंयुति ।

अनुपमन्त्री रक्ति न केव कर्षादिप्रीतिमूल्यं न यम् ॥

काव्यं तदुपमिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रकृत्यो,

नो किमोदभिमताति किं पुनतिना पृष्टः स्वयं जनेः ॥ अ० २५-२७

३- काव्यस्वात्मना अविरिति युषीः ज्ञानात्तत्पूर्व-

स्वस्वानाथं कापुरपरी वाचवाहुस्वयम् ।

केकिवाचां किमविविचये तत्पुनस्तदीयं

तेन पुनः कृत्स्नः प्रीतिमै तत्स्वयम् ॥ अ० २१९

१- ध्वनि के विरोधी भाषा का प्रस्ताव और उनका स्थापना :-

आनन्दवर्मा ने ध्वनिकल्प प्रतियोग्य के प्रश्न में ध्वनि के रूप में ध्वनि विरोधियों के निष्पत्ति कर्मों में कल्पित किया -

क - स्थापनावादी

ख - नाशवादी

ग - अनिश्चिनीयतावादी

क- स्थापनावादी -

पूर्ववर्ती अर्थकार, रीति, गुण आदि के उनके सभी वाचार्थ उस कर्म में कल्पित किए गए । ये ध्वनि के वाचार्थ विरोधी कर्म नए हैं । यद्यपि उन्होंने कहीं उल्लेख: ध्वनि का विरोध नहीं किया है । किन्तु, ध्वनि का उल्लेख ही न करना - उन्हीं ध्वनि का स्थापनावादी मानने में पर्याप्त है । यदि ध्वनि की स्थापना उनके विचार से होती तो किसी न किसी प्रश्न में उनका वे उल्लेख अवश्य करते । क्योंकि उन्होंने ध्वनि का उल्लेख नहीं किया अतः आनन्दवर्मा ने उनकी गणना स्थापनावादी के अन्तर्गत की है । और उन स्थापनावादियों के विचारों को तीन रूप में प्रस्तुत किया, जो परस्पर एक दूसरे से प्रुप्त: सम्बन्ध विचार नए हैं ।

पहले स्थापनावादी ने जो यह मानती हैं कि - वाच्य का उद्गार उच्च और ध्वनि है । उच्च को समस्त करने वाले अनुप्रासादि उच्चारणकार होते हैं तथा ध्वनि को समस्त करने वाले उच्चारण अक्षरकार होते हैं । यणों के विशिष्ट विन्यास से होने वाले समस्तकार को माधुर्य आदि गुणों से पुकारा जाता है । उच्च प्रकार गुण और अर्थकार में ही सारी वाच्यता का अन्तर्भाव ही जाता है । रीतियाँ और वृत्तियाँ भी गुणाक्षरकार में अन्तर्भूत ही जाती हैं । क्योंकि , उद्गार के द्वारा स्थायी गत उच्चारणिका आदि वृत्तियाँ अनुप्रास की वाचिक्य होने के कारण अनुप्रास अर्थकार से अभिन्न हैं तथा वाच्य के द्वारा स्थायी गत रीतियाँ गुण-विशिष्ट स्थापना रूप होने के कारण गुणों से वतिरिक्त नहीं हैं । अतः इनसे वतिरिक्त ध्वनि नाम का कोई नया स्थायी अर्थ सम्भव नहीं ।

१- उच्च के विन्यासकारान्- उच्चारणरीत्यान्तात्कथम् । उच्च य उच्चमन्तारवाच्य-
केवलीऽनुप्रासात्मनः प्रकृतिः एव । अक्षरान्तराधीयमात्मनः । संयन्तात्मनश्च ये -
माधुर्यादिमस्तैऽपि प्रतीयन्ते । समन्तरितप्रत्ययौ कृत्यौऽपि वाः केचित्तुपदान-
रिजया प्रकृतिः वा अपि वाः अणमौवत् । (हेम चन्द्र केवले प्रुप्त पर)

दुसरे अभाववादी कहते हैं - काव्य के सम्बन्धित अर्थ नामक कोई तत्त्व नहीं है । क्योंकि अधिकतम जिस भाव के परम्परत के व्यवहार करते पढ़े जा रहे हैं , वही काव्य का प्रसिद्ध प्रस्थान है । उसी व्यतिरेक प्रस्थान मानने पर काव्यत्व की प्राप्ति होती । अनुसर्गों की आत्माविष्ट करने वाला उच्चारण स्वयं ही काव्य का उत्पन्न है । । उसी व्यतिरेक अर्थ प्रस्थान सम्भव है । किन्तु कुछ अनुसर्गों के द्वारा अर्थ को काव्य माना की बात तो वह सभी विद्वानों को मनोमानी नहीं होगी ।

अपदि संक्षेप में कहा जा सकता है कि उनके अनुसार अर्थ सम्बन्धी तत्त्व नहीं है ।

तीसरे अभाववादियों का कथन है कि अर्थ नाम की कोई वस्तु सम्भव नहीं है । क्योंकि , यदि अर्थ कोई अस्वीय काव्य तत्त्व है तो निश्चय ही उसका पुनरावृत्ति में है-ही-जिन्ही-का-नाम-कद-कर-अर्थ-वन्तमधि ही आस्ता । और, यदि उन पुनरावृत्ति में है ही जिन्ही का नाम कद कर अर्थ नाम है दिया जाए, तो वह कोई विशेष बात नहीं ।

और, फिर वास्तविकता के तो जन्म प्रकार सम्भव हैं, काः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के विषय में हम कुछ नहीं कह दिया । यदि उनकी सूक्ष्म बुद्धि से कुछ कुछ भी गया हो तो उसे भी अर्थ नाम के पुनरावृत्ति का अन्त है । किन्तु, उसे काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता । अन्य आचार्यों ने स्वरों अक्षरों के नेत्र स्तर हैं और कहाते हैं, किन्तु उनकी ऐसी अद्वैतता की स्थिति नहीं पुनर्ग कहती । काः अर्थ प्रवाद मात्र है । काः अन्त कोई विचारयोग्य तत्त्व

पिच्छे पुच्छ का हेतु अर्थ- रीतकथन वैयर्थ्यप्रमाणः । तद्व्यतिरेकः कोऽयं
अर्थनिमित्तः । (अ०पु० १६-२०) ।

१- अन्ये पुनः - वास्तव्य अर्थः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य-
काव्यत्वज्ञानेः अनुसर्गप्रवाहविष्टव्यापकस्यैव काव्यउत्पत्तयम् । न चोक्तं प्रस्था-
नातिरेकिणो मानस्य तत्त्वमिति । न च तत्त्वमयान्तःपातिनः अनुसर्गान् कारिण-
त्वविरहितस्य तदुत्पत्तयः अर्थो काव्यत्वमर्थः प्रवर्तितोऽपि एकविधव्यवसायवि-
ज्ञानवत्तमः । अ०पु० २३ ।

प्रकाशित नहीं किया या कहा ।^१

इस कथाकाव्यियों को हम निम्नलिखित क्रमों में प्रस्तुत कर लगे हैं -

१- ध्वनि का प्राचीन काव्यशास्त्र में कथाप,

२- ध्वनि में वक्ताकार या काव्यपूर्णता का कथाप, तथा

३- ध्वनि में काव्यात्मता का कथाप ।

३- मातृवाच -

मक्ति या उदात्ता में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले मातृवाची हैं । कवि वाचस्पत्यकी से पूर्व किसी भी साहित्यिक ने ध्वनि शब्द का नाम लेकर उसे उदात्तात्म्य नहीं कहा तथापि उन्होंने शब्द के अतिरिक्त के अतिरिक्त कविन्द की उदा स्वीकार की है । ऐसे किसी वाचार्थ का नाम वाचस्पत्यकी ने नहीं दिया है, किन्तु कविसमुच्च ने नामक, मट्टीकट, वामन का नाम का नाम दिया है । नामक विवरणकार उद्भट मुख्य कविमाध्याचार के अतिरिक्त गुणवृद्धि को स्वीकार करते हैं । वाचार्थ वामन कटोक्ति अठंकार में वाचुरय - निमित्त उदात्ता की उदा मानते हैं । किन्तु इस उदात्ता के अन्तर प्रतीत होने वाले प्रतीक रूप कर्ष की प्रतीति के लिए उन्होंने ध्वनि व्यवहार नहीं किया। सबसे ऐसा उदात्ता है कि मानी के अतिरिक्त कर्ष के अतिरिक्त सभी कर्षों को अत्युत्तम कर्ष मानते हैं और उदात्ता में ही सभी का अन्तर्भाव कर लेते हैं । उदात्त

१- कुमारपरं तस्यामावकन्धवा कर्षीकः - न सम्प्रत्येव ध्वनिमिमापुर्नः करिष्य ।
कामनीयकन्धवतिर्कामानस्य तस्याकिं ज्ञेयं वाचस्पत्यैव ध्वनिमिमापुर्नः । तेषामन्धव-
मत्येव वा कर्षीकमावकानां कर्षीकं यत्किञ्चन कर्षं स्वातु ।

किं वाच्यकत्वात्मानानन्तयात्कन्धवमि वा कर्षीकमिमावकानां क-
विमिमापुर्नः प्रतीकैरुदात्तैः कुमारैरेव ध्वनिमिमापुर्नः करिष्यतीत्युक्तव-
मावकानुदात्तकौनैरुदात्तैः तत् किं न किम् । अतः उदात्तैः हि महात्मनिरन्ध-
रुदात्तकुमारैः कुमारैः कुमारैः च । न च तेषामेवमावकानां कर्षी ।
तस्यात्कुमारमार्थं ध्वनिः । न त्वस्य साधनमं कर्षं किञ्चिदपि कुमारैः-
कन्धुः । अथ पुं २४-२६ ।

२- उदात्तामावकानामिमावकारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति मट्टीकटः-उ० ७५०२

ज्ञानन्दवर्मी कहते हैं- उपाणावाधियों ने अविचार (अनुयायी) की बात स्वीकार कर ध्वनिविज्ञा का उन्मीलन तो किया किन्तु ^{ध्वनि} उपाणा को उचित नहीं किया । ध्वनिकार की यह सम्पादना सर्वथा स्वाभाविक है कि मातृवादी वाक्य सर्व में ही ध्वनि ^{का} अन्तर्भाव कर लेते हैं ।

ग - अनिर्वचनीयतावादी -

इसके समर्थकों का मत है कि ध्वनि एक अनिर्वचनीय तत्त्व है । क्योंकि ध्वनि का अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु निर्वचन नहीं किया जा सकता । उन लोगों ने ध्वनि को स्वीकार तो किया किन्तु, उसका उपाणा नामा- उपाण सर्व का एकमात्र वातिविशेष के अभाव निश्चित ज्ञाता द्वारा ज्ञेय किन्तु अनात्मैव वास्तव ।

ज्ञानन्दवर्मी के शब्दों में ये उपाणाक या तो सुकुमार हैं और उपाणा - निर्माण का जो कठोर मन है उसे करने में असमर्थ हैं या फिर उन्हें नष्ट एवं सूक्ष्म वस्तु का विवेक्षण करना नहीं जाता ।

१- मातृमातृस्त्वमर्थः । अर्थे तं ध्वनिर्वाञ्छितं काव्यात्मनः पुणवृत्तिरित्याहुः । यद्यपि न ध्वनिव्यकीर्तनं काव्यरचनाविधायिभिर्पुणवृत्तिरन्वो वा न करिष्यत्पुनरः पुनरुक्तिः, तथापि अनुक्तकृत्वा काव्येषु व्यवहारं यत्किञ्चाप्यनिर्माणं नावस्थुष्टीऽपि न उचित इति परिकल्प्यैकमुक्तम् - मातृमातृ-स्त्वमर्थे इति । ध्व० पु० २८-३२ ।

२- केचित्पुनरुक्तिरुपाणावादीयमुक्तवो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामनोपरं अनुभवानुभवस्यैव उपात्तावन्तः । ध्व० पु० ३३ ।

३- यत्र उपाणानामवधिं न वृत्तिवृत्तिरुपाणावधौ वात्सल्यमिव रसविशेषाणां वास्तव्यतास्यैवमाभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहारः इति उपाणं ध्वनेरुक्त्यो केचित् । ध्व० पु० ४१७-४२८ ।

४- उपाणाकर्णहातीकृतयः - ध्व० पु० ३३ ।

५- अनात्मैवविशेषसम्पादना तु विवेकावसादमूर्तम् । ध्व० पु० ४२८ ।

ध्वनि विरोधी शक्तों का समाधान -

पुनर्लिखित वाक्यों का समाधान आनन्दवर्मा ने निम्न प्रकार से

किया है -

आत्मवादी -

आत्मवादी वाक्यवाक्याव में ही काव्य का सारा समकार लीला पावते हैं, किन्तु ध्वनिवादी की निष्ठा इसके भिन्न है। वह ही ध्वनि काव्य में वाक्यार्थ का लीला उपलब्धि मानता है। अर्थात् यहाँ वाक्यार्थ अपने ही तथा वाक्य उच्च अपने ही की अप्रत्याशितता के प्रतीयमान की ही व्यंजित करती है वही ध्वनि है। इसी उपमादि वर्णमाला का ध्वनि से स्पष्ट व्यापक ही वाच्य है, क्योंकि उपमादि वर्णमाला वाक्यार्थ के तथा अनुप्रासादि उच्चारण वाक्य उच्च के ही वास्तव्य हेतु होती हैं। इनसे ध्वनि का विषय भिन्न है।

पुनर्लिखित वाक्यों का मत था - 'पुनर्लिखितवाक्यातिशयिणी मानीत्य काव्यकान्धर्व्यादिनास्ति इति' (ध्व० २०६)। आनन्दवर्मा इसका उत्तर देते हुए कहते हैं - यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि काव्य उपायकारों के लिए ही केवल पुनर्लिखित रूप प्रत्यय ही प्रसिद्ध नहीं है वरन् इसके अतिरिक्त ध्वनि प्रत्यय भी है। वही ध्वनि उच्च अनुप्रासों की वास्तव्य करने वाला, काव्यवत्त्व है। इससे अतिरिक्त निष्काव्य है।

द्वितीय आत्मवाक्यावियों का मत था - 'कामनीयकमनसिर्वाप्तमानस्य तत्त्वोक्त-
उत्तरादिपुनर्लिखितमपि इति' (ध्व० २०७)

आनन्दवर्मा इसका भी उत्तर करते हुए कहते हैं कि यह भी अस्वीकार्य है। क्योंकि वाक्यवाक्याव पर वाच्य पुनर्लिखितों में व्यंग्यव्यंग्यमात्र पर वाच्य ध्वनि का ही अन्तर्भाव ही लक्ष्य है। क्योंकि वाक्यवाक्य के वास्तव्य हेतु वर्णमाला

१- ध्व० २०६

२- ध्व० २०६-२०७

बादि उस ध्वनि के संयुक्त हैं और ध्वनि जैसी रूप हैं ।^१

आनन्दवर्दी ने अ० १।३ में ऐसे वर्णों का प्रयोग किया है जो तीनों प्रकार के अनावाद्य के उत्तर रूप हैं ऐसा कि उन्होंने स्वयं वृत्ति में कहा है -

तत्र ध्वनैरुक्तमपि न विच्छेदोत्थापि निराकृतमिति - उपरकीकृत-
स्वाधी उच्यते ।

इस पर पूर्ववर्ती यह सब समझा है कि जिस अङ्कारों में प्रतीयमान ध्वनि की स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती उन अङ्कारों में यदि ही ध्वनि का अन्तमपि न हो किन्तु अनाद्योक्ति, आसौष, पयसोक्त, अन्धधुति बादि जिस अङ्कारों में प्रतीयमान का अन्तकार स्पष्ट रूप से अनुभूत रहता है उनमें ही ध्वनि का अवश्य ही अन्तमपि माना जा सकता है ।

उपयुक्त पूर्ववर्त के उत्तर में आनन्दवर्दी कहते हैं - हमें वाच्यार्थ अपने को नीज नहीं करता इसलिए उन्हें ध्वनि नहीं कहें । व्यंग्यार्थ के प्रमाण होने पर ही ध्वनि होती है । अनाद्योक्ति बादि अङ्कारों में व्यंग्य की स्पष्ट प्रतीति होती अवश्य है किन्तु उन स्थलों में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को ही उपलब्ध करने सकता है । वाच्यार्थ का उपलब्ध होने के कारण उसी अङ्कारों में गणना होती है । अतः वाच्यार्थ को नीज करके व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के अभाव के ही कारण अनाद्योक्ति बादि अङ्कारों में ध्वनि का अन्तमपि नहीं हो सकता । यदि व्यंग्यार्थ प्रमाण हो और वाच्यार्थ नीज तो अनाद्योक्ति बादि अङ्कारों में ध्वनि का नहीं, वरन् ध्वनि में ही अनाद्योक्ति बादि अङ्कारों का अन्तमपि हो जायेगा । अतः सब ये ध्वनि के प्रकार ही जायेंगे । इस प्रकार अनावाद्यवर्णों के मत का समाधान किया ।

मातृवाद्य का समाधान-

यदि में ही ध्वनि का अन्तमपि मानने वाले मातृ-
वाधियों का समाधान करते हुए आनन्दवर्दी कहते हैं -

१- अ० पृ० १००

२- अ० पृ० १०५

३- अ० पृ० १०५

ध्वनि- यक्ति के साथ सम्बन्ध प्राप्त नहीं कर सकती । क्योंकि वहाँ वाक्यवाचक का प्रतिपादन व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के लिए ही नहीं ध्वनि होती है । और, यक्ति तो उपहार मात्र है ।

यदि यक्ति ध्वनि का उपाण ही तो अतिव्याप्ति और व्याप्ति बीच का वाला है ।

अतिव्याप्ति बीच -

ध्वनि है किन्तु स्वयं में ही यक्ति सम्भव है वह अतिव्याप्ति है । वहाँ व्यंग्यकृत महावीर्य नहीं होता वहाँ भी कविका प्रसिद्धिगत उपरिष्ठ उच्च व्यापार द्वारा व्यवहार करती है यथा -

‘परिच्छन्नं योयस्तन’ इत्यादि में ‘पूराभ्याः कृतार्थं कति विह्वली-
पमकम्’ में प्रयुक्त ‘कति’ पर उपरिष्ठ है । वह ‘प्रकटयति’ के अर्थ में प्रयुक्त है । उस प्रकार का प्रयोग कभी ध्वनि का विषय नहीं होता । क्योंकि यो वाक्य वृद्धी उक्ति है प्रकाशित नहीं किया जा सकता है उसे प्रकाशित करने वाछा एवं व्यंग्यता को पारण करने वाछा ही उच्च ध्वनि का विषय होता है ।

उपर उदाकृत विषय में ‘कति’ पर उपरिष्ठ वृत्ति है अतिरिक्त उक्ति से सम्भव होने के कारण वाक्य की व्यंग्यता का लेव नहीं है । क्योंकि उसके स्वयं पर ‘प्रकटयति’ उस बिना बार तो कोई वाक्य नहीं वाचना । कभी कभी उच्च अपने विषय है कल्प विषय में भी उच्च रुढ़ हो जाती हैं, जैसे तावज्यादि प्रयुक्त उच्च , वे ध्वनि के विषय नहीं होते । यदि उस प्रकार के विषय में कभी ध्वनि का व्यवहार सम्भव होता भी है तो वह उस उच्च के द्वारा नहीं होता वरन् प्रकारान्तर से होता है ।

उपहारवृत्ति व्यंग्यत्व का उपाण बताती है - ‘किं कठ को उदरय करै मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति है अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वहाँ (उस कठ के बोझ में) उच्च स्वजनति क्वचित् वाच्यार्थ नहीं होता है ।’

क्योंकि वाक्यवाचित्व है विहित अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोग के होने पर यदि उच्च की अनुपस्था रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता होगी । परन्तु ऐसा नहीं है । उही कारण उस प्रकार कहा गया -

‘वाचस्पत्यं के बाजार पर गुणवृत्ति व्यवस्था है, अर्थात् जिसका रज्जुमान मुक्त है, उस ‘ध्वनि’ का वह उत्पन्न कहे हो सकती है ? इस कारण ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है ।’

व्याख्या -

उपने उक्त में संज्ञा न होना व्याख्या है । विनिर्दिष्टान्वय-वाच्य रूप ध्वनि के और वाच्य वस्तु के प्रकार भक्ति है व्याख्या नहीं है, अतः भक्ति ध्वनि का उत्पन्न नहीं है । ‘भक्ति’ ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है किन्तु भक्ति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करना उचित अवश्य है ।

आनन्दवर्मी ने भक्ति के लिए गुणवृत्ति का प्रयोग किया है और भक्ति को ‘उपकार’ भी कहा है । अतः आनन्दवर्मी के मत में भक्ति, गुणवृत्ति, उपकारवृत्ति, उत्पन्नावृत्ति सभी पर्यायवाची शब्द हैं । तृतीय उपोक्त में भी आनन्दवर्मी ने व्यंज्य और बोधक में स्वयम्भूतः और विषयः मैत्रीपादान किया है । स्वयम्भूतः ध्वनिविरोधी मातृवाक्यों के लिए यह सर्व उपस्थित किए गए हैं । वस्तुतः मातृवाक्यों (उत्पन्नावक्यों) को हम तक परास्त नहीं किया जा सकता जब तक उत्पन्नावृत्ति तथा व्यंजनावृत्ति की परस्पर भिन्नभ्यता तथा भिन्नविषयता का सूक्ष्म विवेचन न हो जाय । उन्ही प्रश्नों को ध्वनिकार ध्वन्यालोक के तृतीय उपोक्त में उठाते हैं और विज्ञान्त सूक्ष्म और तर्कमय समाधान प्रस्तुत करते हैं । उसका विवेचन हम अन्वयाचार के प्रश्नों में करेंगे ।

अनिर्णीयतावाद का समाधान -

ध्वनि के स्वरूप को अनिर्णीय कहाने वालों का यदि यह अभिप्राय है कि ध्वनि का वाणी द्वारा विवेचन नहीं हो सकता तो उसका ध्वनि विज्ञान्त का उत्तरा विस्तृत विवेचन हो जाने से ही स्वतः उच्छेद हो जाता है । और यदि अनिर्णीयता है उनका अभिप्राय ध्वनि की उत्कृष्टता कि कहना है तो उनका कल उचित प्रतीत होता है ।

वानन्दवर्षी ने इससे कौतुहल को दो वर्णों में बांटा है -

(१) अनुभव, (२) वादीय ।

संक्षेपित यदि कोई कदापीत्यादि कहे कि - कि प्रकाश रूप की उत्पत्ति वादीयता के विवेचन द्वारा ही होती है और इसका प्रमाण द्वारा वर्णन अस्मय है उसी प्रकार काव्य में शब्द विवेचन तथा वर्ण विवेचन का वाक्य के अंगुलमनसोप होने के कारण अनिवार्य है । ऐसे ही काव्य को ध्वनि कहा जाता है ।

वानन्दवर्षी उपर्युक्त वर्णों का उल्लेख करते हुए कहते हैं - 'ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि ध्वनि काव्य के शब्द स्वयम्भूतः अविलम्ब एवं अनुकूल होते हैं, अपरि वे वाच्य या शब्द की अनुप्राप्ति के विपरीत नहीं पड़ते और वाच्य एवं अनुकूल रूप से वाची रहते हैं । इन शब्दों में दो वाच्य अस्मयता रहती है वह भी स्वयम्भूत और प्रासादिक रहती है, जिसमें प्रतीयमान वर्ण का भी प्रविष्टान करने की साम्प्रदायिकता रहती है ।

और, ध्वनि काव्य के वर्णों की विशेषता हुआ करती है - 'उनका स्वयम्भूत रूप से प्रतीय होना, प्रसूत प्रतीयमान वर्ण की प्रतीय कराने में अनुमान बनकर उत्पन्न रहना तथा स्वयम्भूत के पीछे अस्मयत्तव्य वर्णों को ध्वनि रहना' ।

अतः वानन्दवर्षी के अनुसार ध्वनिकाव्य के अटक शब्द और वर्णों में ऐसा कोई भी अन्त नहीं रहता जिसका निर्माण अनुकूलों द्वारा भी न किया जा सके ।

वादीयों के अस्मयतावाद को वानन्दवर्षी ने निम्नलिखित तीन रूपों में प्रस्तुत किया है -

१- ५० डा० देवप्रसाद द्विवेदी - वानन्दवर्षी पृ० २२७ ।

२- ५० पृ० पृ० ११७-११८ ।

३- उक्तार्थः प्रमाणायः (विवेचनः) अविलम्बत्वे अकप्रसूतप्रयोगः

वाचकात्मकसु प्रकाशो अस्मयत्वं वेतिविवेचनः । पृ० पृ० ११८ ।

४- अपरिं च अनुकूलैवावगातं अस्मयत्वं अस्मयत्विशिष्टत्वं वेति विवेचनः ।

पृ० पृ० ११८ ।

(क) सर्वव्यापनीयतावाद

(ख) सामान्यसंस्पर्शविकल्पव्यापनीयतावाद तथा

(ग) अनिवार्यतावाद ।

(ॐ) सर्वशब्दगोचरतावादः

ये हमने अधिक मान्य हैं कि ध्वनि की स्वीकार तो करती हैं किन्तु उसका हममें द्वारा निमित्त करना असम्भव मानती हैं । वास्तविकता उनके विषय में करती हैं - ऐसी अनिवार्यता तो प्रत्येक पदार्थ में रहती है , केवल ध्वनि में नहीं । चाहे कुछ भी तब किया जाय फिर भी अनिवार्यता पदार्थ की भी कम है कम अनिवार्यता है तो कहा ही जा सकता है ।

(ख) सामान्यसंस्पर्शविकल्पव्यापनीयतावाद :

हमारे अनुसार जैय वस्तु का भी बीच होता है उसमें वस्तु के सामान्य रूप का आभाव होता है , विशिष्ट रूप का नहीं - वह निमित्त के अनुसार ध्वनि काव्य का सामान्य रूप नहीं, उसका विशिष्ट रूप है । अतः हममें द्वारा उसका निमित्त असम्भव है । किन्तु प्रकार उक्त रूप के सामान्य रूप का ज्ञान करा जाता है उसकी विशेषता (व्यापिनी का नहीं) ।

वास्तविकता करती हैं- उपर्युक्त तर्क सत्य है क्योंकि काव्य और रूप दोनों के ही स्वरूप की व्याख्या उदाहरणकारों ने की है । यह सत्य है कि ध्वनि सत्य सर्वव्यापनीय नहीं होता ठीक जैसे ही जैसे रूपों का वास्तव्य (व्यापिनी) । अतः ध्वनिस्वरूप को जैसे ही काव्यवाचक न समझ पाए किन्तु जो समझ होती है वे उसे समझ ही भ्रमण कर लेते हैं । इस प्रकार ध्वनि में यदि कोई अभाव छिद्र होता है , तो वह केवल सर्वव्यापनीयता का अभाव है, अतः हममें यदि अनिवार्यता का अभाव स्वीकार करना हो तो केवल साधारण कारों द्वारा असम्भव निमित्तनीयता

१- पु० ध्व० पु० ११६ ।

२- आत्मवेक्षणं सर्वव्यापनीयं न कदापि सम्भवति । अन्ततो वास्तव्यस्यैव -
उत्पत्तिरित्युच्यते । ध्व० पु० ११६-११६ ।

का ही अनुवाद स्वीकार कर सकते हैं। हमने वे ध्वनि में निर्विकलीयता का वास्तविक अनुवाद सिद्ध नहीं होता। अतिविशेष्यं अनुपम उक्तं निर्विकर कर ही लेते हैं।^१

(घ) अनिर्विकलवादा -^२

इस तीन बौद्धों के साधनवादी वे अनुवाद स्वीकार ध्वनि को भी यह कह जायि स्वीकार्यो के समान अनिर्विकल मानते हैं। वे तीन प्रत्येक वस्तु की वस्तु को अनुवाद रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पदार्थ निरूप परिक्लमितीक है अतः उनका उदाहरण नहीं किया जा सकता। उही प्रकार ध्वनि भी है। किन्तु साधनवादी बौद्धों ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों के उदाहरण बनाये हैं। यदि उनकी उपयोक्तृता है तो ध्वनि उदाहरण की उपयोक्तृता में कोई संदेह नहीं। बौद्धों के इस सिद्धान्त का परीक्षण ध्वनिकार ने विविध नामक बौद्ध ग्रन्थ की कलितना नामक टीका में किया है।^३ फलतः ध्वनि का निर्विकल और उक्त उदाहरण दोनों स्वीकार्य सम्यक् हैं। अतः अनिर्विकलवादाचार्यों का यह मत कि जिस काव्य में अनास्येय वस्तु नास्ति तो उसे ध्वनि कहते हैं - यह ध्वनि का उदाहरण करना उचित नहीं।^४

इस प्रकार आनन्दवर्मी ने ध्वनि विरोधी तीनों मतों अनास्येय, साधनवाद एवं अनिर्विकलवादा का उपलक्षण करते उनका समाधान किया।

२- वाच्य से युक्त अंग्य-वर्ष की वस्तु एवं मत्तवा

काव्य में प्रयुक्त होने वाले वाच्यार्थ और अंग्यार्थ में वे अंग्यार्थ (प्रतीक-नाथ) का अधिक महत्त्व है। अंग्यार्थ का अधिक महत्त्व होने पर भी, अंग्यार्थ

१- डा० रत्नाप्रसाद द्विवेदी - आनन्दवर्मी - पृ० २१०।

२- अनिर्विकल्यं कलितानाविशेष्यं बौद्धानां प्रसिद्धं। ध्व० पृ० ११६।

३- ध्व० पृ० ११६।

४- अनास्येयानुपलक्षितं निवर्त्तयाम्येवा ध्वनेः।

य उदाहर्तुं, उदाहर्तुं तु वाचीवोऽस्य यदोक्तिम् ॥ ध्व० पृ० १२०।

यहां - प्रमत्ताभिर्भवे रूप - दुबारा ही कई निकल रहा है, यही प्रतीयमान कई है।
(स) कहीं कई का वाच्य रूप निर्भेवात्मक होता है और प्रतीयमान रूप विध्यात्मक
यहां-

‘मेरी दुहा बाब यहाँ होती है, और यहाँ मैं। दिन में यह सब बैठ ही।
है बाकि। कहीं पुन हमारे पिछाने पर न निर पड़ना, दु-हैं रात की खाँची
की बाकी है।’

यहाँ की वाच्यार्थ निकल रहा है यह निर्भेवात्मक है। किन्तु
यह कम किसी द्वारा कहा गया है और किस परिस्थिति में कहा गया है उससे
पुन और ही रहस्य निकल रहा है। नायिका निर्भेव के हठ है बाकि की
अवस्थानेव और निरिच्यता के बाब अपने पास जाने का खेत कर रही है। यह
प्रतीयमान कई विध्यात्मक है।

(स) कहीं वाच्य के विधि रूप होने पर व्यंग्य न विधिक्य तथा न निर्भेवात्मक
होता है।

‘बाजी, उम्हवाच और क्यन लौटी मुने ही मोमने पड़े। उसने किसी
में यह व्यथा मेरे पास बाधित्य के कारण जा जाने है दु-हैं भी न उठाने पड़े।’

यहाँ किसी नायिका का अपने ऐसे प्रिय के प्रति क्यन है जो दुबारी है हिम
कर फेन करता है और उसने पास है छोट कर जाया है। यहाँ ‘बाजी’ रूप
विध्यात्मक का है जो द्वितीय कथ प्रतीत हो रहा है यह न विध्यात्मक है और
न निर्भेवात्मक। यह है कथ नायिकावृत्ति रूप।

(२) वही प्रकार वाच्य के प्रतियोग रूप होने पर व्यंग्य न विधिक्य और न
निर्भेव रूप होता है है क्या -

‘मान जा, प्रमत्त हो जा, छोट पड़। जरी तु तो अपनी मुकामि
है क्यकार कुच की दूर कर रही है। जरी क्वाँते, तु तो दुबारी अभिचारिजायों
की की विध्य में छाड़ रही है।’

१- दु० अ० पु० ७९ ।

२- दु० अ० पु० ७९ ।

३- दु० अ० पु० ७९ ।

यहां जौट बड़ने की बात समानिर्घोषात्मक है । किन्तु इससे जो दुबारा
 कई निकल रहा है वह निरर्घोषात्मक है और न विध्यात्मक । वह है बाहु-मन ।
 (घ) कहीं कहीं बाह्यार्थ है विभिन्न विषय रूप व्यवस्थापित प्रतीयमान कई
 होता है । क्या -

प्रिय है दुष्प्राप्त्य अगर जो देखकर मठा किसे रोष नहीं होता, बरी
 मना करने पर भी गरि उक्ति कुछ हुंने वादी, वन तु उक्त दुष्परिणाम
 मुक्त ।

यहां बाह्यार्थ तो बहिर्लोकात्मी के प्रति है परन्तु उपस्थित व्यक्तियों में
 जोन है रोषा जो इससे निकलने वाले कई है बहुत राव गया हो । नायक है कहा
 गया कि उसकी स्त्री बाध्नी है । उसका अगर अन्य किसी कारण नहीं, बल्कि
 प्रसन्न है फुटा है । उपपत्ति है कहा या रहा है कि इस बार तो तुम्हारी
 सब प्रिया की किसी प्रकार बचाए लेती हुं , भविष्य में यदि रोषा होना तो
 कम्हा नहीं । सीतों और पत्नीधर्मों है कहा गया कि मेरे रत्न तुम्हारी
 दुराचारं पूरी नहीं हो सकतीं । मेरी स्त्री अब भी अपने पति को प्यारी रखेगी ।
 स्वयं नायिका है जो कहा का रहा है कि तुम निश्चिन्त रहो । तुम्हारा पति
 उपस्थितों के बीच तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेगा । मैं हुं तो तुम्हारा कोई
 दुष्ट नहीं विवाद समझा । हमें जो बात किसी उक्त करके कही या रही है
 उसकी प्रीति उस व्यक्ति विशेष तक ही सीमित है ।

अगर कई के जो स्वरूपों का विवेक हुआ - बाध्य और प्रतीयमान ।
 हमें है बाध्य है पुनः बाध्य या प्रतीयमान की कहा देही । अब उस प्रतीयमान
 के मूल्य का प्रतिपादन करेंगे ।

प्रतीयमान का मूल्य :

दानन्दवर्मा ने प्रतीयमान कई का विवेक करते हुए
 पञ्च विदग्धा है उसके मूल्य का भी प्रतिपादन किया है । प्रतीयमान
 कई के प्रतिपादन है काव्य में जो वैशिष्ट्य का जाता है वह बाह्यार्थ या

१- ५० पं० पृ० ७६-७७ ।

२- डा० रेश प्रोफ० विदेशी - काव्यशास्त्र पृ० १६-१७

उपचार्य द्वारा नहीं का सखा । वह प्रतीयमान कर्म को अभिव्यक्त करने की साम्प्रदायी प्रत्येक कवि में नहीं होती । वह वस्तु तत्त्व (प्रतीयमान कर्म) को प्रतीयमान प्रमाणों के द्वारा ही स्फुरित होता है ।^१ वह 'कर्म' केवल शब्द और कर्म के विचारों के ज्ञान मात्र से नहीं जाना जा सकता परन्तु काव्यार्थ के तत्त्व को जानने वाले अनुभव सामर्थ्यों को ही अभिव्यक्त होता है।^२

उही प्रकार प्रतीयमान कर्म के ज्ञान की साम्प्रदायी, कौशल और व्याकरण-शास्त्र में प्रत्येक शब्द में नहीं होती । इसके लिए विशिष्ट शब्द ही उपयुक्त होते हैं । वह प्रतीयमान कर्म को अभिव्यक्त करने में समस्त शब्दों का प्रयोग ही महाकवि कर सकता है, जो काव्यार्थ तत्त्व ही । काः महाकवि को उसका प्रचक्षित करना चाहिए ।

वाचस्पत्य ने महाकवियों की कौटि में काव्याद्य आदि दो चार या पाँच इस महाकवियों की गणना की है ।^३ कवि की मर्यादा उपर्युक्त प्रतीयमान कर्म की दृष्टि और तत्त्वपूर्ण कथावही के पुर, मधुर और उचित सम्मिश्रण में है । काः व्यंग्य-व्यङ्ग्यमात्र को काव्य में सुन्दर रूप से उपनिमित्त करने से ही कवियों को महाकवि का ज्ञान होता है, न कि वाच्यवाचक के रचनामात्र से ।

तथापि, महाकवि व्यंग्य-व्यङ्ग्य को प्रमाण रूप से प्रतिपादित करने के पूर्व वाच्य-वाचक का ही उपपादन करते हैं, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य में परस्पर आशय-आशयी सम्बन्ध रहता है । किन्तु प्रकार काव्यार्थों उपायपूर्वक दीपिका के लिए जान सकता है उही प्रकार व्यंग्य कर्म के प्रति अनुभव का वाच्य कर्म के प्रति ज्ञान करते हैं ।^४ किन्तु इस व्यंग्य कर्म की प्रतीति के समय वाच्यार्थ की प्रतीति उही प्रकार व्यापक नहीं होती, किन्तु प्रकार पद की प्रतीति के समय

१- पृ० पृ० १।६ पृ० २२ ।

२- पृ० पृ० १।७ पृ० २२ ।

३- पृ० पृ० १।८ पृ० २३ ।

४- पृ० पृ० पृ० २३ ।

५- पृ० पृ० १।९ पृ० २३ ।

जन्मा आत्मा रूप है, वही तरह अन्य ध्वनि में भी काव्य के बीतर विक्रान्त होकर काव्य की उदीया जन्मा उदीय करते हैं ।

‘ध्वनि एक काव्यविशेष है’ - इस तथ्य की इस प्रकार भी समझना या समझा है - कि प्रकार ‘वैनीषान’ में ‘कल्पवृक्षा’ एक वृक्षविशेष है । उस ‘वृक्ष-विशेष’ के ही कारण उसे ‘विदुषीषान’ रूप विविष्ट होता है विदुषिभिरा किया जाता है । अन्यथा वह उद्यान केवळ वृक्षाँ का समुह मात्र होता । वही प्रकार काव्य वही उद्यान में ‘ध्वनि’ एक कल्पवृक्षा समुह ‘काव्यविशेष’ है । और उस काव्यविशेष का प्राणायुक्त तत्त्व ध्वन्यर्थ है । वही उस काव्य में प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है ।

ध्वनिभेद-

ध्वनिकार में ध्वनि के क्षेत्रों का निरूपण दो प्रकार से किया है -
 व्यंग्यरूपेण और व्यङ्कररूपेण । व्यंग्यरूपेण में - वस्तु, वर्णर एवं रसादि के आचार पर निरूपण हुआ है । और व्यङ्कररूपेण में - व्यङ्क के अन्तप्रकार हैं । जी प्रत्यक्ष, वाक्य, कद, पदार्थ वही व्यङ्क होती हैं । आनन्दरूपी ने तृतीय उपाय में व्यङ्कररूपेण निरूपण किया है । व्यंग्यरूपेण तथा व्यङ्कररूपेण में निरूपण करना मानो ध्वनि काव्य का ही भेद निरूपण करना है ।

ध्वनि के वर्गीकरण दो भेद हैं -

(१) अविवक्षितवाच्य

(२) विवक्षितवाच्यरवाच्य

अविवक्षितवाच्य ध्वनि वह है जहाँ वाच्यार्थ उदीया अनुपपन्न (अविवक्षित) जन्मा अन्यवाचीय रहता है । इसे उदात्तायुक्त ध्वनि भी कहते हैं । क्योंकि यहाँ पर यह प्रतीयतन्त्री उदात्ता के साथ प्रयुक्त होती है । उदात्ता भी उपादान-उदात्ता तथा उदात्त-उदात्ता रूप की प्रयुक्त होती है । वही दो क्षेत्रों के आचार

१- काव्यात्वेऽविश्ववैयवाच्यं विदुषीषाने ध्वनिर्विशिष्टः

वीथं कल्पवृक्षमात्मनि माग्नीऽस्तु मन्वात्मनः ॥ ध्व० १५२

२- उदात्तवाच्यवाच्यार्थोऽविवक्षितवाच्यः

उदात्तं वाच्यार्थं य-उ-प्रयुक्तं वि-विश्ववै-॥ ध्व०-१५३

३- अविवक्षितध्वनिः य-य-अविवक्षितवाच्यो विवक्षितवाच्यरवाच्यरवेति द्विविधः

आमान्दिक । ध्व० १५४ की मुद्रि ।

अर्थात् समय वही है, वह किसी के लिए विश्व बन जाता है, किसी के लिए समुद्र, किसी के लिए विश्व और समुद्र दोनों और किसी के लिए न विश्व न समुद्र ।

यहां विश्व और समुद्र का बारम्बार प्रयुक्त फिर वा रहे हैं किन्तु इनका सुलभार्थ यहाँ नहीं प्रयुक्त हुआ है वरन् क्रमशः दुरुक्त और भ्रष्ट रूप संशुद्धि वाच्य वाहे विश्व और समुद्र अर्थों के व्यवहार है, एवं प्रकार का अन्तिमसंशुद्धि वाच्य का व्यंजन्य है ।

यमप्रकारस्य अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यव्यभि-

यथा- रक्सिङ्गान्धवीमान्यस्तुभारतवृत्तमण्डलः ।

निःरवाधान्य स्वापरीवन्तुना न मुक्तो ॥

यहाँ अन्य तथा वाक्य दोनों में (अन्त्यस्य रूप) एक परिधीयकत्व रूप अन्त्य की स्थिति न होने के अन्त्य अर्थ के वाच्यार्थ (दृष्टिहीन) का अर्थात् तिरस्कार कर दिया गया । तदनन्तर अन्त्यसमूह अर्थ का नीच होता है, किसी विषयग्रहणाभाव वादि अन्त्य अर्थ प्रतीत होते हैं । अतः यहाँ अन्य का अत्यन्त तिरस्कृत है ।

वाक्यप्रकारस्य अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य व्यभि -

या निहा सर्वज्ञानां तस्यां वागतिं संमी ।

तस्यां वागुतिं ज्ञानि वा निहा परवती मुनेः ॥

यहाँ संसार में रात्रि रहती है तब संमी वागता है और यहाँ संसार वागता है तब संमी के लिए रात्री रहती है ।

यहाँ 'निहा' और 'वागुति' के क्रमशः वाच्यार्थ-प्रकाशोपाय और निद्रापाय का वास्तव्यस्तिक तिरस्कार ही बताया है तथा अन्यः अत्यन्तप्राप्तता तथा तत्त्वज्ञानवीच प्रतीत होती हैं । क्योंकि यहाँ कई बार प्रयुक्त निहा और वागति यहाँ के वाच्यार्थ की प्रतीति ही रही है । अतः यह वाक्यप्रकारस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य व्यभि का स्पष्ट है ।

एवं प्रकार अविवक्षितवाच्यव्यभि का प्रतिपादन किया गया । इसमें बार में भी -

- १- पदप्रकारस्य व्यन्तिर संश्लिष्ट बाध्यव्यभि ।
- २- वाक्यप्रकारस्य व्यन्तिर संश्लिष्ट बाध्यव्यभि ।
- ३- पदप्रकारस्य व्यन्तिरितिरस्तु बाध्यव्यभि ।
- ४- वाक्यप्रकारस्य व्यन्तिर तिरस्तु बाध्यव्यभि ।

विशेषितान्यवर्वाध्य व्यभि :

उसी कही हैं किसी बाध्य विशेषित
(बाध्य बाधक केरु रूप से अवता व्यन्ती) होता हुआ भी व्यन्तिनिर होता
है । इसे अभिप्रायुक्त व्यभि भी कही हैं । उदा० इसके दो पैर हैं :-

- (१) सर्वव्यप्यव्यभि
- (२) पुरुषार्थव्यभि(सर्वव्यप्यव्यभि)

सर्वव्यप्यव्यभि-

सर्वव्यप्यव्यभि व्यभि में रसादि की रूप से स्थित होती हैं ।^२
रसादि रूप व्यन्तार्य की प्रतीति बाध्यार्य के अन्तर होती है, अतः बाध्य से
व्यन्त की प्रतीति में पुन तो रसादि हैं किन्तु, अविहीष्टता के कारण संप्रत्यक्ष-
वेदन्याय से वह उचित नहीं होता । इसी कारण इसे सर्वव्यप्यव्यभि
कहा है जाता है ।

सर्वव्यप्यव्यभि का केवल एक पैर रसादि हैं । रसादि में रस, भाव,
रसाभाव, भावाभाव, वाक्यरूप, वाक्यस्थिति आदि का नृपण होता है ।
व्यभि के तात्पर्य रसादि के की रूप से पाठित होने पर सर्वव्यप्यव्यभि-
व्यभि होती है । अथवा रसादि व्यन्तार के अंत होने पर और व्यन्तिर के
वाक्यार्य होकर प्रमाण होने पर रसादि व्यन्तार होती हैं । अतः व्यभि का

१- सर्वव्यप्यव्यभिः प्रमाण प्रतीतिः परः ।

विशेषितान्यव्यभिः व्यन्तिरात्मिका मत्तः ॥ पृ० २१२

२- सर्वव्यप्यव्यभिः प्रमाण प्रतीतिः परः ।

विशेषितान्यव्यभिः व्यन्तिरात्मिका मत्तः ॥ पृ० २१२ पृ० १०४

३- रसाभावभावाभावप्रकारान्तरादिरूपः ।

व्यन्तिरात्मिकाभिप्रायेण वाक्यानी व्यन्तिरः ॥ पृ० २१२

प्रमाणेऽप्यत्र वाक्यार्यं यवानं तु रसाद्यः ।

काली वल्लभान्तर्गत रसादिरिति मे मतिः ॥ पृ० २१४

वीर रत्नादि वर्णन का विषय समझल्य है । रत्नादि वर्णनों का विवेक गुणीकृत्यांश के प्रसंग में करेंगे ।

रत्न-

वाचस्पत्य ने भी रत्नों में से केवल छान्द तथा मूर्तार रत्नों का ही विस्तृत विवेक किया तथा अन्य रत्नों का उल्लेख कर छोड़ दिया ।
जः यदा केवल छान्द एवं मूर्तार रत्नों को विवेक करेंगे ।-

मूर्तार :

वाचस्पत्य ने मूर्तार को छन्दोग वीर विप्रश्न नामक दो रत्नों में विभक्त बताया है । छन्दोग के परस्पर प्रेमपूर्वक रत्न, वृत्त, विहार आदि लोक प्रकार हैं । विप्रश्न के अशिक्षा, रंघ्या, विरह, प्रसाद नामक चार रत्नों की गणना करके वही प्रकार के अन्य रत्नों की गणनाहीन स्वीकार किया है । रत्न को अपने स्वाधीन भाव के रूप में स्वीकारा वीर मायुर्य को गुण रूप में । वाचस्पत्य ने बताया कि यद्यपि मायुर्य कल्याण में भी विकसित होता है तथापि छन्दोग की अपेक्षा विप्रश्न मूर्तार में एवं कल्याण में मायुर्य का प्रकाश देखा जाता है । क्योंकि इनमें मन अधिक आर्तभाव प्राप्त करता है । मूर्तार रत्न (विशेषतः विप्रश्न) ज्ञाना सुकुमार होता है कि इसे किसी भी प्रकार की कठोरता छद्म नहीं होती । वाचस्पत्य ने स्पष्ट उदाहरणों में प्रतिपादित किया है कि बुद्धिबुद्ध आदि अनित्य दोष ध्वन्यात्मक मूर्तार-

१- मूर्तारस्वाधिनस्ताकापी दो रत्नौ - छन्दोगी विप्रश्नरत्न । छन्दोगित्व य
य परस्परप्रेमरंघीवृत्तविरणाधितानाः प्रकाराः । विप्रश्नस्वाध्व-

मिक्षाभेदाविरहप्रसादविप्रश्नमादयः । ध्व० पृ० २२६

२- ध्व० २१२ की वृत्ति ।

३- मूर्तार एवं मायुर्य परः प्रसादनी रत्नः ।

छन्दस्य काव्यमात्रित्व मायुर्य प्रतिविच्छति ॥ ध्व० २१७

मूर्तार विप्रश्नमात्र कल्याण य प्रकाशम् ।

मायुर्यमात्रा याति कल्याणार्थि मनः ॥ २१८

४- विप्रश्नौ लोभनावर्तित्वः स्याच्छेत् । ध्व० २१२ की वृत्ति, पृ० २२७ वीर
ध्व० २१२८ ।

रस के लिए स्वीया त्याग्य है । ^१ रस भुंजार के कभी प्रवेशों में रस भुंजार के अनुबन्ध रूप में प्रीति अनुप्रास व्यंक्त नहीं होता । उनके अनुप्रास भुंजार रस में प्रतिष्ठित होने पर भी व्यक्त का निबन्धन नहीं होता बाधित ।

अपनि में केवल उन्हीं कलंकारों को माना गया है, जो किता किती रूप के रसाभिप्राय रूप में प्रयुक्त हों । कलंकारादि कलंकारों का निबन्धन भुंजार में किया जाय जब उनकी विषयता रसपरत्वैव हो, कभी कभी रूप है विषयता न हो । समय है प्रवण हो और त्याग्य भी हो, बहुत दूर तक निवर्तित करने की इच्छा न हो । यदि दूर तक निवर्तित हो गया तो उसे कल्प में ही रक्ता बाधित । यही रस बाधित कलंकारों के कलं होने का साधन है । ^५ रस भुंजार है उपनिबन्धमान कलंकार रसाभिप्राय का हेतु होता है । उपयुक्त भुंजारों का वतिक्रमण और वनित ही व्याख्यानी है रसमें ही जाता है। अतः रस-योजना में कवि को सर्वाधिक वाधित रक्ता बाधित ।

भुंजार रस कलंकारी कलों के अनुबन्ध का विषय होने के कारण, तथा कभी रसों की अवस्था वनित कनीय होने के कारण प्रमान है और कलंकार-मनीकारी है । उनके कलों का व्यापक काव्य में वतिक्रमण होता-पावक होता है। यदि कवि रस रस है नाशित होकर कविता करता है तो उसके काव्यकल्प का बण्ट-बण्ट रसमें ही रहता है । ^{१०} भुंजार-रस के कलों द्वारा उन्मुख फिर जाने पर शिष्य हीन प्रयुक्त विषय के उपदेशों को प्रवण कर लेते हैं । ^{११} अतः उपदेश

१- अथ० २।१२ २- अथ० २।१४ ३- अथ० २।१५ ४- अथ० २।१६

५- अथ० २।१८, १९ ।

६- उपनिबन्धमानोऽकलंकारी रसाभिप्रायहेतुः क्येति । अतः भुंजाराति-
कली तु निबन्धनैव रसमहेतुः सम्पत्ति । अथ० पृ० २३३

८- भुंजाररसो हि कलंकारिणा नियन्त्रितानुबन्धविषयत्वात् सर्वरसैव्यः कनीयत्वात्
प्रमानकः । अथ० पृ० ३६० अथ० ३।२६ की वृत्ति ।

९- भुंजाररस्य कलंकारमनीकाराभिरामत्वात्पदमन्यत्वात् काव्ये हीनातिष्ठत्वं पुष्पती
अथ० पृ० ३६१ ।

१०- अथ० पृ० १३८ ।

११- भुंजाररसमनीकमुदीकृताः कन्तो हि विनैवाः कुं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति ।
अथ० पृ० ३६८, अथ० ३।३० की वृत्ति ।

के लिए यह एक उत्तम माध्यम है ।

इसीलिए ब्रह्मचर्यवर्षी कहते हैं - स्वकादि कर्तव्यों का जो रक्षादि विषय के व्यक्तित्व में उद्घाटन का प्रकार दिखाया है, उसका अनुसरण करता हुआ, और स्वयं अन्य उद्घाटन का उत्प्रेक्षण करता हुआ, अनाश्रित्यैव यदि यदि कर्तव्यपूर्णव्यवहारों के अन्तर्गत कष्टों एवं व्यथात्मकताओं और एवं का उपनिबन्धन करता है तो उसे महान् ब्राह्मण माना जाता है ।

शान्त :

शान्त एवं शान्त होते हुए भी विद्वानों की बहुत शान्त करता रहा । लोक वाचार्थों में शान्त एवं के विषय में प्रसिद्ध हैं । किन्तु ब्रह्मचर्यवर्षी ने शान्त एवं को स्वीकार किया है । और स्वका स्वाधीनता या स्वतन्त्रता का अनुसरण करके ही शान्त बनाया है । यह एक ऐसा दृष्टि है जिसे कामधुन और दिव्य महान् दृष्टि भी स्वकी शोचनीयता का भी नहीं पाती । यदि वह शान्त एवं का अनुसरण प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता तो तब भी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता । स्वका अनुसरण कठोर शान्त महान् पुरुषों के चित्तवृत्तिविशेष में होता है । ^{कुछ विद्वान् वीररस में ही} शान्त का अन्तर्भाव करके, शान्त का पूर्ण अस्तित्व नहीं मानते । किन्तु यह सर्वथा अनुचित है । वीर एवं में शान्त एवं का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि वीर एवं अस्मान्मुख होता है और शान्त एवं में कर्तव्य का प्रकटन होता है । दोनों परस्पर भिन्न हैं । जहाँ तक महावीर का सम्बन्ध है उससे चित्तवृत्ति विशेषों के सर्वथा कर्तव्य रहित होने के कारण, वह शान्त एवं का ही एक प्रभेद ही होता है । न कि वीर में ही शान्त का अन्तर्भाव । वीर वीर शान्त के सर्वथा भिन्न रहते भी यदि शान्त का अन्तर्भाव वीर में करता कीन्तु ही तो वीर वीर रीति में भी वही प्रकार की व्यवस्था का पूर्ण उपनिबन्धन होता है ।

१- पृष्ठ २११६ की पृष्ठ पृष्ठ २११-२१२ २- पृष्ठ पृष्ठ २१०

३- पृष्ठ पृष्ठ २१० । ४- पृष्ठ पृष्ठ २११ । ५-

६- पृष्ठ पृष्ठ २११-२१२ ।

महाभारत के रसी शान्त रस को किसी भी प्रकार बलीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि उर्ध्व शास्त्रीय दृष्टि से मोक्ष रूप एक अन्तिम पुरुषार्थ विवक्षित है और काव्यदृष्टि से वृष्णा-नाम वसिष्ठ ऋषि का परिपूर्ण रूप शान्त रस की स्वेष्ट विवक्षित है । इस विमूढ़ एवं स्मणीवर्ध का प्रतिपादन स्वयं कविवेदा वृष्णादिनायक (व्यास) ने महाभारत के अन्त में हरिवंशवर्णन की समाप्ति करते हुए किया है । संसार का वणनि तो पुनरेष्टा के रूप में वसिष्ठ हुआ है , मुक्तः उसका उद्देश्य संसारातीत तत्त्व का निरूपण है । उर्ध्व देवताओं, तीर्थों और तप आदि के अक्षिप्त फल का ही वणनि परब्रह्म की प्राप्ति का ही उपाय है । क्योंकि देवताओं की परब्रह्म का ही एक अंत बताया गया है । पाण्डवों की यज्ञ के वणनि का तात्पर्य भी तीर्थों के मन में वैराग्य उत्पन्न करना है । यही ' वैराग्य ' मोक्ष का मूल है । मयत्प्राप्ति से ही मोक्ष प्राप्ति होने के कारण, मुख्यतः श्रीमद्भगवद्गीता में मयत्प्राप्ति का उपाय बताया गया है । मयान् की ही प्राप्ति है यही परमपरमा परब्रह्म की ही प्राप्ति है । और वायुदेव नाम से जिस मयान् का उर्ध्व वसिष्ठ वसिष्ठ है , वह भी परब्रह्म ही है, क्योंकि गीता में उन्हें अपरिमित शक्ति का स्वाम एवं परात्पर ब्रह्म रूप में प्रस्तुत किया गया है । वह केवल मयुरा में प्रादुर्भूत वृष्णा ही नहीं, परन्तु परब्रह्म स्वरूप विवक्षित हैं । स्वीछिरे उन्हें व्यास ने उपासन भी कहा है । उपासन वह वसिष्ठ है जिससे मयान् के सभी रूपों का उद्भव मिलता है । स्वीछिरे रामायण आदि में मयान् की अन्य प्रतिमों के छिरे सब उद्भव का प्रयोग किया गया है ।

ज्ञातः यह निरिच्छ है कि महाभारत में मयान् से भिन्न प्रत्येक पदार्थ को अन्तिम छिरे कर पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष और रस के रूप में शान्त की प्रतिष्ठा की गई है ।

१- अथ० ४।५ की दृष्टि पृ० ५३३ ।

२- अथ० पृ० ५३३ ।

३- पृ० अथ० पृ० ४३२-४३३ ।

वस्तुतः इस तथ्य तक साधारण ज्ञेयता इसलिए नहीं पहुँच पाता क्योंकि इस साधारण तथ्य का वाक्य रूप है प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि वह साधारण रूप इस रूप है अनभिज्ञ रूप है प्रकाशित होकर विशेष होना कारण कहा है। इसीलिए इस महाकवि ने इस तथ्य को अन्य रूप में विशिष्ट किया है।

अतः निष्कर्ष यह कि शान्त रूप भी एक रूप है और उसका स्वाधीनाय वृष्णासाकसुहृदः ॥ १॥

रसप्रकाशक -

आनन्दवर्दी ने अठसकप्रत्ययों में रस के अंगक रूप में वर्ण, पदादि, वाक्य, संवत्सरा तथा प्रकृत्य को स्वीकार^{किया} है। पदादि में यदि वह का अर्थ आनन्दवर्दी के अनुसार पदाकम, पौन्यैत कहा जायेगा है। इस प्रकार आनन्दवर्दी के अनुसार रसों के प्रकाशक दी जाती हैं :-

- १- वर्ण
- २- पदादि
- ३- पदाकम
- ४- वाक्य
- ५- संवत्सरा तथा
- ६- प्रकृत्य

१- वर्ण प्रकाशक रस -

कुछ वर्ण, विशेष रसों के लिए उपयोग होते हैं। इन वर्णों के प्रयुक्त हो जाने पर रस वीरित नहीं होता बौद्ध, च, रस के साथ अन्योन्य तथा 'ट' अंगार रस के विरोधी हैं, किन्तु ये ही वर्ण वीरित रस के लिए उपयोगी होते हैं।

१- अथ० पु० ४१३ ।

२- वस्तुतः अठसकप्रत्ययों ध्वनिविशेषादिभिः ।

वाक्ये संवत्सरायां च स प्रकृत्यैऽपि वीर्यते ॥ अथ० ३१२

३- उ-च्यते वीरितवर्णो अकारस्यापि प्रवृत्ता ।

विरोधिभिः स्युः अंगारे तेन वर्णा रसव्युत्तः ॥

स रस तु निवैरक्यते वीरितवादी रसे यथा ।

तथा तं वीरितवर्णं ते न वर्णा रसव्युत्तः ॥ अथ० ३१३-४

वाचस्पत्यनी ने इसका उदाहरण नहीं दिया है केवल उल्लेख किया है कि 'रही-
त्य' से अन्य-व्यतिरेक द्वारा वर्णों का वीक्षण प्राप्त हो जायेगा । अपने
वाच फल द्वारा यह वीक्षण का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

२- परपुनराद्य रस -

'वाचस्पत्यस्य' वाक्य में वाचस्पत्य है यह वाच्य का
स्वाभार पुनरुक्त वाच्य कहता है -

उत्कृष्टिनी कथारिस्तुतिर्वाङ्मना

ते हीने प्रतिष्ठितं विपुले सिपन्ती

श्रीरं वाङ्मनास्य वाचस्पत्य

पुनरुक्त्यैव वक्ष्यते न वीक्ष्यते ॥^२

यहाँ 'ते' का है वाच्य के पुनरुक्त की महत्त्व रति, श्रृंगार रस को स्फुटतम से
व्यक्त कर रही है ।

३- वाचस्पत्यपुनराद्य रस-

श्रीरं वाङ्मनास्य वाचस्पत्य

वाचस्पत्य पुनरुक्त्यैव वक्ष्यते न वीक्ष्यते ।

तिष्ठेत्पुनरुक्तं किमिव न तथा क्व स्फुटतम

वाच्यं मया वाचस्पत्य-वरिणीवारि-नीच विनायः

यहाँ 'विनायः' का है सर्वाधिक व्यंग्यता है ।

४- वाचस्पत्यपुनराद्य रस -

वाच्य दो प्रकार के रस को प्रकाशित करता है -

(१) हृदयार्थ एव वक्ष्यते रति वीर

(२) वीरार्थं वाच्यं एव वक्ष्यते

जहाँ है पुनरुक्त का उदाहरण रामानुज का है :-

१- पृष्ठ १०३

२- पृष्ठ १०४

३- पृष्ठ १०५

४- पृष्ठ १०५-१०६

५- पृष्ठ १०६

कृतकृपितोवाभ्याम्भोभिः सर्वेभ्योभ्योभिर्
 नमपि नता यस्य प्रीत्या कृतापि तथाम्भ्या
 नम कन्दर-रवाभाः कस्तु पित्रो नवीं किता
 कठिनकृतो वीकयेन प्रिमे व तव प्रिमे ॥

यहां पुरा वाक्य की राम और सीता के परस्पर स्वराम की परिपुष्ट कृता
 हुआ, उन प्रकार से कस्तुष्ट रवात्त की कृतापि कृता है ।

दुखी कर्णाराम्भारम्भोर्ण का उदाहरण :-

स्मरनवन्दीपुरीणाः पुनरुत्थेभि-
 यदपि विपुतास्तिष्ठन्त्वाराम्पुणमिनोरवाः
 क्वपि तिष्ठितप्रवेरैः परस्पराम्भुताः
 नमन-नन्दिनीवाता-नीतं विमन्त्रि रत्नं प्रिमाः ॥

यहां आरम्भ में 'स्मरन्दी नवीन नदीपुर' उस कंठ में और 'नमन-नन्दिनी-
 वात' तथा 'पुनरुत्थे' में क्वपि कर्णार है । तथा वे क्वपि नदीर्य हैं । आः वेनों से
 ही रत्न पान कर रहे हैं ,— उस प्रकार यहाँ रत्नान के प्रति क्वपुणमिनोरकथ
 है । आः यहाँ का क्वपि कर्णार है । नन्दिनी वात से रत्नान क्वपि
 मित्तु कृता है , उन वद रात्रिमात में मित्तु वाता है । आः यहाँ पर प्रिमे
 और प्रिमा के व्यवहार पर क्वपि और क्वपि के व्यवहार का आरोप
 होने से यहाँ क्वपि कर्णार भी है । उस प्रकार यह पुरा क्वपि कर्णार-
 युक्त है । वे क्वी कर्णार यहाँ वाक्यमात्रिका के परस्पर क्वत रत्नानक
 क्वपि वात का परिपोष कर्तों और विपुल-भुंवार की क्वपुति कराते हैं ।
 यह वाक्यप्रकार रत्न का विवेक हुआ ।

अभिनवमुक्त ने यहाँ एक क्वपि यह उदाहरण किया है कि वर्ण, यह और
 क्वपि रत्न क्वपि नहीं ही क्वत, क्योंकि रत्न वाक्यार्थ से ही क्वपि
 होता है और विनावादि वाक्यी किता वाक्यार्थप्राप्त नहीं होती ।

इसी प्रकार वहाँ वाक्य की प्रकाशक भाषा बताता है वहाँ कदापि की प्रकाशकता की रहती है क्योंकि वाक्य बिना कद के नहीं बनता। कदापि वहाँ कद में लक्ष्मी व्यंजना नहीं रहती । वहाँ कोई एक कद व्यंजक नहीं होता , बल्कि प्रायः लक्ष्मी कद व्यंजक होते हैं इसलिए कैद संवाचिक के कारण वाक्य की व्यंजक या प्रकाशक कद दिया जाता है ।

५- संयन्ताप्रकारक रस :

संयन्ता तीन प्रकार की होती है :-

१- कलासा

२- मध्यम कलासा

३- दीर्घ कलासा

संयन्ता के विद्यमान गुण हैं । गुणों के आधार पर ही यह निर्णय किया जाता है कि कदा कैसा कलासा लक्षित है । गुणों के ही आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि किस संयन्ता में कठोर वर्ण हों और किन्हीं लौकिक । यदि माधुर्य की अभिव्यक्ति लक्षित है तो संयन्ता में भार कर्णों के एक वर्ण मधुर और लौकिक होंगे । जीव के लिए उसके वर्ण महत्व होंगे । प्रत्येक गुण में वर्णों की स्थिति दोनों प्रकार की हो सकती है । काः संयन्ता के विद्यमान गुण ही हैं , और संयन्ता रस की अभिव्यक्ति होती है । काः संयन्ता रस के व्यंजक संयन्ता के व्यंजकत्व के कला और वाक्य का लक्षित होता है ।

६- प्रत्ययप्रकारक रस -

रामायण और महाभारत इसके प्रसिद्ध प्रमाण हैं ।

प्रत्यय के व्यंजक होने में निम्नलिखित तथ्य होने चाहिए -

विशेष, माध, अनुमाध, संवारी के लक्षित से सुन्दर ऐतिहासिक वृत्त कथा उत्प्रेषित (कल्पित) कथावहीर का निर्माण । इतिवृत्त में प्रतिकूल रस की स्थिति की लोह कर , कल्पना है बीच में लोह रस द्वारा उचित कथा का सम्पन्न, इतिवृत्त और कल्पना का लोह रस अभिव्यक्ति अनुभव होना चाहिए, न कि

१- पृष्ठ ३५

२- पृष्ठ ३५ की वृत्ति

३- पृष्ठ ३५

केवल शास्त्र की आज्ञा को अविवेकपूर्वक अनुसर करने की इच्छा है। अतएव पर रस का उदीयन और प्रहसन, तथा बीच में आरम्भ होकर विराम्य होती हुए की रस का अनुसन्धान, अति होने पर भी व्यंग्यकारों का योंही अनुसन्धान है करना चाहिये। अतएव काव्य विनिर्दिष्ट करते समय कवि को अपनी रस के अतीत होना चाहिये। और व्यापारों पर प्रहार करके करना चाहिये कि वह सब समय रसमय मात्र हो।

अतएव काव्य-व्यंग्य-विनिर्दिष्ट में उक्त सब व्यंग्यों के अतिरिक्त धृष्ट, तिष्ठ, कथन, सम्बन्ध, कारण-प्रति, कृत, तत्काल, अनाद्य और उक्त, निपात, उपसर्ग, काष्ठ आदि भी व्यंग्य होती हैं।

वे -

अव्यक्तारो धूमने मे करवस्तवाव्ययी तापवः

होप्यत्रैव निवसित रागास्तुं वीकत्यही रावणः

विश्विच्छादिकां प्रवोक्षितवता किं कुम्भकण्ठे वा

स्मृतिपटिकाविदुष्यन्तवृषीधूनेः शिरोभिधुः ॥

उक्त रसों में से उक्त उपलब्ध की का व्यंग्यत्व है। यहाँ 'मे करवः' है धृष्ट सम्बन्ध और कथन का अविश्वस्यत्व है। 'तत्राप्यत्रैव तापवः' यहाँ तत्काल और निपात का व्यंग्यत्व है। 'होप्यत्रैव निवसित रागास्तुं वीकत्यही रावणः' यहाँ तिष्ठ और कारणप्रतिपादों का। 'विश्विच्छादिकां' इत्यादि रसोक्तों में कृत, तत्काल, अनाद्य और उपसर्ग का व्यंग्यत्व है।

उक्त प्रकार के बहुत व्यंग्यत्व के अति होने से काव्य की सर्वातिशायिनी बन्धनवाया समुन्मीलित होती है। कहीं कहीं व्यंग्य की अवभासित करने वाले एक सब के रसों पर भी काव्य में बन्धनवाया होती है। अतः प्रतिपादित

१- अ० पु० अ० ३१०-२४ कारिका

२- कविना काव्यमुपनिबन्धता अर्थात् तस्या रसरस्तन्त्रेण भक्तिव्यम् । अ० पु०

३- व्यापारोत्पत्तिवस्तु कार्य तथा तथा । ३३६

तथा रसमय अतीत तत्प्रतिपादो ॥ अ० पु० ३३४

४- धूमिलकण्ठवन्धनवैस्तथा कारणप्रतिपादः

धूमिलकण्ठवन्धनवैस्तथा कारणप्रतिपादः कविः ॥ अ० ३१२६

५- अ० पु० ३३५-३३६ ।

यहाँ पुरन उल्ला है कि ध्वनिकार शब्दशक्तिमुक्त वस्तु ध्वन्य को नहीं मानती ?
उनके परकीं ध्वनिवादी बापायं इसे स्वीकार करते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि वानस्पयकी के कहने का अविश्रय यह है कि
शब्दशक्तिमुक्त ^{अनुस्वानोपम} ध्वन्य में न केवल वस्तु बल्कि अंतर की प्रकाशिता होती
है, किन्तु शब्द में वस्तुत्तरमात्र प्रकाशित होता है । 'वेगध्वन्य मनीषावेन' में
शब्द की कारण है कि यहाँ द्वारा प्रकाशमान अर्थ केवल वस्तु-रूप है । यदि,
उसके साथ यहाँ अंतर की होता, तो यही ध्वनि का उदाहरण बन जाता ।

किन्तु, फिर यह पुरन उल्ला है कि यदि वानस्पयकी शब्दशक्तिमुक्त में
वस्तु-ध्वन्य को स्वीकार करते हैं तो उल्ला उदाहरण क्यों नहीं केते ? द्वारा
तत्पु यह है कि 'वाशिष्ठः स्वातंत्र्यः' में प्रयुक्त 'एव' पर केवल अंतर ध्वन्य
की ओर लक्ष्य करता है और यही की वृत्ति में करते हैं - 'यस्मादंतरा न
वस्तुमात्रं' इत्यादि में स्पष्टतः 'न वस्तुमात्रं' कह दिया है । यदि उन्हें अंतर
के साथ वस्तु-ध्वन्य भी समीक्ष्य था तो 'यस्मादंतरा' के बाद 'व' या 'अपि' प्रु
जाते ।

वस्तुतः वानस्पयकी अंतर-ध्वन्य को स्वच्छि स्पष्ट रूप से स्वीकार करते
हैं कि उन्हें किसी प्रकार की वापसि का अवसर नहीं है किन्तु वस्तु-ध्वन्य मान
ले पर, शब्द विषयक अनेक किप्रतिपत्तियों की सम्भावना होने के कारण ही
वस्तु-ध्वन्य को दबे स्वर में इस प्रकार करते हैं - 'यस्मादंतरा न वस्तुमात्रं' -
इत्यादि । और इसके बाद शब्द और शब्दशक्तिमुक्त का नेत्र भी जाता है -
यहाँ शब्द शक्ति है वातावरणान्तर वाच्य रूप से प्रतीत होता है, यह
सब 'श्लेष' का विषय है। और जहाँ शब्द-शक्ति के सामर्थ्य से
वाशिष्ठ एवं वाच्य है अतिरिक्त ध्वन्य ही अंतरान्तर से प्रकाशित होता है,
यह ध्वनि का विषय है ।

यह उल्ला है कि वानस्पयकी ने स्पष्टतः यह नहीं कहा है कि शब्दशक्तिमुक्त
ध्वनि में वस्तु और अंतर दोनों ध्वन्य होते हैं । हमारे विचार से वानस्पयकी
केवल अंतर पर ही हैं । किन्तु उनके परकीं बापायं स्पष्ट -----

विरचनाय, कल्पनाय नै उच्चशक्तिमुक्ता नै वस्तु व्यंग्य की भी माना है ।

उच्चशक्तिमुक्ता व्यक्ति नै व्यंग्य रूप से स्वीकार किया जाने वाला उच्च की स्तरों नै व्यंग्य होता है । १- पदस्य २- वाक्यस्य । इन दोनों प्रकार के व्यंग्य उच्चों के ही उच्च व्यंग्यार्थ रूप से युक्त है वह सम्भाव्य वर्तमान रूप होता है । अतः वह व्यक्ति के ही मेल करते हैं -

१- पदप्रकारवाचकव्यंग्य तथा

२- वाक्यप्रकारवाचकव्यंग्य

१- पदप्रकारवाचकव्यंग्य -

उत्तर उदाहरण वाचकव्यंग्य रूप प्रकार की हैं-

प्राप्तुं परीक्षितस्य वाचकं देवेन दृष्टी यदि नाम नास्मि ।

यदि पुष्पाभ्युदयस्तदाः कृषीः क्वा किं न कः कृषीः क्म् ॥

यह एक ऐसे कवता का उदाहरण है जो उदाहरण है, किन्तु बरीबी के कारण सुधारों की कच्चा पुरी करने नै असम्भव है । अतः प्रस्तुत रूप नै 'कः' पद कवता नै अपने लिए प्रयुक्त किया है , किन्तु उक्त उदाहरण रूप और तात्पर्य के साथ भी प्रतीत होता है ।

कवता रूप की निमित्तता एवं हीतकता भी व्यक्त करना चाह रहा है । कवता के रूप से यह प्रतीत होता है कि कवता केन व्यक्ति की कवता केन रूप में है, जो हीतकता भी है और परीक्षा में कवता भी ।

सामान्यतः उदाहरण व्यक्ति की प्रथम कवता का उपमान बताया जाता है । जो उपमान की कवता केन उदाहरण होता है वह व्यतिरेक नामक वर्तमान माना जाता है । अतः यहाँ व्यतिरेकवर्तमान व्यक्त हो रहा है और यहाँ हीतकता रूपी जो उच्च व्यक्त हो रहा है वह 'कः' पद है । इस पद के हटाने ही यह उच्च भी हट जाता है । अतः यह पदप्रकारवाचकव्यंग्यमुक्तानुरणनीयता-वर्तमान व्यक्ति का स्वरूप है ।

१- निमित्तताविशेषतयापुष्पाभ्युदयव्यंग्यस्य उदाहरणमुदाहरणं प्रोते,

पदप्रकारवा (पुष्पः २६६) ---- तस्यैव वाक्यप्रकारवा उदाहरणं (पुष्पः २६७)

२- वाक्यप्रकारस्य वर्णनस्य अर्थः -

उक्त उदाहरण आत्मवचनी नै वाक्यान्तु के सम्बन्धित है उद्घुष्ट किया है । आत्मवचनी की कथा ही वाच्य पर केनापति विन्यास सम्बन्धी के वाच्य वाच्य है और कथा है :-

युतेऽस्मिन् महाप्रलये मरणीयारणावापुना त्वं द्वेषः ।

यहां महाप्रलय, मरणीयारण और द्वेष तीनों उक्त कथनीय हैं । उक्त उदाहरण है जो प्रत्यक्ष त्वं निष्ठ रहा है ^{उत्तरे} महाप्रलय के समय द्वेषनाम द्वारा पूर्वोपिष्ट की स्थिति बनाए रखने की बात भी निश्चयी है । किन्तु प्राकट्यिक त्वं है कि प्रभाकरवचनी और आत्मवचनी के अन्तर्गत में प्रभाषात्मक के द्वेष सम्बन्धी का द्वेष रखा । यहां प्राकट्यिक और अप्राकट्यिक त्वं में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने पर यहां साम्य होने से उपमात्कार है । यहां एक वर्णन भी ही कथा है क्योंकि वह भी साम्यमुक्त ही होता है और यहां द्वेषनाम का सम्बन्ध पर वारोप प्रतीत होता है । यहां ^{शब्द} कथयितव्य होने के कारण वह उक्त उक्तिमुक्त है और वाक्यप्रकार है । इसमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति कम है होती है अतः अनुरणनीय भी है अतः यह वाक्यप्रकार उक्त उक्तिमुक्तानुरणनीय-उत्कारव्यंग्य का उदाहरण हुआ ।

उक्त विषयितात्म्यपरवाच्य अनुरणनस्य व्यंग्य ^{के} वाच्य के दो प्रकार- उक्तउक्ति-मुक्त और उक्तउक्तिमुक्त ^{के} वाच्य की किन्हीं प्रत्यक्षों में प्रतीति होती है - यथा - 'मनुष्यस्य विचारः' में वाच्यत्व की उक्तिर्वाच्य में । अन्तर्गत के आत्मवचनी के 'विचार-वाक्यादीनां' में कामदेव के उत्तर के अन्तर्गत के प्रत्यक्ष में । और के 'महाप्रलय' में मनुष्यावापुनाद वाच्य प्रत्यक्ष में ।

तबने यहां प्रत्यक्षप्रकार, उक्तउक्ति अनुरणनीय व्यंग्य के वाच्य की उक्तउक्ति अनुरणनीय व्यंग्य का भी उल्लेख कर दिया है । किन्तु फिर भी उक्तउक्तिप्रकार अनुरणनीय व्यंग्य के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षप्रकार का प्रत्यक्ष विवेचन करें ।

५० व्यंग्य और उक्त की युधि ।

कविप्रौढीविशेषाद्विषयः -

यहाँ वाक्य कई उच्च व्यापार के बिना ही कर्तृ वाक्यपूर्व है अतः कविप्रौढी की अभिव्यक्ति करता है यहाँ कविप्रौढी विषय होती है ।^१

यह अर्थार्थ की दृष्टि है दो भागों में विभक्त हो जाता है -

१- वस्तुअर्थ

२- कर्तृअर्थ

१- वस्तु अर्थ -

अर्थ की दृष्टि है इसके दो भेद हैं -

१- कविप्रौढीविशेषाद्विषयः शरीर अर्थात् कविप्रौढीविशेषाद्विषयः शरीर ।

२- स्वतःस्वामी

अर्थ की दृष्टि है विभक्त कविप्रौढीविशेषाद्विषयः शरीर स्वतः स्वामी, यह शरीर वाक्य प्रकार की होती हैं । यह प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं --

१- परप्रकार-प्रौढीविशेषाद्विषयः वस्तुअर्थ

२- वाक्यप्रकार-प्रौढीविशेषाद्विषयः वस्तुअर्थ

३- परप्रकार-स्वतः स्वामीविशेषाद्विषयः वस्तु अर्थ तथा

४- वाक्यप्रकार स्वतः स्वामीविशेषाद्विषयः वस्तुअर्थ

२- कर्तृअर्थ -

इसमें एक भेद प्रबन्ध से भी भासता होता है अतः इसके पंच भेद हो जाते हैं^४

कर्तृ अर्थ में केवल दो अर्थ होते हैं । :-

१- कविप्रौढीविशेषाद्विषयः यथाः व प्रकाश ।

यस्तात्पण्य वस्तुअर्थव्यवस्थावृत्ति विना स्वतः ॥ ध्व० २।२२

२- प्रौढीविशेषाद्विषयः स्वतः स्वामी स्वतः ।

यहाँ वि विविधः प्रौढी वस्तुनो न्यस्य दीपकः ॥ ध्व० २।२४

कविप्रौढीविशेषाद्विषयः प्रौढी ।

कविप्रौढीविशेषाद्विषयः व प्रकाश परी ध्वनेः ॥ ध्व० २।२५

३- यह शरीर वाक्यप्रकाश के लिए ध्वन्यालोक ३।१ की वृत्ति दृष्टव्य है ।

४- अनुस्मानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः । ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केचन ॥ ध्व० ३/१५

५- कविप्रौढीविशेषाद्विषयः, कर्तृअर्थ द्वौ भेदः - व्यापित्वमात्रेण-

व्यपन्ती व्यापित्वमात्रेण ।

१-बल्लू और २-कलंगार । जय: हमने बहुत ही मेहनत की है -



(१) **अन्तराष्ट्रिय व्यापार संस्था**

(२) बलपुत्रारवाहोत्तराख्यम्

जब: अक्षितबुद्धि अस्मानोक्तार्थव्यभिर् नै - वस्तुमार्थ के सम्बन्ध -
 १ नै और अक्षितार्थव्यभिर् नै सम्बन्ध २ नै भिन्नकर कुछ ३ नै होती हैं ।
 इन बातों के उदाहरण भी आनन्दवर्मा ने दिए हैं -

१- सप्तशतकं प्रौढोक्तिमात्रमिच्छन्नाप्येकतन्त्रमुपलभ्यमानं -

यथा हरविजयम् -

सुन्दरानन्दं वृणोष्वर-मह्य्यनाम्बुरामोदं ।

अनापिचं वि वशिष्ठं सुमुखरेण यमुनाकण्ठीपुत्रं ॥

यहां सुमनहर (कामदेव) ने वास्तविकता की कल्पित पुनर्-प्रतिष्ठा की।
 उसने बिना कल्पित किए ही उस कल्पना का अभिव्यक्ति करने वाला 'कल्पित'
 पद अर्थवत् है कामदेव के कलाकार-की वस्तु की प्रकट कर रहा है।
 यह अभिव्यक्ति कि वह है ही रही है यह कल्पित या उसकी प्रतीति उचित
 है विवक्षित है।

यहां एक समय अवधि है कि उपर्युक्त पैर की जो पैरों वस्तुओं के कपड़े का भार है और इसे उधारण में मनुष्यासक्तियों को एक सुन्दरी के रूप में और सुन्दर काम को रक्षित युक्त के रूप में विहित करने पर यहां कनाडीति कर्तार माता का उल्लास है । अतः यहां अर्थ कर्तार रूप है।

फिर भी, क्या समझाने में नहीं आया है कि यहाँ वर्तमान बिना
मुक्तन के स्वतः जा गया है । का: कोई दोष नहीं । और वह पूरे हकीकत है
वो वर्ष प्रतीत होता है उसमें 'व्यक्ति' पर अधिक दृष्टि है का: इसे उपर्युक्त
ध्यान में के उदाहरणार्थ यह उत्ती है ।

२० वाक्यपुनराशयप्रीहोक्तिमात्रनिष्पन्नायैकतुल्यमवस्तुत्वाय -



१- आयोग शुद्ध

‘अथैव गुरभिनाद्यो न वाच वचैव कुल्लवणात्मकसु ।

वहिन्यावत्स्यार्युर्दे जयवत्स्यवत्ते वचनैस्व वरी ॥

उन्होंने गुरभिनाद्य वाचों को तैयार कर रखा है, किन्तु जानबूझ कर वचन नहीं कर रखा है - यह कविप्रीडोक्तिमान है निश्चय है और यह वक्तव्यमान है वहिनाद्य वाचोन्वाद्येभ्य वस्तु को व्यक्त कर रखा है । इसकी प्रतीति में प्रत्येक पद वक्रिय है, अतः यह वाक्यप्रकार का उदाहरण है ।

वाचम्यवकीन नै ह्यी केद में एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है -

अतिरिणि क्व नु वाच अतिरिणि किमिमानमसापकरोत् तवः ।

सुसुति येन तवापरपाठं वदति विम्वकत्तं दुष्ठाकः । (च्यव० २२५-२६८)

यह किसी वाचिनाद्य वस्तु की उक्ति है । इसके अन्त में सुन्दारे केही चीज वाचा की मारी वाच्य की बात है, स्वयं सुन्दर का उना तो बहुत दूर है - यह वस्तुमान प्रतीति वाक्यार्थ से व्यक्त हो रही है । वहाँ वाक्यार्थ से जो अभिप्रेत अर्थ प्रकट हो रहा है वह वचिनाद्योक्ति रूप है । और यहाँ प्रतीय अर्थकार भी है क्योंकि विम्वकत्त अवर की उक्ता माना जाता है किन्तु, वहाँ अवर की उक्ता माना जाता है और विम्वकत्त को उपमेय । इसी व्यतिक्रम से यहाँ प्रतीय अर्थकार है । यह सब कविकल्पनाप्रसूत है ।

उस अर्थ में जो पठता उदाहरण दिया था उसका अन्त स्वयं कवि था अतः यह कविप्रीडोक्तिविहित अर्थ था । उस सुन्दरे उदाहरण का अन्त कवि द्वारा उपस्थित कोई व्यक्ति है । अतः यह कविनिश्चयवस्तुप्रीडोक्तिविहितार्थ है । उनके वाचा पर प्रीडोक्तिविहितार्थ है अन्व अन्व अर्थ की वर्णना में कोई वचिनाद्य नहीं आता । अतः वाचम्यवकीन नै इन दोनों को केवल नहीं माना है ।^२

१- पदप्रकारवत्ताः सम्भवत्युक्तिवाचितवस्तु अन्व-

अतः-

वाचिनाद्य वचिनाद्य कुतो वचनार्थ वचनविहीन ।

वाच वचिनाद्यकुतो वचिनाद्य वचिनाद्य वचिनाद्य ॥

१- च्यव० २६८ ।

२- च्य० २१२ की वृत्ति ।

उसके विपरीत रात्रि में बैठ करने और मित्र जाति के विपरीत से रहित निश्चिन्त होकर यत्न करने में कृपातक यह वास्ता है कि वे तीन कुशलिक एक यहाँ छुट्टी, कुशलिक के साथ द्वारा मुझे जाने की मित्र जाति । अतः यह मूल वास्तव के सम्बन्धियों की सम्बन्धिता कुछ कहता है -

वास्तविकीऽयं विपरीत मुद्राः स्नेहं पुनः सम्पन्नम् ।

बहुविधनी मुद्राऽयं वीर्यदधि कदाचन ॥

अमुं कल्पनाभिं वास्तवप्राप्तयौवनम् ।

मुद्रावाक्यात् कथं मुद्रास्तव्यव्यवस्थितिकिताः ॥

उस प्रकार यहाँ मूल और कृपातक की उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ज्ञान और वैराग्य का उपलब्ध वे रहे हैं और दोनों मूल वास्तव के सम्बन्धियों के बड़े स्तिथि हैं किन्तु, उनका रहस्य सब ज्ञात होता वह भीष्म कहती हैं - वे अपने स्वाधीनता सेवा कह रहे हैं, वस्तुतः वे दोनों अब यत्न से अपनी जगह की सुविधा करना चाहती हैं ।

उस प्रकार यह पूरा प्रकरण वास्तव रूप में शास्त्रीय ज्ञान प्रस्तुत करता है, किन्तु उसी वस्तुस्थिति ही रहा है - दोनों स्वाधीनता का स्वार्थ । मूल और कृपातक की उक्तियाँ प्रकल्प है प्रकाशित और स्वतःस्थित हैं । अतः यत्नानास्त का यह पूरा प्रकरण प्रकल्पप्रकारवस्तुतः सम्बन्धितिकितामूलकवस्तु स्थिति का स्थल है ।

६- अन्तरप्रकाश अन्तर स्थिति -

उपलब्ध

यथा -

प्राप्त्यन्तीरेष कस्मात्पुनरपि नयि तं नान्यतेयं विपत्त्या-

न्विष्टानप्यस्य पुनर्मित्तकननसो नैव सम्पादयामि ।

केतुं वप्नाति मुखः किमिति य वस्तुशीलनामानुयात-

स्तव्यवावाते मित्तकनिति वस्तु वप्नाति कल्पः कयोधेः॥

१- अर्थ पृ० ३१२ की सुविधा ।

क्या किं वही अपनी प्राप्ति ही नहीं है तब फिर यह क्यों मुझमें मन्व्य
करेगा ? बाह्य-रहित मन बाहे अपनी विद्या की भी सम्पादना नहीं ही करता
हूँ, क्या अन्त हीनार्थों के अनुगत यह पुनः हेतु बनायेगा ? इस प्रकार सुन्दरी
आत्मन पर किसी की चारण करता हुआ अनु का मन्व्य प्रतीय हो रहा है ।

यहाँ वाच्य है अन्तर्गत और उत्प्रेक्षा का संकर । इससे व्यक्त हो 'स-व-
रहा' कीर पुरुष पर विष्णु का चारीय और यह चारीय है एक कर्तार^१ ।
इस प्रकार यहाँ कर्तार है कर्तार ही व्यंग्य हो रहा है ।

(२) आनन्दवती ने स्वकर्तार व्यंग्य का एक और स्वरूप उदाहरण
दिया है -

आनन्दकान्तिवर्तिपुस्तिकिमुनेऽस्मिन्
स्मैऽपुनः तव मुने तत्तावतापि ।
शौचं कौटिलि न मनापि तेन ज्ञेयं
मुष्कमेव कठराशिर्यं पयोधिः ॥

है पंचक कीर आनन्द नेत्रों वाली सुन्दरि, तुम्हारे मुन के मुत्तान की आनन्द
कान्ति के विशारं पर उठीं । जतने पर भी, इस अनु में मनापि शौच(प्यार)
नहीं आया, निरन्व ही यह कठराशि है ।

यहाँ पर कठराशि में रहने है, संस्कृत में 'क' और 'ठ' प्रतियोगों में कौटिलि माना
जाता है । अतः 'कठराशि' उच्य का कर्त होना कृता की राशि । किन्तु तनिक
भी कौटिलिनीय नहीं है । कौटिलि कृ है । अतः वाच्य कर्त है । इससे व्यंग्य हो
रहा है - मुन पर कम्पना का चारीय यही स्वकर्तार है । अतः यह भी कर्तार
है कर्तार व्यंग्य का उदाहरण है ।

२- उक्ता-

वीरार्ण रम्य मुष्टिगणनाम्नि न तदा पित्राचनुज्ज्वले ।
विदुडी शिवमनुज्ज्वलम्नि न तदा वरुणसिन्धुरे ॥

- १- पृष्ठ २५३
- २- पृष्ठ २५३
- ३- पृष्ठ २५३ ।

वीरों की दृष्टि प्रिया के कुसुमारुह्य स्तनों पर उतनी नहीं रुकी किसी चिन्तुर से नरे मन्दुर्गों पर रुकी है ।

यहां प्रिया की अपेक्षा कुछ कार्य में बाधकता का बाधक्य बाध्य है । यह व्यतिरेक कर्तार है । और स्तनकुम्भ और मन्दुर्ग की पुष्पा प्रीति ही रही है । यहां पुष्पा-पुष्प उपा की व्यंज्य है । अतः यहां भी कर्तार है कर्तार का स्वर देता वा उचता है ।

वानन्दवर्मा ने लकी प्रकार बाधक्य, व्याप्तिरन्वयाह, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रतेय और व्याख्येय की प्रतीयमानता काटाई है । और प्रत्येक के उपाकरण की प्रस्तुत किए हैं ।

७ वस्तुपुकारय कर्तार ^{अङ्ग} -

यथा-

बाधक्य कर्मादिते पुष्प एव बाधक्यो नञ्जिहवः

मा मानुषी ठीके त्यागकरावो दरिद्रप ॥

अवति कंठ में निष्पन्न और पुष्प वृत्त नठे ही बनना नठे किन्तु मनुष्यलोक में स्थानी होते हुए भी दरिद्र न मनु ।

यहां दो बाध्य कर्म निष्ठ रहा है उधमें कोई कर्तार नहीं है ^१ । किन्तु बाध्यार्थ है यह प्रीति ही रहा है कि वक्ता, मनुष्य होकर दरिद्र बनने की अपेक्षा दरिद्र कृता बनना अधिक वैध समझता है । अतः यहां कर्तार रहित बाध्यार्थ है व्यतिरेक कर्तार व्यंजित ही रहा है । क्योंकि यहां बाध्यार्थ में कोई कर्तार नहीं है अतः इसे वस्तुपुकार मानना हीना । अतः यहां वस्तुपुकारय कर्तार व्यंज्य है ।

एव 'वस्तुपुकारय' व्यंज्य 'अवि' में एक तत्त्व विशेष रूप है अवयव है कि उधमें है ही कर्तार व्यंज्य माने जा सकते हैं जिनमें बाध्यार्थ की अपेक्षा व्यंज्यार्थ में बाधक्यत्व बाधक्य ही ^२ । यह बाधक्यत्व बाधक्य तब ही निश्चय ही अधिक रहेगी

१- अब बाध्यकर्तारों न करिषु - डॉ० प्र० २००- यह अविनयगुण का मत है ।

२- कर्तारान्तरव्यंज्यमार्थ व्यंज्यता नैव ।

यदि व्यंग्य वर्णकार वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रमाण रूप से वास्तव्योक्त्यर्थ होता है तो वह ध्वनि काव्य के अन्तर्गत आ जाता है। ध्वनि का प्रियता माहात्म्य है। जो वर्णकार काव्य के उद्गीत - उच्च वर्ण के उपकरण नाम होते हैं वे ही ध्वनि काव्यकोटि में आते ही काव्यात्मा बन जाती हैं।

वे हुए स्वरुपनामक लघुनिबन्धन विवक्षितान्वयवाच्य ध्वनि के पैदा।
यहां तक ध्वनि पैदा का विवेक हुआ अब गुणीकृत व्यंग्य काव्य का विवेक करें।

गुणीकृत व्यंग्य काव्य -

जब प्रतीयमान वर्ण वा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रमाण रहता है और उससे वाच्यार्थ का ही वास्तव्योक्त्यर्थ होता है तो वहां काव्य का अन्य प्रकार - गुणीकृत व्यंग्य होता है।

यह गुणीकृत व्यंग्य काव्य ध्वनिनिष्पन्नरूप है। क्योंकि वर्णों की प्रतीयमान का संस्पर्श रहता है। जिस काव्य को प्रतीयमान वर्णों के संस्पर्श का सीमाभ्य नहीं मिलता, वह अनुप्रास का रूपधारि नहीं होता। अतः गुणीकृत व्यंग्य काव्य में भी व्यंग्यार्थ रहता है किन्तु सीमा रूप से।

ध्वनि और गुणीकृत व्यंग्य के मध्य केवल फरकवार परिणाम का ही अन्तर है, वाकार का नहीं। बल्कि दोनों के पैदा में प्रायः समानता है।

गुणीकृत व्यंग्य काव्य के पैदा :-

जानम्बवनी ने गुणीकृत व्यंग्य के पैदा का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है :-

१- तिरस्कुववाच्य

२- अविरस्कुव वाच्य

१- उद्गीतकर्ण पैदा वाच्यार्थ न व्यवस्थितम्।

तैः वर्णकार परां वाच्यार्थं वाच्यं व्यंग्यं नवः॥ अ० २।२८

२- अ० ३।२८ की वृत्ति

३- अ० ३।२८-३।२९।

(१) तिरस्कृतवाच्य :-

ठावज्यसिन्धुराश्रय हि केनचन यतोत्पत्तायि उचिता एव संभवन्ती ।
 ठावज्यसि तिरस्कृतवाच्यी य का यमापरी ज्यतिनायकगुणाजयम् ।
 एवं कम में ठावज्यसिन्धु किसी जसुक्त दुन्दरी की कथा का रहा है, कथ
 उसके ठोपनों की, कथना उसके मुह की, कथिन्धु उसके सन की, ज्यतीरज्य
 ठावज्य की तथा गुणाजयक वाच्य की । सिन्धु वैशिष्ट्य यह है कि दुन्दरी
 या उसके जनों के वाचक ज्यों का प्रमाण नहीं किया गया है । परिणामतः
 ठावज्यसिन्धु वाचि पनों से निकलने वाले वाच्य-वर्ग का परित्याग करने पर
 दुन्दरी विषयक ज्यों की प्रतीति होती है । एवं परिकल्पित है जो वर्ग प्रतीयमान
 वर्ग के रूप में निकल रहा है यह है - 'वाकाङ्क्षता स्त्री सिन्धु की ज्येष्ठा
 नायिका स्त्री सिन्धु की उत्पत्तता' । इसके साथ ही वाकाङ्क्षता और नायिका
 स्त्री सिन्धु के बीच अतिरिक्त भी है । क्योंकि वाकाङ्क्षता में यदि कथना
 रहता है तो प्रकृत कथ नहीं, कथ कथ की वैकल्य कथ ही जाती है ।
 ज्येष्ठतम सिन्धु एवं दुन्दरी स्त्री सिन्धु में दोनों साथ साथ विस्तार दे रहे हैं ।
 अतिरिक्त-वर्णन की प्रतीति यहाँ वसिष्ठवर्णित-वर्णन के द्वारा प्रतीयमान
 वर्ग के रूप में ही हो रही है । अतिरिक्त स्त्री प्रतीयमान वर्ग की प्रतीति
 'केनचन' यह है ही रही है । और इससे जो कथकार निकल रहा है वह वाच्य-
 सिद्धि का ही वर्ग है । क्योंकि प्रतीयमान वर्ग के ज्ञान से जो ज्ञानमन्वीय ही
 रहा है, वह वसिष्ठवर्णित से होने वाले वाच्यार्थ के ज्ञान से न कम है और
 न अधिक । एवं प्रकार एवं उचित में वाच्य और अर्थ दोनों ज्यों का कथकार
 भाषा में ज्ञान है । अर्थ का कथकार, भाषा में वाच्य के कथकार से
 अधिक नहीं है । कथतः यह स्पष्ट 'गुणीभूतवाच्य' का है । और क्योंकि
 इसमें वाच्य वर्ग में परिकल्पित होता है अतः यह तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतवाच्य
 का स्पष्ट है ।

(२) अतिरक्त वाच्य :-

इसमें वाच्य वर्ग में परिकल्पित नहीं होता ।

इसके भी पैर हैं :-

(क) वेदान्तसूत्रार्थ -

इसके अन्तर्गत वेदान्तसूत्रार्थ ने केवल रसादिर्लभ्यार का ही प्रतिपादन किया है। वेदान्तसूत्रार्थ ने 'रसम्' पर का कर्तव्य पूर्वकीर्ति वाच्यार्थों के विषय रूप में किया है। पूर्वकीर्ति वाच्यार्थों ने रसम् शब्द का कर्तव्य किया था 'रस है सुख'। किन्तु वेदान्तसूत्रार्थ ने 'रसम्' शब्द का कर्तव्य 'रसुत्पत्ति' किया। 'रसम्' पर मैं प्राचीन वाच्यार्थों ने मनुष्य प्रथम माना था। वेदान्तसूत्रार्थ ने तुल्यार्थक वसि प्रथम माना। तुल्यार्थक वसिप्रथम है रसम् शब्द की निष्पत्ति मानकर वाच्यार्थ वेदान्तसूत्रार्थ ने रसम् के विषय में अपना नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा कि रस क्या प्रमाण ही रसता है, किन्तु पर कब अनुमान ही जाता है तब पर रस न कहलाकर रसादिर्लभ्यार कहलाता है। क्योंकि पर सुख ही होता कहलाता हुआ दिखाई देता है। वस्तुतः पर रस ही नहीं जाता। पर ही स्वायी भाव या संसारी भाव ही रसता है। केवल वेदान्तसूत्रार्थों की ज्येष्ठा पर भाव की स्थिति सुख वसि प्रुष्ट रसता है। वहीलिए इसे रसादिर्लभ्यार कह दिया जाता है। उदाहरणार्थों की कवि अपने वाक्यदाता है कहता है :-

किं वास्येन न मे प्रजास्वधि पुनः प्राप्तिरिवाद् कर्तुं

केन निष्कर्षण प्रजासह-विता, केनापि दूरीकृतः।

स्वप्नान्तेऽपि ते कम् प्रियमन्वापन्नकच्छन्तो

मुक्ता रीतिरिति रिक्तबाहुल्यस्तारं रिपुस्वीकृतः ॥

इस पर मैं राधा की स्तुति प्रमाण है। स्तुति में कवि राधा की पादु-काशिता कर रहा है, जिसमें अनुसारियों की कर्तव्यस्थिति कर्म का रही है, और कौन है बाहुल्य प्रयोर्लभ्यार। कर्तव्यस्थिति प्रयोर्लभ्यार को प्रुष्ट कर रही है। कर्तव्य रस का स्वायी भाव- 'हो' है। वहां हो की स्थिति, वेदान्तसूत्रार्थों की ज्येष्ठा वसि प्रुष्ट ही नहीं है, का: उसे रस के प्रमाण या रसम् कहा जा सकता है।

कभी-कभी अनुमान रस के साथ कर्तव्यार की रिक्त रसता है। क्या -

१- वेदान्तसूत्रार्थ : पृ० २०३, २०४।

शिङ्गो वस्तापकणः पुन्यमिच्छाऽप्यापदानोऽप्युक्तम् ।
 गृह्णन् कैशेयवास्यरक्षणमिति नै-मित्तः संश्रयः ।
 वाञ्छन् योऽप्युक्तस्त्वित्युक्तमिति वाञ्छन्मौलिकामिः
 कामीवाङ्मिरावः स वस्तु पुष्टिं वाञ्छन्मौ सः वराभिः ॥

यहाँ शिङ्गो (शिव जी) का पुनावाचिष्ठ वाक्यार्थ (कौं) है । वीर
 कामी है चिह्नक वार कामी के पुष्टि ईश्वर है चमिष्ठ विपुल्य तत्त्व कहण
 कं हैं । इन दोनों के साथ यहाँ रहैनीकामावामक कर्णार भी है, क्योंकि वामि
 के सभी विशेषण कामी में छातू होती हैं वीर कामी के कामे स्व प्रकार उक्ता-
 पुष्टिपाक वाम भी यहाँ कथित हैं । स्व प्रकार यहाँ रहैनीकामावामि विपुल्य
 वीर कहण शिव के पुनावाचिष्ठ के पुष्टि कं हैं । उन्हें यहाँ कर्णार या
 रवाचिर्णार कहा जाता ।

वस्तुमिच्छावस्तु कतिपय कौशार्थ का मत है कि रवाचिर्णार नहीं रहै
 यहाँ केवल वस्तु का पुनाव होना । यदि केवल वस्तु का पुनाव ही हो उक्त
 पुनाव नहीं होना चाहिए । पुनावता सभी केवलवस्तुपुनाव में ही होनी चाहिए ।
 यह वस्तु यहाँ तक ठीक है यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इसके ^{रहे} केवल वस्तु
 भी मिली हैं, किन्तु केवल की पुनावता रखी है वीर रक्षण में कभी नहीं
 जाती । यथा- विपुलीवीथीय में -

तद्वस्तुमौ श्रुतिविस्तरेणीरक्षा
 विस्तरेणी केन वस्तुमिच्छा संश्रयमिति ।
 यथापि याति स्वचित्तमिति वाच्य बहुधा
 मदीरुपेण्यं पुन्यवस्तु वा परिणता ॥

यह वामि, उक्त है विपुल्य पुराणा की है, जो केवल नहीं को
 उक्त करके नहीं गई है । उन्हें केवल नहीं की ही पुनावता है ।

१- (१) अथ पु० १६६

(२) वाच्यवामि : पु० २०६ ।

उसी प्रकार एक और उदाहरण है -

अन्वी नैवकाकुपितस्तथा मीमांसोवाभुविः

मुन्वेवाभरणीः स्वकाकभिरवाप् विमान्तमुन्वीरुमा ।

विन्वामीपदिवाभिरा मनुज्यां उन्वीकिता उन्वी

यन्वी नामन्तुव पादपक्तिं वातामुवायेव वा ॥

यह उक्ति भी उन्वी की प्रथि पुनरुपा की है । उदा अनेकन यह है और उदा के रूप में उन्वी का चित्रण किया गया है, उन्वी के कारण उन्वी वादरूप है ।

उपस्थित उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि रत्नचर्चंगर में अनेकन वस्तुवृत्तान्त की प्रमाणता रत्नी पर भी रक्षणा में कमी नहीं जाती ।

यहाँ तक अक्षयप्रमाण्य के गुणीभूतव्यंग्य का प्रतिपादन किया गया । वाचस्पत्युनी ने अक्षयप्रमाण्य गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत केवल रत्नादिचर्चंगर के ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।

(घ) चतुराणनीकव्यंग्य :

चतुराणनीकव्यंग्य दो रूपों में गुणीभूत होता है -

(१) वस्तुव्यंग्य

(२) अक्षरार्थ व्यंग्य

(१) वस्तु व्यंग्य गुणीभूतव्यंग्य -

चतुराणनीक वन्वा विवक्तव्यपुरस्वरः ।

अर्था देवतिथिपता न तदापि अनामनः ॥

यहाँ अंगी है वाच्यार्थ - वन्वा और विवक्त की स्थिति तथा अंग है व्यंग्यार्थ - वाच्य और वाचिका की स्थिति यहाँ अनालोति अक्षरार्थ है । अनालोति में अप्रस्तुत का वृत्तान्त उसी प्रकार अप्रमाण और प्रस्तुतकी प्रमाण की शोभा को बढ़ाने वाला होता है । यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त - अनालोति नामक अक्षरार्थ का उदाहरण है, स्वयं अक्षरार्थ नहीं, काः वस्तु व्यंग्य है । यह प्रकार यहाँ अप्रस्तुत-वृत्तान्त व्यंग्य है किन्तु अप्रमाण वा गुणीभूत होकर ।

(२) कठंगार रूप गुणीभूत व्यंग्य -

आनन्दवर्मा ने इस वर्ग के छह ऐसे ही उदाहरण दिए हैं जिनमें कठंगार की व्यंग्यता कठंगार से ही होती है । ऐसे व्यंग्यों को उन्होंने तीन भागों में बांटा है -

(१) - वे व्यंग्य जिनमें व्यंग्य रूप में कोई सामान्य कठंगार प्रतीत होता है, जैसे एक आदि में उफना या लगी कठंगारों में अतिशयोक्ति ।

(२) - वे व्यंग्य जिनमें कोई विशिष्ट कठंगार व्यंग्य होता है, जैसे व्यावस्तुति में प्रयोजनार्थ तथा

(३) - वे व्यंग्य जिनमें परस्पर व्यंग्यता रहती है, जैसे दीपक में उफना व्यंग्य रहती है और उफना अर्थात् यादोपमा में दीपक ।

वस्तुतः वाक्याङ्गारों को व्यंग्यता व्यंग्याङ्ग के संस्पर्श का सामान्य मिलन पर भी, वाक्यार्थ का प्राधान्य हो जाने के कारण उन्हें गुणीभूत व्यंग्य काव्य की श्रेणी में रखा जाता है ।

काव्य से आश्रित गुणीभूत व्यंग्य

काव्य से आश्रित व्यंग्यार्थ गुणीभूत होता है, व्यंग्यार्थ के गुणीभूत होने के कारण ही इसकी गणना भी गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर्गत होती है । यथा- वैजयिन्धर का मुक्ताङ्क कहता है - 'पुनराव्युत्पन्न स्वस्व हों, इसे मुक्ताङ्क भीमसेन मुक्त होकर कहता है - 'स्वस्वा मन्मथि यथि दीपति पातराव्याः' भीमसेन की यह उक्ति है स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्व नहीं देना चाहता । उसके साथ यह भी व्यंग्य हो रहा है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने क्या व्यवहार किया है । यह सभी व्यंग्यार्थ काव्य स्वर से व्यंग्य हो रहे हैं और यहाँ सभी व्यंग्यार्थ गुणीभूत हैं अतः काव्य से आश्रित गुणीभूतव्यंग्य का स्पष्ट है ।

१- अर्थ पृ० ४६-७९ ।

२- अर्थ पृ० ४७९ ।

३- वाक्याङ्गारकों में व्यंग्याङ्गानुसंगे अति ।

प्रायेणीय परां हायां विप्रलम्बे निरीक्ष्यते ॥ अर्थ २१३६ ।

काकुनात्र वे सर्व विरोध की प्रतीति नहीं होती । बल्कि उच्च उचित के अभिव्यक्ति की सामर्थ्य से वाचिष्ठ काकु के सर्वोपयोग से सर्वविरोध की प्रतीति होती है और वह (अर्थ) सर्व काकुविरोध की उदात्तता बाटे उच्च के व्यापार से उपासक होकर भी अव्यक्तप्राप्त होने के कारण अर्थ रूप है । किन्तु, अर्थवैशिष्ट्य प्राप्त होने पर भी वाच्यविवादी होने के कारण इसे गुणीय अर्थ के अन्तर्गत रखा गया है ।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्मा ने एक स्थल पर बताया है कि अर्थ सर्व किन-किन स्थितियों में गुणीय होता है -

अर्थस्य कदाप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।

कौटोक्तस्यापस्तम्ब वाच्यार्जुनयः स्फुटाः ॥

अर्थस्य प्रतिभापार्ते वाच्यार्जुनयः सि वा ।

न अर्थस्य वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥

इसका विश्लेषण करने पर हमें अर्थार्थ का चार स्थानों में गुणीय-अर्थक्य बताया गया है -

- १- वाच्यमात्र का अनुयायी होने से अर्थ का अप्राधान्य
- २- अर्थार्थ की प्रतिभा मात्र या अतिशयप्रतीति (कठमात्र)
- ३- वाच्यार्थ का अनुयायी होने से, वाच्य अर्थ का अप्राधान्य
- ४- अर्थार्थ का अस्फुट प्राधान्य

इस प्रकार आनन्दवर्मा ने गुणीयअर्थक्य का प्रतिपादन अन्वयात्मक में एक स्थल पर नहीं किया है वह स्थल-स्थल पर बिखरा हुआ है । परन्तु वाच्यार्थ मन्मटादि ने इसे संकुचित करके बाठे स्थानों बाँटा बताया है ।

१- अर्थः पुण्य -

२- अनुसन्तरस्यापि वाच्यवैशिष्ट्यमस्फुटम् ।

अन्विष्टस्यप्राधान्ये वाच्यार्थस्यानुसन्तरम् ॥

अर्थस्य गुणीयत्वमर्थस्याष्टौ भिन्नाः स्मृताः ।

वाच्यप्राप्त ११४५ पु० १२६

अंग्यों का प्राधान्याप्राधान्यविषयः

वाच्य और अंग्यों के प्राधान्य और अप्राधान्य का विवेक एक दुष्कर कार्य है क्योंकि इन्हें बहुत ब्रह्म बुद्धि और गम्भीर प्रयत्न की आवश्यकता रखती है। अन्यथा यह स्पष्ट करना कठिन हो जाता है कि कहाँ अंग्य है, कहाँ गुणीय-अंग्य और कहाँ अङ्गकार - इस विवेक^३ बिना अंग्यार्थ की बात तो दूर प्रसिद्ध अङ्गकारों के विषय में भी व्यामोह हो जाता है।

यथा -

भावव्यपृथिव्यव्यवो न गणितः कठेनो महान् स्वीकृतः

स्वच्छन्दस्य पुत्रं कस्य वक्तः विन्तापतो वीक्षितः ।

एवापि स्वमेव तुल्यमजाभावादराकी क्ता

कौऽपीवेति वेमहा विनिश्चितस्यव्यास्तनुं सम्भवा ॥

यहां० कतिपय उमाठोपकों की व्यावस्तुति का प्रश्न हो जाता है। वस्तुतः यहाँ अप्रस्तुतप्रश्न है। यह कमीतीति का क्या है और एक ऐसे व्यक्ति के प्रति कहा गया है जो कौन गुणी का, किन्तु उसे सम्मान देने वाला कोई नहीं था। सम्भवतः यह वह कमीतीति है स्वयं के लिए किया है, क्योंकि कमीतीति ने कभी नाम के अन्य रूप भी लिये हैं।^१ यहाँ व्यावोक्ति नहीं है क्योंकि यह किसी अनुराग युक्त व्यक्ति की उक्ति नहीं है। यह उक्ति किसी विरक्त पुराण की भी नहीं है। क्योंकि वाच्यार्थः विरक्त का मन स्त्री की ओर नहीं जाता। अतः यहाँ अप्रस्तुत प्रश्न ही है। इन्हें अंग्यार्थ प्रमान है, वाच्यार्थ अप्रमान। और अप्रस्तुतप्रश्न अङ्गकार।

यदि यहाँ व्यावस्तुति होती तो वाच्यार्थ प्रमान होता और अंग्यार्थ अप्रमान।

१- वाच्यव्यव्यवोः प्राधान्याप्राधान्यविषये परः प्रकृतौ विचार्यः, येन अंग्य-गुणीयुष्यअंग्ययोरङ्गकाराणां वाच्यीणां विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धाङ्गकारविषय एव व्यामोहः प्रकृतिः। अथ० ४८६-४८७।

२- अथ० सू० ४८६।

निश्चय ही व्यंग्यार्थ के प्राधान्याप्राधान्य का निमित्त एक बहिष्कार है । क्योंकि
 यही व्यंग्यार्थ अति तथा गुणीकृतव्यंग्य का निमित्तक कल्प है ।

अति उल्लिखन -

ऊपर व्यंग्य-वर्ग की प्रमाण और अप्रमाण रूप से विविध स्थितियों
 का वर्णन किया गया है, वही व्यंग्यार्थ कभी - कभी अन्य संदर्भों से भी निमित्त
 रहता है । दो निम्न प्रकार हैं -

- १- अति रूप
- २- गुणीकृतव्यंग्य रूप
- ३- वाक्यालंकार रूप
- ४- संवृष्टालंकार रूप

ये निमित्त की दो प्रकार से होता है -

- १- संकर रूप
- २- संवृष्टि रूप

संकर में निमित्त वस्तुओं का पैर प्रतीत नहीं होता, कब कि संवृष्टि में
 उसकी प्रतीति होती है । संकरात्मक निमित्त का उदाहरण है पुनः पानी का
 निमित्त, कब कि संवृष्टि रूप निमित्त का उदाहरण है लिखतज्जुह का निमित्त ।
 संकर तीन प्रकार का होता है - अनुप्रास्यमानुप्रास्यमाय रूप, अन्यैव रूप तथा एक-
 वाक्यानुप्रास्यमाय ।

एक प्रकार उपर्युक्त का बार कल्प - अतिरूप, गुणीकृतव्यंग्यरूप, वाक्या-
 लंकाररूप तथा संवृष्टालंकाररूप का निमित्त संकररूप तथा संवृष्टिरूप से होने पर
 यह अनेक प्रयोगों का उदाहरण होता है ।

निमित्तक -

कभीकभीकभी का संस्पर्ध नहीं होता वहाँ निमित्तक होता है ।
 निमित्तक उच्च और अर्थ के पैर से दो कोटियों में विभक्त हो जाता है -

१- अनुप्रास्यमानुप्रास्यमायः वाक्यालंकारैः उच्च प्रयोगैः स्वीः ।

संकरसंवृष्टिभ्यां पुनरनुप्रास्यमायैः ।। अ० ३१४२

१- उच्चवित्र

२- वाच्यवित्र

उच्चवित्र, पुष्कर कमल आदि हैं। और व्यंग्यार्थ से संदर्भ से रहित, प्रामाण्य तथा वाक्यार्थ रूप से स्थित एवं रह आदि तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षादि वाच्यवित्र हैं।

ज्या: एक भाव-आदि तथा व्यंग्यमात्र की विवक्षा न होने पर जो व्यंग्यकार का नियन्त्रण है, वह वित्र का विषय माना गया है।

निष्कर्षतः ज्ञानान्तरधर्म ने काव्य का एक ही रूप माना - ध्वनि काव्य। व्यंग्य अर्थ की प्रयोज्यता तथा अप्रयोज्यता के आधार पर काव्य के दो प्रकार निश्चित किए - ध्वनि काव्य और गुणीकृतव्यंग्यकाव्य। इन दो के अतिरिक्त निष्कर्षतः विद्वत्काव्य को उन्होंने वस्तुतः काव्य माना ही नहीं। उसे काव्यानुकूलि कहा काव्य का वित्र-मात्र कह कर ब्रजन कर दिया।

‘गुणीकृतव्यंग्यकाव्य’ भी व्यंग्य अर्थ की गीणता की दृष्टि से किया गया एक प्रकार है, जन्मवा पर्यवसायी रत्नावादि की दृष्टि से तो वह गुणीकृतव्यंग्य भी ध्वनि ही कथारत्ना -

प्रकारोऽयं गुणीकृतव्यंग्यो वि ध्वनिरुक्तान् ।

कते रत्नावादितात्पर्यं पयाडोपनया पुनः ॥

गुणीकृतव्यंग्यो वि काव्यप्रकारो रत्नावादितात्पर्याडोपने पुनर्धर्मिरेव सम्पद्यते ।

इतिर गुणीकृतव्यंग्य को ध्वनि का निष्कर्षकत्व कहा है तथाकिं उसने की मुठ में ध्वनि की ही उता है -

तस्य ध्वनिनिष्कर्षकपो द्वितीयोऽपि कलाकवि विषयोऽतिरमणिको कलाणी-
यः संप्रत्येः ।

१- ध्व० पृ० ४७४-४७५ ।

२- प्रमानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्त्वेन व्यपक्षिते ।

उने काव्ये, कतोऽयम् क्व दण्डिप्रमणिको ॥ ध्व० ३१४१

३- ध्व० ३१४०

४- ध्व० पृ० ४७४

एक प्रकार वस्तुतः वाच्य का एक ही स्वरूप है - ध्वनि ।

शब्द व्यापार

ज्ञानान्वयकी ने तीन प्रकार के शब्द व्यापार माने हैं -

१- वाचकत्व

२- गुणवृत्ति

३- व्यङ्ग्यत्व

१- वाचकत्व -

यह शब्द का मुख्य व्यापार है । इसमें शब्द जनिता वृत्ति के द्वारा शब्द का ज्ञान कराता है । जनिता व्यापार है शब्द के प्रसिद्ध या मुख्यार्थ का बोध होता है । और जो शब्द एक मुख्य शब्द उक्ति के द्वारा शब्द का ज्ञान कराता हो उसे वाचक कहा जाता है । ज्ञानान्वयकी ने वाचकत्व को शब्दविशेष का निमित्त माना है, क्योंकि व्युत्पत्तिविज्ञान से लेकर वाचकत्व का शब्द के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होता है ।

२- गुणवृत्ति -

ज्ञानान्वयकी गुणवृत्ति और वक्ति को एक ही मानती हैं । 'गुणवृत्ति' शब्द में ही इसका स्वरूप निहित है । संस्कृत में गुण के कई अर्थ हैं किन्तु यहाँ 'गुण' शब्द का अर्थ 'व्युत्पत्ति' है और 'वृत्ति' का अर्थ 'व्यापार' ।

ज्ञानान्वयकी कहती हैं - गुणवृत्ति शब्द का व्युत्पत्तिव्यापार है, और यह वाचकत्व पर आश्रित रहता है ।

१- तदर्थं शब्द व्यापारः त्रयः प्रकाराः - वाचकत्वं गुणवृत्तिव्यङ्ग्यत्वं च, ध्व० पृ० ७२६

२- वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य निमित्तं तात्प्रा व्युत्पत्तिविज्ञानादिव्य तदनिवार्यत्वेन तस्य प्रसिद्धत्वात् - ध्व० पृ० ४३६

३- ज्ञानान्वयकी ने वक्ति में ध्वनि के व्यङ्ग्यत्व का भी विवेक प्रस्तुत किया है उसमें वे उपसंहार के समय गुणवृत्ति के लिए वक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं - वाचकवाच्येणीव गुणवृत्तिव्यङ्ग्यत्वात् ।

व्यङ्ग्यत्वैकमुक्तस्य ध्वनेः स्वातन्त्र्यार्थं कम् ॥ ध्व० १।१८

४- (१) व्युत्पत्तिव्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धाः - ध्व० पृ० ४२४

(२) वाचकवाच्येणीव गुणवृत्तिव्यङ्ग्यत्वात् । ध्व० पृ० १।१८

(३) नगुणवृत्तिमुक्तत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते । ध्व० पृ० ४२४

वेदः

आनन्दवर्मी के अनुसार गुणवृत्ति के दो वेद हैं -

१- लोकोपकार रूपा तथा

२- उत्सागरूपा

(१) लोकोपकाररूपा -

इसे आनन्दवर्मी ने उपकार^१ भी कहा है। प्रकृतिक
उत्पत्ति का, अन्तः प्रकृतिक^{का} अर्थ के पाठ पर्युत्पत्ति। आनन्दवर्मी ने इसे तीन प्रकार^{का} कहा
है -

(१) वाच्यकामाभिध^४

(२) व्यंग्यकामाभिध^४

(३) निरुदात्म

(१) वाच्यकामाभिध -

व्यंग्यकामाभिध में उपकार या लोभ का कारण नहीं होता
है और वह भी उत्पत्ति: कथित रहता है। अन्वयलोक में इसका उदाहरण है -

(१) दीपजलता के कारण वाहक वणि^४ है।

(२) वाहकजलता के कारण पुष्प वन्ध^४ है।

(२) व्यंग्यकामाभिध-

व्यंग्यकामाभिध में उपकार या लोभ का कारण अभी वाचक
उत्पत्ति है कथित नहीं रहता। अन्वयलोक में इसका उदाहरण है -

प्रियका पुष्पक नहीं होता।

१- (१) गुणवृत्तिस्तु उपकारेण उत्सागरूपा लोकोपकाररूपा च भवति-अव० पृ० ४२३

(२) गुणवृत्ति: ----- लोकोपकाररूपा - अव० पृ० ४३३

२- वाचि उत्सागरूपा गुणवृत्ति: - अव० पृ० ४३३

३- (१) उपकारमात्रं भवति: - अव० पृ० १४९

(२) उपकारितव्य - अव० पृ० १४९

४-५ गुणवृत्तिस्तु वाच्यकामाभिधेण व्यंग्यकामाभिधेण लोकोपकाररूपा सम्भवति
यथा दीपजलतादग्निमात्रिकः, वाहकजलतादग्निमात्रिकः, वाहकजलतादग्निमात्रिकः, वाहकजलतादग्निमात्रिकः
यथा च प्रिया को नास्ति पुष्पकम् इत्यादी। अव० पृ० ४३३

६- अव० पृ० ११९६

७-८ पृ० टिप्पणी यही पर - ४-५।

(१) निकटार्थः—

निकट अनेदोपकार ऐसे स्थलों में होता है, जिसमें कारण न तो वाच्य रहता है और न व्यंग्य । ऐसे स्थलों को ज्ञानम्बवर्धन ने निकट उदाहरण का स्थल कहा है और इसका उदाहरण माना है 'तावज्ज' आदि शब्दों को । तावज्ज का वास्तविक अर्थ है - समझौतपन । किन्तु अब तावज्ज शब्द जहाँ में कउल्लो बुर बाव के अर्थ में इड हो गया है ।

(२) उदाहरण रूपक गुणवृत्ति -

उदाहरणरूप गुणवृत्ति वहाँ होती है जहाँ सापूरव सम्बन्ध नहीं रहता । यह उदाहरणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के ज्ञापक से वाक्य व्यंग्य की प्रतीति के बिना भी सम्भव होती है । जैसे - मंवाः कुठन्तीत्यादौ विजये ।

ज्ञानम्बवर्धन के अनुसार गुणवृत्ति के मेर निम्नप्रकार से हैं -

गुणवृत्ति

अनेदोपकाररूपा			उदाहरणरूपा
सकारणा			सकारणा
वाच्यकारणा	व्यंग्यकारणा		
वाच्यवर्माश्रिता	व्यंग्यवर्माश्रिता	उक्तिरूप	
१	२	३	
सापूरवर्माश्रिता (गौणी)			सापूरवरश्रिता (मुदा)

१- इडा ये विजयेऽन्वय इत्याः स्वविजयादयि ।

तावज्जायाः प्रयुक्तास्ते न पवन्ति कर्तृ ध्वनेः ॥ ध्व० १।२६

२- मुक्ताकठेषु हावावास्तरुज्जमिवान्तरा प्रतिभाति यदनेषु तत्तावज्जमिहोक्त्यो

३- वापि उदाहरणरूप गुणवृत्तिः सापूरुदाहरणीयायैवम्बमात्राश्रयेण वाक्य-

व्यंग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा- मंवाः कुठन्तीत्यादौ विजये -

ध्व० पु० ४३३ ।

अंशकत्व -

यदि प्रकार 'वाच्यार्थ' का प्रकाशन 'अभिधा-व्यापार' से होता है और 'अनुव्यार्थ' का प्रकाशन 'गुणवृत्ति' से उसी प्रकार 'अंशवार्थ' का प्रकाशन 'अंशकत्व' व्यापार से होता है । अतः अंश का प्रकाशन ही अंशकत्व है । यह अंश और अर्थ का अर्थ है । अंश और अर्थ का प्रमाण दो वाच्यवाचकभाव नामक सम्बन्ध है उसी अपेक्षा करता हुआ ही अंशकत्व इस व्यापार दूसरी शक्तियों से सम्बन्ध है औपचारिक रूप से प्रकृत होता है । वाचकत्व अंश विशेष भिन्न वात्मा है किन्तु अंशकत्व औपचारिक होने के कारण अविद्यत है । क्योंकि प्रकरण वाग्मि के समान है उसी प्रतीति होती है, अन्यथा उसी प्रतीति नहीं होती ।

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों के स्कोट सिद्धान्त के आधार पर अपने इस ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है । और, वैयाकरणों के अंशकत्व के वाच्य के आधार पर ही अपने सिद्धान्त को - 'ध्वनि संज्ञा' की । क्योंकि वैयाकरणिक सुप्रमाण वजहों में दो अग्र्यता और भिन्न स्कोट के अंश होते हैं , उन्हें ध्वनि व्यवहार करते हैं । इनके मत का अनुसरण करने वाले काव्य तत्त्वाकीर्तियों ने 'वाच्यवाचकत्वभिन्न उच्चारणक काव्य' को 'अंशकत्व' के वाच्य के आधार पर ही 'ध्वनि' कहा ।

यहाँ यह तत्त्व अवश्य है कि ध्वनि के केवल तीन विरोधी हैं - अनाववाची, नाशवाची एवं अनिर्वचनीयतावाची । अनुमानादि ध्वनि के विरोधी नहीं यह ही अंशकत्व के विरोधी हैं । इसलिए आनन्दवर्धन ने तृतीय उचोत में अंशकत्व की स्थापना के प्रसंग में , उसका वाचकत्व, गुणवृत्ति और अनुमान से भिन्न विषयकत्व बताया है । क्योंकि अंश अर्थ प्रतीपादन में अभिधादि अक्षरान्तर एवं अनुमानादि प्रमाणान्तर सर्वथा असम्भव होते हैं । अतः अंशवार्थ का प्रकाशन

१- अंशप्रकाशनं हि अंशकत्वम् - अ० पृ० ४४० २- इत्यनु० ४३६-४३७

३- परिनिश्चितनिरपुंस्तत्त्वप्रकाशनां विवक्षितानां मन्त्राभिर्येव प्रकृतौ यं ध्वनिव्यवहार इति - अ० पृ० ४४३

४- आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में 'अंशकत्व' पर का ही प्रयोग किया है । कहीं कुछ कर भी 'अंशक-व्यापार' नहीं कहा है । परन्तु वाच्यार्थ अभिव्यक्ति ने 'अंशक' नाम रखाया ।

करने में व्यंग्य ही उपाय है ।

वाक्य और व्यंग्य -

व्यंग्य(व्यंजा व्यापार) विरोधी कतिपय वाचार्थ वाक्य(वचिवा व्यापार) से ही उनी व्यंजों को निकालना चाहते हैं । उनके अनुसार -

(१) वाक्य है वतिरिक्त उस अन्य व्यंजों को व्यंग्यार्थ रूप न कर, वाक्य रूप ही मानना उचित है, क्योंकि उस व्यंज के प्रकाशन में वाक्य का वचिवा व्यापार ही है । उसके लिए व्यंग्य रूप अन्य व्यापार की कल्पना आवश्यक है । क्योंकि वाक्य जिस प्रीति के लिए प्रयुक्त होता है , उतनी सम्पूर्ण है , वरिष्ठ उसे मुख्यार्थ मान कर वाक्य(वचिवा व्यापार) का ही विषय मानना युक्ति संगत है ।

(२) और, उस अन्य (व्यंग्य) व्यंजों को वाक्यार्थ मान लेने पर, मध्य में होने वाली वाक्यान्तर प्रीति उसी प्रकार उपायमात्र है कि प्रकार पदाकीप्रीति, वाक्याकीप्रीति का उपाय मात्र होती है । अतः वाक्य के तात्परीविषयीभूत अन्य व्यंजों के बोध में प्रथम व्यंज, उपाय मात्र होता है ।

व्यंग्य विरोधियों को उत्तर देते हुए आनन्दवर्मा कहते हैं -

यहां शब्द अपने व्यंजों का वचिवा करवा हुआ अन्तर का वचनमान करता है यहां शब्द का स्वाधिविवाचित्य(वाक्यत्व) और अन्तराव्यंग्यत्व(व्यंग्यत्व) में कोई नहीं है क्योंकि वाक्य और व्यंग्य विषयः एवं स्वरूपः भिन्न हैं।

वाक्य व्यंज और व्यंग्यार्थ का रूप पर व्यवहार सुस्पष्ट ही है । वाक्य व्यंज शब्द का तात्परी सम्बन्धी है, किन्तु व्यंग्य व्यंज वचिवा की सामर्थ्य से आश्रित

१- सर्वे व्यंग्यभूते ध्वनिप्रकारेण विरहितेण कश्चिद् भूवात् - पृ० पृ० ४१३
कश्चिदिति । शीमांशमादिः - उ० पृ० ४१३
उक्तिकार के अनुसार व्यंग्यत्व विरोधी शीमांशमादि हैं ।

२- पृ० पृ० ४१३-४१४

३- पृ० पृ० ४१४

४- उक्तार्थ ही व्यापारी भिन्नविषयी भिन्नरूपी व प्रीति एवं - पृ० पृ० ४१६

होकर सम्बन्धी का सम्बन्धी है । यदि व्यंग्यार्थ को भी उक्त का साक्षात् सम्बन्धी माना जाय, तब उसमें व्यन्तिरास्य का व्यवहार ही नहीं होना । अतः इन दोनों का विषय नैव स्पष्ट है ।

इन दोनों में स्वरूप नैव भी है क्योंकि जो अभिप्रायव्यक्ति है वही अन्तर्गत अभिप्राय नहीं । जैसे व्यापक नीच उक्त है भी तथापि इन वर्ग का अन्तर्गत होता है और वाचकत्व, विहित वेष्टा आदि बाह्य अभिप्रायों से भी व्यन्तिरेव का प्रकाश (अर्थ) होता जाता है जैसे 'क्रीडायाभ्यासवदवस्था' इत्यादि रत्नोक्त में यदि वे वर्ग प्रकाश के हेतु वेष्टा विशेष को ही दिखाया है ।

इस प्रकार उक्त के स्वाधीनत्व (वाचकत्व) और व्यन्तिरास्यमहेतुत्व (अर्थत्व) में स्वरूपः और विषयः नैव स्पष्ट होने के कारण, अभिप्राय की सामर्थ्य है बाह्य व्यन्तिरेव को वाच्य करना उचित नहीं ।

मीमांसकों के वाच्य और व्यंग्य में पदार्थवाक्यार्थ न्याय का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्मा कहते हैं -

वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय पठित नहीं हो सकता ।^१ क्योंकि वाक्यार्थकृति के समय पदार्थ और वाक्यार्थ में पदार्थ कृति पुनः रूप है नहीं होती किन्तु वाच्य और व्यंग्य में ऐसा नहीं है ।

जो मीमांसक वाच्यार्थ को पदार्थ स्वामीय तथा व्यंग्यार्थ को वाक्यार्थ-स्वामीय मान कर व्यंग्यार्थ को तात्पर्यव्यक्ति का ही विषय समझते हैं, वह^२ ठीक नहीं, क्योंकि वाच्य तथा व्यंग्य में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय पठित नहीं होता। पदार्थ-वाक्यार्थ में वस्तुस्थापानकारण न्याय तथा वाच्य व्यंग्य में वस्तुस्थिति न्याय ही मानना चाहिए ।^३ कि प्रकार वस्तुस्थिति की वेष्टा में उसके उपादान कारण की पुनः कृति नहीं होती, उसी प्रकार वाक्यार्थव्युक्ति की वेष्टा में उसके उपादान रूप पदार्थों की पुनः कृति नहीं होती । यदि पदार्थों की पुनः कृति होती तो वाक्यार्थव्युक्ति ही नहीं हो सकती क्योंकि वाक्यार्थ में तो वर्ग की रक्ता

१- अथर्व ४१७

२- य य पदार्थवाक्यार्थन्यायौ वाच्यव्यंग्यौः अथ ५० ४१६

३- इ० अथ ५० ४२०-४२१ ।

माक्षि होती है। अवयवों के विन्यास करने पर कण्ठ अवयवी की प्रतीति बन नहीं होती। किन्तु वाच्य और व्यंग्य में यह निम्न ठानू नहीं होता। क्योंकि व्यंग्य प्रतीति के समान वाच्य बुद्धि दूर नहीं होती, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ के साथ अभिप्रायान्वय से माक्षि होता रहता है। इसलिए उन दोनों में घटप्रतीकभावाय है, क्योंकि वही घट को प्रकाशित कर दीपक स्वयं की माक्षि होता रहता है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को प्रकाशित कर वाच्यार्थ स्वयं की माक्षि रहता है, अर्थात् वाच्य और व्यंग्य समान घट और प्रदीप में प्रकाश्य तथा प्रकाशक दोनों की साथ-साथ प्रतीति होती है। यह दूसरा तथ्य है कि प्रकाशक की वृत्ता, प्रकाश्य की वृत्ता को निरूपण से पूर्व-भाविनी होती है। इस पूर्वभावित्व को दृष्टि में रख कर ही ध्वनिकार अपने मूल्य के प्रकाश उपाय में व्यंग्यार्थ के बुद्धि वाच्यार्थ की वैकल्य उपाकल्पता (कारणता) सिद्ध करने के लिए कथार्थ-वाक्याधीनभाव को उपस्थित करते हैं।

धीमांशु यह उल्लेख कर सकता है कि यदि वाच्यव्यंग्य में घटप्रतीकभावाय माना जायता तो एक काष्ठ में वाक्य से व्यंग्य की प्रतीति होने पर, वाक्य की वाक्यता ही विवक्षित हो जायगी। क्योंकि वाक्य में तो व्यंग्य ही होना चाहिए।

इस उल्लेख का समाधान करते हुए ध्वनिकार कहते हैं - वाक्य से व्यंग्य की प्रतीति कोई दोष नहीं, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य गुणप्रमाणभावाय से रहते हैं। कहीं पर व्यंग्य-व्यंग्यमान तथा वाच्य एवं वचनमान रूप से रहता है और कहीं वाच्यार्थ के प्रमाण होने पर व्यंग्यार्थ वचनमान ही जाता है। व्यंग्यार्थ के प्रमाण होने पर और वाच्यार्थ के गौण होने पर ध्वनि वाच्य होता है और व्यंग्यार्थ के वचनमान और वाच्य के प्रमाण होने पर गुणीकृतव्यंग्य वाच्य।

१- यथा कथार्थद्वारेण वाक्यार्थ सम्प्रतीक्यते ।

वाच्यार्थसूचिका तद्व्यतिरेकतया वस्तुनः ॥ पृ० २१२०

२- ध्वनि सिद्धान्तः विरोधीसम्प्रदायः उनकी मान्यताएं- पृ० ३०६-३०७ ।

‘कस्य न वा नवति दौघः’ इत्यादि वाक्य में वाँ व्यंग्यार्थ निक्ता है उसका प्रतीक है केवल अन्वयव्यभिचि रूप उपाधि । यदि कोई सीधरा व्यभिचि सुननेवाला न रहे तो उसमें कोई व्यंग्यता नहीं । काः व्यंग्यत्व जीवाधिक होने के कारण वनिका है । क्योंकि प्रकरण आदि के संयोग है उसकी प्रतीति होती है अन्वयता उसकी प्रतीति नहीं होती ।

यहाँ पर जीवाधिक संज्ञा करता है कि - यदि व्यंग्यत्व का शब्द है वनिका सम्बन्ध है, तो उसके स्वल्प की परीक्षा है क्या शाय ? इसका समाधान करते हुए वाचस्पत्युनी करते हैं - व्यंग्यत्व का वनिकत्व कोई दौघ नहीं । क्योंकि व्यंग्यत्व का शब्द रूप के साथ वनिका सम्बन्ध है, न कि व्यंग्यार्थ के साथ । व्यंग्यार्थ के साथ तो उसका वही प्रकार निक्ता सम्बन्ध है, कि प्रकार कि वनिका का वाक्य शब्द के साथ । इस दृष्टि से व्यंग्यत्व में छिंत्य श्वाय की संज्ञा होता है । कि प्रकार छिंत्य अनुमान के अतीत होने के कारण अपने विषय वभि आदि में अव्यभिचारि(निक्ता) रूप है की प्रतीति होता है, पुन को छिं तो तनी माना वाचना वन वभि का अनुमान करना होना किन्तु उस छिंत्य पुन का वभि के साथ निक्ता सम्बन्ध तो जैसे देखा वाचना । वही प्रकार शब्द में व्यंग्यत्व का आरोप करना तो उन्हाधीन है किन्तु व्यंग्यत्व होने पर तो व्यंग्यार्थ की निक्ता रूप है प्रतीति होती की । वदछिर शब्द में वनिका है रहने के कारण व्यंग्यत्व की वाचकत्व से नितान्त विन्न समकना बाधिर । यदि व्यंग्यत्व की वाचकत्व का रूप होता तो उसका भी वाचकत्व की तरह शब्द के साथ निक्ता सम्बन्ध होता ।

और जीवाधिक शब्द के साथ अर्थ का निरूप (औरपक्षिक) सम्बन्ध मानते हैं और उसके साथ-साथ वैदिक वाक्यों की छीकिक वाक्यों से विन्न भी मानते हैं । उनके अनुसार वैदिक वाक्यों में अपौरुषेयता का कारण स्वतः प्रमाण होता है । छीकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होते हैं, वदछिर पुरुषनामिप्राय की उनकी वाचकता में प्रमाण है । इसमें पुरुष दौघों के कारण निप्रायेयता भी सम्भव है ।

उप्य में व्यंजन्य रूप जीवाधिक कर्म को स्वीकार करने पर ही लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में परस्पर भेद का उपपादन हो सकता है। लौकिक सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों प्रकार के वाक्यों में वाक्यार्थ वीचकता समान रूप की होती है। अन्तर मात्र इतना है कि लौकिक वाक्य में 'अर्थ' वक्ता के अभिप्रायानुसार होता है और यह वस्तुतात्पर्य व्यंजन्य ही होता है। वक्ता को कभी जीतकारी वन्द्य में विरही के लिए कन्ताकारित्व दिखाना भी अभिप्रेत हो सकता है। कन्ताकारित्व का वन्द्य के साथ ही वाक्य-वाचक रूप सम्बन्ध असम्भव है। ~~कन्ताकारित्व-वन्द्य-सम्बन्ध~~ उसमें केवल जीवाधिक सम्बन्ध ही हो सकता है। प्रायः सभी पौरुषोक्त(लौकिक) वाक्य पुरुषाभिप्राय के प्रकाशक होते हैं अतः व्यंजन्य रूप जीवाधिककर्म से युक्त होते हैं। यही जीवाधिक कर्म उसे कर्तारोक्त(वैदिक) वाक्यों से व्यावर्तित करता है। वैदिक वाक्य किसी पुरुष द्वारा निर्मित न होने के कारण उसमें वस्तुतात्पर्य-रूप उपाधि का प्रश्न ही नहीं उठता।^१ उसमें तो वाक्य का वाक्यार्थ के साथ जीवा भिन्न सम्बन्ध रहता है।

अतः निष्कर्ष यह है कि लौकिक वाक्य में वक्ता का अभिप्राय अन्तर्निहित रहता है और यह अभिप्राय सर्व व्यंजन्य रूप ही रहता है। लौकिक जीवाधिक को भी वैदिक वाक्य से लौकिक वाक्य में भेद उत्पन्न करने वाले कर्म व्यंजन्य को स्वीकार करना ही चाहिए।

वैयाकरण और व्यंजना -

ज्ञानान्वयकी की ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणियों से प्राप्त हुई है। इसलिए व्यंजनाह्वित के समकी के लिए उनसे जीवाधिकों की तरह विरोध करने का प्रश्न नहीं उठता। वैयाकरणिक तो स्फोट की प्रतीति के लिए ध्वनिकों के व्यंजन्य को मानते हैं।

अतः यह निश्चित है कि वाचक्य और व्यंजन्य स्वरूपः और विषयः भिन्न हैं।

१- पृ० पृ० पृ० ४४०-४४२।

२- ध्वनि सिद्धान्तः विरोधी सम्प्रदायः उनकी मान्यताएं। पृ० ३०६-३१०

३- (१) तत्प्रादायकत्वविधा मोन तावद्व्यंजन्यकृताः उक्तो व्यापारी न विरोधी प्रपञ्चानुगुण एव उपपत्ति - पृ० पृ० ४४३

(२) परिनिश्चितानिरपेक्षप्रपञ्चानां विपरिक्ता मत्माभित्येव प्रपञ्चोऽयं - ध्वनि व्यवहार- पृ० पृ० ४४३

गुणवृत्ति और व्यंगत्व -

विषयः मेद है ।

गुणवृत्ति वे भी व्यंगत्व का स्वरूपः और

इन दोनों का पारस्परिक स्वरूप मेद यह है कि गुणवृत्ति शब्द का मुख्य व्यापार है किन्तु व्यंगत्व शब्द का मुख्य व्यापार है । मुख्य व्यापार इसलिए है क्योंकि व्यंग्य के दो तीन प्रकार - वस्तु, कर्त्तार और रसादि हैं, इनका किंचित्मात्र भी मुख्य व्यापार नहीं होता ।

मुख्य रूप से आवश्यक वाचकत्व को ही गुणवृत्ति कहते हैं । किन्तु व्यंगत्व में शब्द का मुख्यत्व या सङ्गतिता नहीं होता क्योंकि यदि वाक्य-विशेष से विशिष्ट कर्त्तृ के प्रकाशन रूप प्रतीक होने पर यदि शब्द की मुख्यता ही रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता होगी । किन्तु ऐसा होता नहीं है । कदापि व्यंगत्व के प्रयोग में शब्द का मुख्य व्यापार ही होता है ।

इस अन्य मेद यह भी है कि जब गुणवृत्ति में कर्त्तृ अपान्तिर को उपलक्षित करता है तब उपलक्षणीय कर्त्तृ के रूप में ही वह परिणत हो जाता है । यथा- मंथायां घोषः इत्यादि में । परन्तु व्यंगत्व मार्ग में जब कर्त्तृ अपान्तिर को लक्षित करता है तब प्रतीप की भाँति 'स्वल्प को प्रकाशित करता हुआ भी वह अन्य कर्त्तृ का प्रकाश होता है । यथा 'छिन्नाम्बुजवाणि मणवामास पाक्री' इत्यादि में ।

गुणवृत्ति और व्यंगत्व में विषय मेद भी है । क्योंकि वस्तु कर्त्तार और रसादि ये तीनों व्यंगत्व के विषय हैं । गुणवृत्ति में इन तीनों का व्यवहार नहीं होता । गुणवृत्ति में केवल पृथिवी और सुरीय वे गौण शब्दों का प्रयोग होता है । और जो भी गुणवृत्ति का विषय होता वह भी व्यंगत्व के सम्बन्ध से होता है । अतः गुणवृत्ति है व्यंगत्व अत्यन्त विवक्षित ।

यह निश्चित हुआ कि वाचकत्व और गुणवृत्ति के वाक्छि रस्ता हुआ भी व्यंगत्व दोनों से विवक्षित हैं, व्यंगत्व कहीं पर वाचकत्व के वाक्य से आवश्यक होता है, जैसे - विवक्षितान्तरवाच्य ध्वनि में, और कहीं पर

१- गुणवृत्तिरूपकारेण कृताजया वाक्छिवाच्यमिति । किन्तु ततोऽपि व्यंगत्व स्वरूपतो विवक्षितमिति । पृ० पृ० ४२३

मुणवृत्ति के बाध्य है, जैसे - अविवक्षितवाच्य ध्वनि में। और उन दोनों-
वाचकत्व और मुणवृत्ति के बाध्यत्व के प्रतिपादकार्यों की ध्वनि के समीप ही
वेद उपस्थित किए गए। उन पर बाधित होने के कारण व्यंजकत्व से उनका
रेखा नहीं कहा जा सकता।

अतः किसी भी तर्क द्वारा व्यंजकत्व की वाचकत्व और वचक मुणवृत्ति
दोनों में से किसी में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

व्यंजकत्व और अनुमान -

कुछ तात्त्विक व्यंजकत्व को अनुमान में ही अन्त-

र्भाव करते हुए करते हैं -

उच्चों का व्यंजकत्व को व्यंजकत्व है वह छिन्नत्व ही है, इसलिए व्यंग्य
की प्रतीति छिन्नी की प्रतीति ही है, इस प्रकार उनका छिन्नछिन्निभाव ही है,
इसी अतिरिक्त व्यंग्यव्यंजक भाव नहीं और को व्यंजकत्ववादी कस्ता के अभिप्राय
की अपेक्षा है व्यंजकत्व का प्रतिपादन करता है वह कस्ता का अभिप्राय अनुभव
रूप ही है।

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए आनन्दवर्मा कहते हैं - वाचकत्व
और मुणवृत्ति है अतिरिक्त व्यंजकत्व रूप उच्च व्यापार है। वह व्यंजकत्व
छिन्नत्व ही कस्ता कुछ और इसके कोई प्रतीक नहीं। किन्तु उतना जरूरत है
कि वह व्यंजकत्व प्रसिद्ध शाब्द प्रकार से लीला विवक्षित होते हुए भी उच्च-
व्यापार का ही विषय है। यदि पूर्वपक्षी को अनुमान का उच्चव्यापारत्व
मान्य है तो पूर्वपक्षी और छिन्नान्तपक्षी में कोई विवाद ही नहीं। और
फिर पूर्वपक्षी के इस तर्क में कोई तर्क नहीं कि - व्यंजकत्व छिन्नत्व ही है और
छिन्न व्यंग्य की प्रतीति छिन्नी की प्रतीति ही है।

पूर्वपक्षी का मत है कि - कस्ता का अभिप्राय अनुभव रूप होने के कारण
उच्च छिन्न रूप ही होते हैं।

इस पर आनन्दवर्मा कहते हैं - उच्चों का विषय दो प्रकार संभव है :-

१- अनुभव

२- प्रतिपाद

१- अनुमेय विवक्षा रूप है । विवक्षा दो प्रकार की है -

(१) शब्द के स्वरूप की प्रकाशन की रज्जा

(२) शब्द से अर्थ के प्रकाशन की रज्जा

हिन्दी के मुक्त शब्द निम्नलिखित हैं तो सुनने वाला यह अनुमान करता है कि अवश्य ही इस व्यक्ति के मन में कोई बात फुट्ट करने की रज्जा है । तभी कस्ता इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है और इन शब्दों द्वारा यह अर्थ फुट्ट करना चाह रहा है । कस्ता की रज्जा का ज्ञान कस्ता के मुक्त है उपस्थित शब्द के ही व्यापार पर होता है । अतः शब्द से कस्ता की शब्दप्रतीतिरज्जा तथा अर्थप्रतीतिरज्जा का अनुमान होता है । अतः शब्दों के यह दोनों ही विषय अनुमेय हैं ।

२- और, प्रतीक्षा की अर्थप्रतिपादन की रज्जा है विषयवस्तु अर्थ 'प्रतिपाद्य' है। यह भी दो प्रकार का है -

(१) वाच्य

(२) व्यंग्य

प्रतीक्षा कभी स्वशब्द द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है और कभी स्वशब्द के अपरिमेय रूप है हिन्दी प्रतीक्षा की अपेक्षा करता है । यह वाच्य और व्यंग्य रूप शब्दों का 'प्रतिपाद्य' किंती रूप है स्वरूपः प्रकाशित नहीं होता, अक्षि कृत्रिम अथवा अकृत्रिम सम्बन्धान्तर से प्रकाशित होता है । शब्दों से केवल वह अर्थ का 'विवक्षा-विषयत्व' किंती रूप से प्रतीत होता है, 'स्वरूप' नहीं ।

यदिपुनर्विचारी के अनुसार अर्थ के स्वरूप की भी अनुमेय ही मान लिया जाय और शब्दों का व्यापार किं किंती भाव से ही तो कभी भी अर्थ के विषय में सम्बन्ध तथा निष्पत्त्य का विषय ही न हो, क्योंकि पुन के द्वारा अनुमेय अर्थ का ज्ञान कभी भी निष्पत्ता ज्ञान नहीं होता ।

यदि कोई कहे कि वाच्य अर्थ का तो शब्द से सीधा सम्बन्ध होता है किन्तु व्यंग्य का नहीं, क्योंकि व्यंग्य अर्थ भी तो वाच्यार्थ से ही आश्रित होता है, इसलिए वाच्य के समान यह भी शब्द का ही सम्बन्धी है । अन्तर केवल इतना है कि वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है और व्यंग्यार्थ असाक्षात् अक्षि परम्परया सम्बन्धी है । यहाँ साक्षात् और असाक्षात् भाव-सम्बन्ध का यहाँ कोई प्रतीक नहीं । और व्यंग्यत्व का वाच्यवाक्य भावाभावत्व होता ही है । अतः यह सिद्ध है कि कस्ता के अक्षिभाव रूप व्यंग्य में किं रूप से शब्दों का

व्यापार होता है। और उल्टे द्वारा विषयीकृत तब मैं प्रतिपाद्य रूप है। अतः जो अनुमान हृदय पुनर्ने है होता है, उल्टी व्यंजकत्व है भिन्न मानना होगा।

पूर्वपक्षी के यह प्रश्न करने पर कि - वस्तुप्रत्यक्ष रूप (विशेषित) और वस्तुप्रत्यक्ष (व्यतिरेकित) रूप उस प्रतीकमान में वाचकत्व है ही व्यापार होता क्या सम्बन्धान्तर है ?

विद्वान्तपक्षी कहता है - वाचकत्व है तो नहीं होता क्या कि वस्तु स्पष्ट कर चुके हैं। सम्बन्धान्तर ही व्यंजकत्व ही है। और व्यंजकत्व, चिन्तक रूप नहीं है। जैसे - प्रतीक पद का अनुपात नहीं बन सकता क्योंकि पद का तो प्रत्यक्ष ही ही रहा है और प्रतीक द्वारा प्रकाशित पद का ज्ञान अनुमानात्मक है - ऐसा कोई भी प्रतीकानु नहीं मान सकता क्योंकि वह तो अनुभव विद्व ज्ञान है। वह फिर उल्टी का प्रतिपाद्य विषय वाच्य की भाँति ही चिन्ती रूप है सम्बन्ध नहीं रहता। जो चिन्ती रूप है उनका सम्बन्धी है, वह वाच्य रूप है प्रतीक नहीं होता, वरिष्ठ तु उपाधि रूप होता है। और प्रतिपाद्य विषय व्यंग्य रूप है प्रतीक होता है।

और काव्य के विषय में व्यंग्य की प्रतीति का स्थापकत्व निरूपण अप्रतीक है। उदाहरण वहाँ प्रमाणान्तर के व्यापार की परीक्षा उपहासास्पद ही होगी। उदाहरण चिन्ती की प्रतीति ही कवि व्यंग्य की प्रतीति है, यह नहीं कह सकते। अतः व्यंजकत्व को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

यदि तर्कशास्त्री व्यंजकत्व को अपने अनुमान में अन्तर्भूत करना तो उसे अपने अनुमान में ही परिवर्तित करने होंगे -

१- एक तो यह कि उसे अव्यक्त स्वीकार करना होगा। और

२- दूसरा यह कि उसे प्रमाणत्व से हृदय मानना होगा।

इस प्रकार व्यंजकत्व को अनुमान रूप मानते ही अनुमान का अपना स्वत्व ही रहित हो जाएगा। अतः व्यंजकत्व को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

उदाहरण वाच्यवर्गी ने कहा है - गुणवृद्धि, वाचकत्व वरिष्ठ हृदय प्रकारों है व्यंजकत्व निरूपण ही विवक्षित है। वह एक अतिरिक्त हृदय व्यापार है।

इस प्रकार ज्ञानम्बुधरी ने व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट करते, विद्वानों के मध्य जो ध्वनि तत्त्व विपत्ति का विषय बना था उसे प्रतिष्ठित कर दिया ।

कम्पर ध्वनि काव्य और उसके नेत्र कृतियों का विवेकन करते हुए अन्य व्यापारों का विवेकन किया गया । कम मुण, लंकार, लंकारा(रीति), मुक्ति, वीर का विवेकन करने । जो काव्यकार को नर हैं । जिसका अन्य व्यापारों ने काव्य के सम्बन्ध में विस्तार से विवेकन किया ।

यदि व्यवस्था में उनके उचित स्थान एवं मूल्य का वानव्यवस्था की दृष्टि से निरूपण किया जाता है ।

पुनः

आनन्दवर्दी ने मानव के ही स्वाम तीन गुणों - मादुर्य, बौद्ध और प्रज्ञा को स्वीकार किया है। किन्तु आनन्दवर्दी ने गुण के स्वरूप का विवेचन निम्न रूप में किया है। आनन्दवर्दी ने गुणों को रत्न माना है। गुण के विचार में आनन्दवर्दी कहते हैं -

तमयैवहृदयसौख्यं विभिनं ते गुणाः स्मृताः । (ध्व० २।६)

जो उस रसादि रूप प्रधान व्यंग्यार्थ को अवलम्बन करते हैं वे गुण कहलाते हैं । और इसका उदाहरण यही है - 'शौर्यादिकम्' अर्थात् जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं, किन्तु फिर भी शरीर से पुष्कल रस कर केवल आत्मा शौर्य नहीं दिखा पाती, वह शरीर में रस कर ही शौर्यादि प्रदर्शित करने में समर्थ होती है । उही प्रकार गुण, 'काव्यात्मा' रस के धर्म होते हुए भी उच्चार्य-रूपी काव्यशरीर के आश्रित भी रहते हैं ।

१- विमलविजयाय नमः ।

अभिधीष्टः पुनरः काव्यस्य ध्याताः तौऽयम् ॥ अथ०३॥३३ पु०४१०-१८

२- काव्यस्वात्मा व स्वार्थः । (ध्व० १५) यहाँ व स्वार्थ-रसव्याख्य के लिए आया है।

१- उद्यमनीयं वैश्वामपायकानैऽपि उरीराज्यवन्निव होयदीवान् पृ० पृ० २३

नापुंस

संक्षेप : पितृ की आश्रिता का नाम 'नापुंस' है ।^१ नापुंस पुण्य श्रृंगारण्य काच्य का वाक्य लेकर प्रतिष्ठित होता है । श्रृंगार-रस अन्य रसों की अपेक्षा सम्यक्प्रज्ञ वात्सल्यपूर्ण होने के कारण प्रसुर होता है । क्योंकि नापुंस पुण्य में पितृ वपित आश्रित्य की प्रशंसा करता है । अतः नापुंस का प्रथम विशेषण रस है विप्रलम्ब श्रृंगार और कहान्य रस में बाधा जाता है ।

इसका उदाहरण बालम्बवर्णी ने पुण्य विवेक के प्रश्न में नहीं दिया है । किन्तु रसवर्ण्य के प्रश्न से इसका उदाहरण दिया जा सकता है ।

यथा - स्वयं बालम्बवर्णी का 'आवप्यनाम्ति'^{४ इत्यादि} जब इसका उदाहरण हो सकता है । पिङ्गावीक्षीय का रसवर्ण्य के संदर्भ में उद्धृत 'वन्द्यो मेव'^{४ इत्यादि} जब विप्रलम्बश्रृंगार का उदाहरण है ।

वीक्ष

संक्षेप - काच्य में रसने वाले रीढ़ आदि रस वीक्ष के कारण उत्पन्न होते हैं । अतः उच्च और नीचे के आश्रित रसने वाले वीक्ष के अर्थक वीक्ष पुण्य होते हैं ।

काच्य की पितृ वपित्योक्ता और वपित्योक्ता में यह वीक्ष नामक सत्य विचार है उसे भी 'वीक्षी' पुण्य से युक्त रस दिया जाता है । और वपित्योक्ता में प्रत्येक उच्च का रस प्रसन्न होता है और उसमें उच्चे उपास नहीं

१- कपुण्ड्रकपरवृत्त्यापीया काच्यस्य च नापुंसिवाग्नापुणः । ध्व० २।७ की वृत्ति

२- नापुंसिवाग्ना वापि वात्सल्यवापि नः ।। ध्व० २।८

३- श्रृंगार रस प्रसुरः परः प्रवृत्तयो रसः ।

उत्पन्न काच्यवापि च नापुंस प्रतिष्ठितिः ।।

श्रृंगार विप्रलम्बवाक्ये कहानी च प्रथमम् ।

नापुंसिवाग्ना वापि वात्सल्यवापि नः ।। ध्व० २।८-६

पुण्यवाग्ना पि नापुंसिवाक्यवाग्नाः कहान्यविप्रलम्बश्रृंगारविषय रस । ध्व० ३।६ की वृत्ति

४ - लीवण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्नुत्प्रेरेड्युना तव मुखेतरलायताक्षि ।
५- ध्व० ५० २७ क्षीमे यदेति न मनोगति तेन मन्ये सुव्यक्तमेव जलशशिरयं पयोधिः ।

६- रीढ़वर्णी रस वीक्षवा उपपत्ते काच्यवापिः ।

कपुण्ड्रकपरवृत्त्यापीया वापिवापिवापिवाग्ना वापिवापिवापि ।। ध्व० २।६

उसका उदाहरण -

‘यो यः सन्न विमर्शि’^{इत्यादि} है किन्में जयसोप में सर्वथा स्फुटता एवं स्पष्टता है ।

निष्कर्ष -

ज्ञानम्बवकी के गुण विवेक है यह स्पष्ट ही जाता है कि ज्ञानम्बवकी गुण की प्रमाण रूप है रत्नार्थ स्वीकार करते हैं और गौण रूप है अन्य उपायों के धर्म मूल्य हैं । यह केवल गुणों की व्यवस्था करते हैं क्योंकि माधुर्यादि गुणों की व्यवस्था बिना रस के सम्भव नहीं है । अतः गुण रत्नार्थ की हैं और उपायों की नहीं ।

संक्षेप में ज्ञानम्बवकी के अनुसार गुण का परिचय इस प्रकार है -

- १- गुण रत्नार्थ के साथ गौण रूप है या परम्परवा उपायार्थ की नहीं हैं ।
- २- गुण तीन हैं - माधुर्य, वीर्य और प्रसाद ।
- ३- प्रसाद गुण व्यापक है, माधुर्य तथा वीर्य सम्बन्धीय, क्योंकि उनमें से माधुर्य केवल गुणार तथा कलण में रखा है और वीर्य रौद्र आदि वीर्य रसों में ही ।

कर्तार

ज्ञानम्बवकी के समय तक चार प्रमुख आचार्य - बख्शी, पामर, उद्भट तथा वामन ही हुए थे । इन आचार्यों ने कर्तार सम्बन्धी विस्तृत विवेक किया था । ज्ञानम्बवकी^३ सम्बन्धीय के प्रथम उपाय के प्रारम्भ में ही यह दिया कि काव्य के वाच्यभाव का पूर्णतः आचार्यों ने गहना व्याख्यान किया है अतः उसका विष्ट-लेखन नहीं करें, केवल उपायानुसार उसका अनुसरण मात्र करें ।

अतः ज्ञानम्बवकी ने निम्नलिखित कर्तारों का ही उल्लेख किया है -

- | | |
|------------------|--------------------|
| १- बख्शीवर्ण | २- अनुपाद |
| ३- सम्बन्धुति | ४- अप्रसृत प्रज्ञा |
| ५- कर्मांतरम्बाध | ६- वासोप |

- १- गुणास्तु व्यंग्यविष्टेवाक्यादिवाच्यप्रतिपादनसमर्थव्यवस्था एव । पृ० पृ० १२३

७- उत्प्रेक्षा	८- उक्ता
९- विप्र	१०- तुल्योक्ता
११- वीक	१२- पवायिक्त
१३- निपेक्षता	१४- प्रेम
१५- पवाचंय	१६- वक्ता
१७- वक्ता	१८- वक्ता
१९- विरोध	२०- विरोधोक्ति
२१- व्यतिरेक	२२- व्यावस्तुति
२३- इच्छा	२४- संकुष्ट
२५- संकर	२६- उपायोक्ति
२७- उपायोक्ति	२८- उपायोक्ति

इस प्रकार मानन्दवर्मा ने प्रायः सभी कर्तारों का उल्लेख किया है, जिनमें व्यंग्यादि का स्थान रखा है ।

ध्वनि काव्य में कर्तार-बोका :-

यह पद्य ही कहा जा चुका है कि ध्वनि-काव्य के अन्तर्गत वे ही कर्तार आते हैं जिनमें वाक्यार्थ की ओरता व्यंग्यार्थ में वारण्य की मात्रा अधिक हो । दूसरे उक्तों में जो स्वयं व्यंग्य उक्ता व्यंग्यम् है । रसुष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुछ कर्तार ऐसे भी हैं जो विपरीत भी सिद्ध होते हैं । उदाहरणार्थ - दुष्कर वक्ता, दुष्कर विप्रवक्ता तथा वंशरत्न । भूतार और उक्तों की विपरीत भूतार यदि प्रमाण रख हो और उक्तों यदि अनुप्रास-योक्ता की वार तो उसके बहुत से भेद , भूतार के अनेक भेदों से विरह्य सिद्ध होंगे, क्योंकि अनुप्रास का उदाहरण है - 'एक उक्तान् वणों का निवृत्त', यह वक्ता किसी भी प्रकार के वणों का हो सकता है । यदि उक्तों वणों का वक्ता होना तो भूतार की वणिज्यविधि मिलने के स्थान पर वतिरोध पैदा होना । यदि भूतार की न होकर वंश हो तो तब उक्तों की अनुप्रास अपनाया जा सकता है । वक्ता

१- भूतारस्याभिनी कनादेकपानुवक्तात् ।

सौम्यैव प्रीतिषु नानुप्रासः प्रकाशः ॥ ध्व० २।१४ और इसकी वृत्ति ।

पूर्वोक्त लोक में, पुष्कर विम, उष्णमंडल की योजना - कुंभार रस के बीज
रसों पर तनिक भी कक्ष्य नहीं होती। विपुल कुंभार में बीर भी बनेत रुखा
बाहिर, वर्यें तो कस बादि का विविध क्वाधि नहीं होना बाहिर।
अनिकाव्य में बीर विज्ञेय रूप से अक्षयकृत्यंश अवि के अन्तर्गत वही अक्षर
वाच्य है जिसकी योजना करते कस कवि को रसुमिका से बचना न पड़े, उसके
छिद्र अतिरिक्त कृत्य न करना पड़े। क्वाधरणाथ -

क्योडे पमाडी कस्तुनिरौकेन मुषिता

निधीतो निरवाधैरकमुतकुनीऽपररसः

मुमुः कण्ठो उन्नतरजवति काव्यः क्षमत्तटी

प्रियो मन्थुवतिस्तव निरुरोधि । न तु कम् ॥

रस पत्र की योजना में कवि को अपनी रसुमिका से ठेकाना भी बचना
नहीं पड़ रहा है, काः ये अक्षर, अक्षर हैं।

कस बादि में रेखा नहीं होती। तब कवि को रसुमिका से पुनर् होना
ही पड़ता है। कस अक्षरों की स्थिति वैसी नहीं होती। कस अक्षर
वाच्यकीगरी रसं मुष्टि तव प्रीति होते हैं कस वाच्यिक उर पर ध्यान देता है।
कवि के छिद्र वे उतने ही सरल बीर स्वाभाविक होते हैं। कस प्रतिपादयन्
कवि का विर रसुमाहित होता है तब वे अक्षर स्वतः जा बाते हैं। कैते -
काव्यरी में यह स्वतः कस पन्डावीड काव्यरी को देखा है। बीर कैते -
कैतुमन् महाकाव्य में - वाचानिमित्त राग के छिद्र को देख कर देवी बीता
विच्छेद होती हैं, तब यह कसकार देखते ही कसता है। यह उचित भी है।
क्योंकि रसवाच्यविज्ञेय है ही व्यक्त होते हैं बीर कस बादि अक्षर वाच्य के

१-अव्यात्पुनो कुंभारे कसबादिनिबन्धनम् ।

कृतापि कृतापित्वं विपुलमे विज्ञेयतः ॥ अ० १।१५ बीर वृत्ति

२- रसाधिष्ठिता यस्य मन्थः कसप्रियो मीतु ।

कसुमन्थानिधीयः सोऽक्षरौ अनी मतः ॥ अ० २।१६ बीर वृत्ति

३- अ० २२१

४- अ० पु० २२१-२२२

के ही कर्म हैं । कर्म बादि अङ्गार उच्चतम होते हैं, एव के छिप उच्च वाङ्मय अंग है और कर्म अङ्गार । कर्म बादि अङ्गार हैं अतः वे कर्म के साथ , एव के अङ्गार कर्म बन सकते हैं तथा एव में कर्म के ही अनाम अनिवार्य रूप से ही उपस्थित हो सकते हैं । उनका एव में उपस्थित न होना ही अस्वाभाविक है । कर्म बादि की स्थिति उच्च के ही अनाम वाङ्मय है, क्योंकि वे उच्चकर्म हैं । कहां कहीं वे एव में दिखाई भी देते हैं वहां समुच्च उच्च की उनकी अङ्गारि है ही अथि कर्मकार प्रतीत होता है, अतः वे ही प्रमाण ही होते हैं और एव को बना देते हैं । वे तो केवल रसाभास के अंग बन सकते हैं , क्योंकि वे कवि के अतिरिक्त कर्म से निष्पन्न होते हैं, उच्च कर्म से नहीं मिलते एव निष्पन्न होता है । कर्म बादि अङ्गारकर्म की अङ्गारता तथा अथि है कर्म अनामिक में कहां अङ्गार अंग्य ही एव ही उच्च वाङ्मय के साथ अनामिक कर्म की नहीं ही । यह अनामिक निष्पत्ति है।-
१- कर्म बादि अङ्गार कर्म रसादि के साथ अंगक्य से ही उपस्थित कि वारं। यथा- 'वलापांना दृष्टि' अथादि में अनामिक अङ्गार है और यह वस्तु अनामिक अङ्गार में अंग बन रहा है ।

२- वे कर्त्तार स्वयं प्रमान न बन सारं । क्या - 'कृताभिवात्' इत्यादि कम में
 क्यादिवात् कर्त्तार ही प्रमान बन गया है, किमुल्लभ्य रस अप्रमान । अर्थात् यहाँ
 रसादि के तात्पर्य होने पर भी, क्यादिवात् कर्त्तार की ही प्राधान्येन विवक्षित है।

२- संक्षेप है उपस्थित करते समय भी, उसका व्यवहार पर ही गृहण हो। क्या-
उत्पत्ति के लिए उदाहरण 'उदात्तत्व' पर मैं उत्पत्ति के कवि ने
पुत्रीकरण में उपस्थित किया, जो माता स्थिति के लिए मार्गदर्शक बन
गया और प्रजापति के समान माता पटना का सुख भी।

४- जीर उष्ण जलधर पर स्थान भी हो । क्या- रूढ-व्यतिरेक के लिए उदात्त ब्रह्म-तत्त्व पर नैपुण्य पर नै विद्यमान रूढ-तत्त्व की पुरुष पर नै व्यतिरेक के लिए होइ दिया है ।

१- अथः पृ० २२२ और आनन्दव की पृ० ४७६-४८०

२- पृष्ठ २१२६ पृ० २२२

३-६ पृष्ठः पृष्ठः २२४-२२५

३- अवशोषित ग्राह्य कर्तार का नहीं तक निषेध किया जाय, बस तक उसकी वाक्यशक्तता हो । वाक्यशक्तता न होने पर उसका त्याग कर दिया जाए । क्या- 'कोषात् कोष' ^{इत्यादि} रूप में कवि ने प्रथम वर्ण में फिर एक को 'वाक्यशक्ति' का प्रकार उपस्थित किया है, उसे उक्त तीन वर्णों में भी रखने का प्रयत्न किया की सेवा नहीं ।

४- निषेध तो जाने पर अनपेक्षित रूप में ही रखा बाकिर । क्या- 'स्यामा-स्मिन् वस्त्रहरिणीप्रेतानो' इत्यादि में कवि ने उक्ताकर्तार को वारम्भ से तृतीय वर्ण तक निषेध और अन्त में व्यतिरिक्त का भी फुट दे दिया, किन्तु स्वने पर भी प्रमाणात् किञ्चन कर्तार की ही है ।

जो कवि कर्तारों का उपर्युक्त रीति से निषेध करते हैं, उसके द्वारा निषेध की रसामिष्यक्ति होती है । यदि ऐसा अतिप्रयत्न होता है तो रसने की बाधा है । फिर भी बहुत से कवि हैं जो प्रथम योका में रस निषेध से प्रथम हीकर केवल कर्तार योका में निरत दिखाई देते हैं । ऐसे कवियों का वाग्व्यवकी नामोल्लेख नहीं करते । केवल इतना कहते हैं - 'एन महात्मावर्ग में दोष प्रकटित करना ही दोष दिखाना है । अतः इस विद्या में अधिक विस्तार से जाना उचित नहीं' ।

एन दोषों से अपने के लिए एक बादि कर्तारों की रसव्यंका का भी सिद्धान्त जनी ऊपर कहा गया है उसके आधार पर जो अपने व्यंग्यकाय का निर्माण करता है, उसे महान् वाक्य लाभ होता है ।

एक प्रकार 'कर्तारों की रसानुरूप योका' सम्बन्धी वाग्व्यवकी के विचारों को संक्षेप में ऊपर फिर नर विरचित्यन के रूप में देखा जा सकता है ।

१- अथ० पृ० २३२

२- अथ० पृ० २३३

३- अथ० पृ० २४२

४- अथ० पृ० २३३-३४

५- अथ० पृ० २३३-३४

संयन्ता का सम्बन्धीर ध्वनिकाम्य में उक्त मन्त्र -

वाक्य की रीति की ही वाचस्पत्यनी ने 'संयन्ता' उक्त की है। किन्तु वाक्य के कुछ भिन्न रूप में उसे स्वीकार किया है। वाक्य ने 'रीति की' तीन प्रकार का माना है - कैवली, गौडी और पांजाडी। गौडी और कान्ति गुण वाली रचना 'गौडी' है। माधुर्य और वीरुगार्य के युक्त रचना 'पांजाडी', और यहाँ गुणों के युक्त रचना 'कैवली' है। वाचस्पत्यनी की भी 'संयन्ता' तीन प्रकार की है और वह गुणों पर बाधित रखी हुई, रक्तों की ध्वनिक है। वह अपने भिन्नप्रण और भिन्न के छिद्र गुणों की कौशा रखी हैं। यदि 'माधुर्य' गुण होना तो संयन्ता मुक्त और 'काव्यरसि' या 'वसन्ताका' होनी। इसके विपरीत यदि गौडी गुण होना तो 'पहल' तथा 'वीरुगार्य' संयन्ता होनी। 'प्राय' गुण में दोनों स्थितियाँ रह सकती हैं - मुक्त ^{और} पहल। इस प्रकार संयन्ता तीन प्रकार की होती है। -

१- कलाका

२- मध्यम कलाका

३- वीरु कलाका

वाचस्पत्यनी ने संयन्ता और गुणों के सम्बन्ध पर तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं :-

१- गुण और संयन्ता का ऐक्य(अन्य), और के मानने पर दो पदा संभव हैं-

२- गुणों के बाधित संयन्ता, अथवा

३- संयन्ता के बाधित गुण।

१- (१) कलाका कलाकेन मध्यमेन च सुचिता।

तथा वीरुगार्येति त्रिधा संयन्तोपिता ॥ ध्व० ३१५

(२) गुणानाधिक्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्मन्त्राणि वा रसान् । ध्व० ३१६

२- अब च विकल्पं गुणानां संयन्तावास्तविकं व्यतिरेकी वा । व्यतिरेकेऽपि स्त्री वतिः । गुणान्मया संयन्ता, संयन्तान्मया वा गुण इति ।

संयन्त्रा की नांति गुणों की अनिच्छता का प्रश्न -

यदि गुण और संयन्त्रा

एक तत्त्व हैं क्या संयन्त्रा के बाह्य गुण है, तब संयन्त्रा की नांति गुणों की अनिच्छता का प्रश्न उपस्थित होगा। क्योंकि गुण विषयक विषय व्यभिक्त हैं -
क्या - सामुद्रिक, प्रवाह का प्रकर्ष करुण और विकृत्यभ्रंश में ही होता है।
और के विषय रीति, अत्युक्त बादि हैं। किन्तु संयन्त्रा में वह विषय विपत्ति ही जाता है। क्या - भ्रंश में दीर्घमात्रा और रीति बादि में क्यासा संयन्त्रा की वैधी जाती है। भ्रंश में दीर्घमात्रा, कै -

(१) मन्त्रारुपुपुनरुपिर्विस्तारका क्या

(२) अनवस्तनमनसकृतनिकानमसिपुचिपुचकप्रदेशं ते ।

कृतकविषयजनकते कनमिदं कं न तापयति ॥

तथा रीति बादि में क्यासा, कै -

‘यौ नः कृतं विमर्ति स्फुक्कुम्भः पाण्डवीनां कृतां स्थापि में। ततः गुण संयन्त्रा स्फुक् नहीं है और संयन्त्रा के बाह्य भी नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि संयन्त्राभिन्न गुण नहीं है तो गुण किसी बाह्य है ?

उप पर कही हैं - गुणों का स्वाभाविक और अस्वाभाविक तो गुण विवेक के प्रश्न में कहा ही जा गुण है।

गुणों के अस्वाभाविक पर बासीय :

यदि पुनरिपति कहे कि - क्या गुण

अस्वाभाविक है तब वे संयन्त्रा स्फुक् या संयन्त्राभिन्न भी हो जाएँगे। क्योंकि गुण जो स्वाभाविक होते हैं, वे (गुण) अस्वाभाविक अर्थों के बाह्य नहीं हो सकते। क्योंकि गुण के जो बाह्य हैं वे एक अत्र विमानुभाव द्वारा संयन्त्रा ही कर ही व्यभिक्ति का प्रतिपादन करते हैं।

उप पर विद्वान्तरपति कहा है कि - ऐसा नहीं है क्योंकि स्वादि का

असंख्य वर्णों और यह वे व्यंजन्य प्रतिपादित ही पुनः है । जन्मा रस बादि को वाक्यव्यंज्य नाम देने पर कोई निश्चय संकेतना मुणों का बाक्य नहीं होती ।
 अतः अनिश्चय संकेतना बाते उक्त ही व्यंज्यविहीन वे वस्तु होकर पुनः के बाक्य हैं।

अनिश्चय संकेतना बाते उक्तों के बाक्यत्व पर आशय -

उक्त पर पूर्ववर्ती यह उक्त है कि माधुर्य के विषय में उक्त प्रकार यह उक्त है किन्तु बाक्य का अनिश्चय संकेतना बाते उक्तों का बाक्यत्व कैसे सम्भव होना ? क्योंकि जन्मादा संकेतना की भी बाक्य का बाक्य नहीं बन सकती ।

उक्त पर विद्वान्तवर्ती कहता है कि जन्मादा संकेतना की बाक्य का बाक्य नहीं है । उक्त उदाहरण बाते पुनः के व्यंज्यता के प्रश्न में -
 'यौ वः उक्तं निमित्तं' इत्यादि दिया जा चुका है । उक्त उदाहरणों में कोई बाक्यत्व की नहीं जाता । उक्त कारण मुणों के निश्चय संकेतना वे रचित उदाहरण में कोई उक्ति नहीं ।

अतः पुनः उक्त हैं और संकेतना उक्त है । और संकेतनाभिन्न पुनः नहीं है ।
 वरन् संकेतना पुनःप्रति होती हुई रचों की व्यंज्य है । यह उक्त निम्नलिखित और निम्न के छि मुणों की व्यंज्यता रखती है । उक्त बाजार पर संकेतना तीन प्रकार की नहीं है -

१- जन्मादा

२- मध्यमजन्मादा

३- दीर्घजन्मादा

संकेतना के निमित्त :

संकेतना के निमित्त उक्त नहीं होती , वस्तुतः संकेतना के निमित्त कथा, वाक्य और विषय होते हैं, कथा कथा होना , कथा वाक्यार्थ होना तथा कथा विषय होना , यही ही संकेतना भी होती ।

कथा -

उक्तों के कथा की ही उक्त हैं - (१) कवि(२) कविनिष्ठापात्र

१- ५० अ० पु० २१-२२

२- तन्मित्रे केदुरीपितृं वक्तुवाच्ययोः ।

विजयात्मन्यन्तरीपितृं तां निवृत्ति ॥ अ० ३१५-०

यह दोनों कस्ता रास और निरस दोनों ही कस्ते हैं । इनमें बीरस कवि या उसके आराधकविषय नाम की नाचा में किसी भी प्रकार की संश्लेषा हो सकती है । उन्हीं स्वतंत्रता है । किन्तु कहां तक रास संश्लेषा का सम्बन्ध है, वह हमें पर निर्भर है । रास नाचकाव्य तथा प्रसिन्नायकाव्य होती हैं । नाचक और बीरकई नाचक उपनाचक स्वभाव है बीरबीरस काव्य (बीरकवि और बीरप्रधान) ही कस्ता है । तदनुसार उनकी नाचा और नाचकसंरचना की भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है ।

वाच्य -

----- वाच्य में प्रयुक्त वाच्यार्थ जैसे प्रकार का होता है - कहीं वह रास का कं होता है, कहीं रसनाच के युक्त, कहीं अभिनेय होता है, कहीं अनभिनेय, कहीं वह अपने प्रकृति के चार्जों के द्वारा प्रतिपादित होता है, कहीं उसके भिन्न मध्यम और अन्य प्रकृति के चार्जों द्वारा ।

कन कवि या कविनिष्य नाम, इस-मात्र रहित होती हैं , तब संरचना में स्वतंत्रता रहती है । किन्तु कन कवि या कविनिष्यनाम रास नाचादि के युक्त होने और ध्वन्यात्मक रासध्वन्य प्रदान होना तब संश्लेषा निश्चित हो जाता है और मध्यमनाचा होती । कल-रा और निरुद्धम कुंभार में कस्ता संश्लेषा होती । क्योंकि बीरकनाचा संश्लेषा प्रदान-रास-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करती है । विशेष रूप से नाट्य में । कल-रा और निरुद्धम कुंभार कल्पित कुंभार होती हैं , जतः उन्हें बीर कनाच के होने वाली क्व की कल्पना और उसके होने वाली निरुद्ध के रसप्रतीति तनिक भी कल्प नहीं । यदि रीढ़ रास ही और नाचक बीरबीरस ही मध्यमनाचा संश्लेषा प्रयुक्त होती है । और कहीं-कहीं बीरकनाचा भी । किन्तु बीरकनाचा संश्लेषा केवल कहां प्रयुक्त होती है कहां रसोक्ति कल्पना वस्तु बीरकनाचा संश्लेषा के बिना व्यवधान नहीं होती ही और कहां उसके रसप्रतीति में व्यवधान न होता ही ।

कनी संश्लेषाओं में एवं कनी रसों में कानन रूप से प्रभाव गुण अवश्य व्याप्त रहना चाहिये । प्रभाव का क्व है - इन्द्र और क्व की स्वभावता । एवं प्रभाव गुण के कनाच

१- ध्व० २१६ की वृत्ति

२- ध्व० पु० ३२०-३२१

३- कवाचि व संश्लेषा प्रभावस्वरूपे गुणों व्यापी । व हि कवीरसाधारणः सर्वसंश्लेषा-साधारणस्वरूपकम् - ध्व० पु० ३२१ ।

४- ध्व० २१९० की वृत्ति पु० २९३१

में, अन्तर्गत संयोजना की कल्पना और विस्तृत स्तर को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती। इसके विपरीत प्रभाव गुण के रखने पर मध्यमस्तरा का संयोजना की कल्पना और विस्तृत स्तर को व्यक्त करने में समर्थ होती है। अतः प्रभाव गुण का सभी संयोजनाओं में रचना आवश्यक है। रीढ़ रस में भी अन्तर्गत संयोजना होती है अन्तर्गत स्तरों का अभाव रहता है, यहाँ प्रभाव गुण है अभिव्यक्ति रस की अभिव्यक्ति की जाती है। अतः अभिव्यक्ति रस की अभिव्यक्ति ही जाने पर अन्तर्गत नहीं होता। गुण के अन्तर्गत में केवल संयोजना रसाभिव्यक्ति में अन्तर्गत रहती है। अतः यह निश्चित है कि रसपूर्ण संयोजना - गुणाभिध ही है।

विषय :

विषयाश्रित वीर्यता की संयोजना का नियम कुरा है। यह काव्य प्रमेयों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। काव्य के प्रमेय - संस्कृत संस्कृत, प्राकृत और अश्वत्थ में निम्नस्तर, अन्तर्गत, विशेष, कलाप, कुल, पदविन्यास, परिष्कार, उपलब्धता, अन्तर्गत, अभिव्यक्ति, वाक्यावली, कथा आदि के आधार पर भी संयोजना का चयन किया जाता है। इनमें है प्रत्येक की भाँति मुक्तकों में भी कवि ठीक ठीक रचना करते हैं। जैसे - अन्तर्गत में। अन्तर्गत आदि में यहाँ की रचना में निम्नता अव्यक्त रहती है, अतः इनमें मध्यमस्तरा और वीर्यता का रचना ही रचना ही होती है। यहाँ वे संयोजक वाक्य प्रत्येक में आते हैं यहाँ वे स्वयं अग्रगण्य रहते हैं, अतः इनमें संयोजना की वीर्यता प्रत्येक स्थिति के अनुसार ही होनी चाहिए। पदविन्यास में भी अन्तर्गत और मध्यमस्तरा का संयोजना होनी चाहिए, कभी कभी अर्थ के वीर्यता-नुसार वीर्यता का संयोजना भी हो सकती है, किन्तु उसमें फलन और गुण्यता वृत्ति को ही ही देना चाहिए। परिष्कार में लक्ष्यता कोई भी संयोजना हो सकती है, क्योंकि उसमें वृत्तिवृत्त मात्र रहता है, रसाभिव्यक्ति का स्वयं कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है। प्राकृत में निम्न उपलब्धता और अश्वत्थ में कुल आदि के निम्नता ने वाक्यावली के कारण स्वयं वीर्यता का संयोजना होने पर कोई विरोध नहीं। इनमें वही के अनुसार वृत्ति वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए। अन्तर्गत में यदि रस में तात्पर्य ही, तब संयोजना

१- अश्वत्थ ११६ की वृत्ति।

२- काव्य प्रमेयों का अन्तर्गत आधार वीर्यतावली ने ठीक में दिया है। तब

पृ० ७१० पृ० १२१-१२२।

की योजना रख के अनुसूचनी चाहिए। अन्यथा संघटना में स्वतन्त्रता है।
अभिलेखार्थ में सर्व या रख के निम्नलिखित में अभिलेखित करना चाहिए। यह सब प्रमाण
काय्य का विवेचन हुआ।

नव-प्रमाण-काय्य - वाक्यादिका और क्या है। यह है इनका अन्तर किन्तु
अन्त की उत्तर है। इनमें संघटना नियामक उत्तर पुनोत्तिष्ठित नव-काय्य के अन्त
की पाने पर है। अन्ति कस्तुत और वाक्यकत बीधित्य संघटना के नियामक हैं।
कैसे पहले क्या का पुन है, कस्ता के रक्षापरति होने पर रक्षानुस संघटना होने
चाहिए। किन्तु वाक्यादिका और क्या इन दोनों में परस्पर विषय के कारण
भिन्नता है। यदि विषय पर ध्यान न दिया जाय तो दोनों में कोई अन्तर नहीं
रहता। वाक्यादिका में मध्यमकता और दीर्घकताका संघटनारं होती हैं। क्योंकि
यह किन्तु नव के कारण विवेचन हावा प्रकाश करता है और उल्लेख उल्लेख वाता
है। क्या में भी किन्तु नव प्रस्तावना में अन्तर रहता है किन्तु उन्में संघटना का
नव रख पर ही निर्भर होना चाहिए।

अन्त में आनन्दवकी कहती हैं कि सर्व न (नव और नव में) रक्षित्य रक्षा
होना होती है अतः नव और नव दोनों में संघटना रक्षानुस पुनी जाती है किन्तु,
उन्में विषयकत बीधित्यानुसार कुछ नै हो जाता है। नवा वाक्यादिका रूप
मध्यम में दीर्घकताका रक्षा विपुल्य स्तार और कारण में होना नहीं होती।
इसी प्रकार नाटक वादि में अन्तका संघटना होने चाहिए। किन्तु रीति और वादि
वर्णन में अन्त कुछ संघटना होने चाहिए। अतः विषयानुसार संघटना की मात्रा
पठनी बढ़ती है। कैसे वाक्यादिका में अन्त अन्तका संघटना और नाटक में अति-
दीर्घ अन्तका संघटना नहीं होने चाहिए। यह प्रकार संघटना के नियमों का अनुसरण
करना चाहिए।

^{मात्रा}
ध्वनि में वृत्ति उत्पन्न -

आनन्दवकी ने 'अन्तार' को वृत्ति कहा है।^१ यह दो
प्रकार की होती है - १- उच्चवृत्ति और २- अर्धवृत्ति ।

१- उ० अ० ३१७-८ की वृत्ति ।

२- अन्तारी हि वृत्तिरित्युच्यते । अ० ३१३ की वृत्ति ।

३- उच्चवृत्त्यान्तः कारिण्येतिवृत्त्यान्तःपराः ।

वृत्त्याऽपि प्रकाशते जातेऽस्मिन् काव्यकलाजी ॥ अ० ३१७

उपपत्ति -

एष के अनुगुण से व्यवस्थित को बोधित्ववान् वाचकाभिः व्यवहार है
यस उपपत्तिरिति वादि वृत्तिर्वा है । उपपत्ति ने तीन प्रकार की वाच्य वृत्तिर्वा मानी
हैं - कथ्या, उपपत्तिरिति वादि वृत्तिर्वा । इन्हें ही वाचन्यवकी ने उपपत्ति कहा ।
वादि इसे एषादि से सम्बन्धित मानते हुए, वाच्य का अनुपपत्तिवाचक माना ।

उपपत्ति -

मरुत ने चार प्रकार की वाच्य वृत्तिर्वा मानी - मारुती, कैशिकी, वात्पटी
वादि वात्पटी । इन्हें ही वाचन्यवकी ने उपपत्ति कहा । तथा उपपत्ति के ज्ञान
उपपत्ति के लिए भी कहा - एष के अनुगुण से, को बोधित्ववान् वाचकाभिः व्यवहार
है यस कैशिकी वादि वृत्तिर्वा है । एषे वाच्य में अनुपपत्ति होना जाती है ।

अतः वंशों में कहा वा कथा है - उचिततः उचिततः वादि तो उचिततः है
किन्तु एषादि उन दोनों (उपपत्ति वृत्तिर्वा) के बोधित्ववान् हैं । अतः वृत्तिर्वा एषादि
के तात्पर्य से सम्बन्धित होकर वाच्य और वाच्य में अनुपपत्ति होना ठा जाती है ।

दोष -

यद्यपि वाच्य में दोष का विवेक करना व्यवहार का मनोनीत विषय
नहीं था तथापि उपपत्ति दोष के मरुत प्रमाण को व्यवस्थित न कर उसके उचित अर्थ का
स्पष्ट किया किन्तु उनका प्रमाण पुरा होता था । इन्हें ध्वनि की स्थापना करनी थी
अतः उपपत्ति गुणों के ही ज्ञान दोषों के विषय में भी कहा कि ऐसे गुणों की
व्यवस्था एष पर निर्भर है, ऐसे ही दोषों की दोषता और अदोषता की व्यवस्था
भी एष पर ही निर्भर है । उचिततः वे कहते हैं -

दोष वाच्य के उद्धार में रहते हैं, किन्तु उनके ध्वनि या उद्धार विषय होते
हैं यस उद्धार नहीं है, यस एष है ।

१- एषानुगुणतयेन व्यवहारोऽप्युचितः ।

बोधित्ववान्वाचका एषा वृत्तिर्वा विविधाः स्तिष्ठाः ॥ ३१३३

२- पु० अ० २/११

इसलिए ध्वनि द्वारा ^{मूल} अनेक अंग-रसादि के बीच में सम्नाति विरोधों का विवेक, जिसे पर्याय वाक्यों में 'रसोप' नाम से विशेषित किया है, उन्हीं में से एक एवं संस्कृत के साथ यहाँ रखा है ।

कविशिक्षा

रसों का विरोध विरोध विचार -

अंगवार्य के विविध वेदों - वस्तु, अलंकार और रसादि में रसादि अंग का विशेष महत्त्व है । उसी काव्य में विशेष महत्त्व जाता है । अतः ध्वनि कार का मत है कि महाकवियों की सभी काव्यशिल्प में उसके लिए विशेषतः ध्यान रखा जाय । अथवा काव्य में रसविरोधी तत्त्वों के ना जाने से नीरसता का प्रभेद उपस्थित हो जाता है । इस विचार के साथ विरोधी तत्त्वों के प्रति किञ्चित् भी अवधान रखने पर एक ही रसोप रसम सम्पन्न न हो सकेगा । क्योंकि एक बहुत कुलीन तत्त्व होता है जोका भी विरोधी कठका नहीं हो सकता । यह अवधान केवल प्रथम काव्य में ही नहीं, मुक्तक काव्य में और भी ज्ञेय है ।^१ क्योंकि वे रस की मुटिकाएं माने गए हैं ।

अतः रस के लिए निम्नलिखित विरोधों के परिहार की आवश्यकता है ।^२

- १- विरोधी रस की सामग्री का उपादान
- २- रस से सम्बन्ध नीरस वस्तु का अतिविलुप्त वर्णन
- ३- रस का अस्मय में विच्छेद
- ४- रस का अस्मय में प्रकाश
- ५- पुनरुक्ति: पुनरुक्ति रस का पुनः पुनः वर्णन
- ६- वृथिलता काव्यशिल्प

१- विरोधी रस की सामग्री का उपादान -

यदि प्रस्तुत रस से विरुद्ध रस के

१- दृ० पृ० ३११७ पृ० ३६०

२- दृ० पृ० ३११८-१९ पृ० ३६१

विभाव अनुभाव या संवारी भाव को स्वान विभाव जाता है जो उसके प्रस्तुत रूप अपनी विभावित तक नहीं पहुँच जाता । जैसे शान्त रूप के विभावों में, अपने अपने विभाव रूप से निहित होने के बाद ही मुँहार बापि के विभाव का वर्णन कर विभाव भाव को शान्त रूप अपनी विभावित तक नहीं पहुँच पाएगा ।

जैसे प्रकार, विरोधी संवारी भावों से भी एक विरोध सम्भव है । जैसे - प्रिय के प्रति कामिनी के प्रणयकण्ठ से कृपित होने पर, वैराग्य के उपदेश द्वारा अनुभव विभाव ।

विरोधी रूप के अनुभाव के परिणाम से भी एक विरोध सम्भव है । उदाहरणार्थ - प्रणयकृपित होने पर प्रिया के प्रणय न होने की स्थिति में स्नेह के वापस से विपक्ष नायक के रौद्र के अनुभावों का वर्णन करने पर ।

२- एक से सम्भव अन्य वस्तु का अतिविस्तृत वर्णन -

जब कवि अन्य वस्तुओं का, एक के प्रान्त में अति विस्तृत वर्णन करने लगता है, तब भी प्रकृत एक की अनुपस्थिति में व्यवधान पड़ता है । जैसे - कोई कवि किसी नायक के विप्रेक्ष्य मुँहार का वर्णन कर रहा हो, उस समय एक बापि अंतर्कारों के निवन्धन में रक्षितता के कारण बढ़ा-बढ़ा कर पक्ष बापि का वर्णन करने लगे ।

३- एक का वर्णन में विच्येद -

जब किसी स्थल पर कवि को एक का उपनिबन्धन करना आवश्यक हो किन्तु, उस स्थान पर एक का निबन्धन न किया जाय, तब भी रचानुपस्थिति में विपक्ष जाता है । यथा - नायक नायिका के अत्यधिक स्नेहजन्य स्नान के अवसर पर - मुँहार एक परस्पर परिपोष की अवस्था पर हो, और उन दोनों को परस्पर स्नान भी विहित हो गया हो, तब भी उनके स्नान के उपाय की विन्ता के उचित व्यवहार की छीकुर, सुखी व्यवहार का वर्णन करने लगता ।

४- एक का वर्णन में प्रकाशन-

एक के वर्णन में प्रकाशन से भी रचानुपस्थिति में व्यवधान जाता है ।

१- ५० पृष्ठ १६१

२- ५० पृष्ठ १६२

३- ५० पृष्ठ १६३

उपाहरणार्थ - प्रथम के समस्त ही रहे विविध वीरों के नाम बाडे संग्राम में, विप्रक्रम्य
 भुंगार के उपक्रम के बिना और बिना उचित कारण के राम कैसे देवता का भी भुंगार
 क्या में पड़ जाने का वर्णन करने लगता । यहाँ केवल लगता यह देने है स्थापना नहीं
 ही लगता कि नायक कौन व्यापक है सेवा कर रहा है । क्योंकि नाट्य रचना के
 समय कवि की प्रवृत्ति का निम्न्य मुख्यतः रसमय में ही होना चाहिए । वसिष्ठ
 का वर्णन रसमय का उपाय मात्र है । और यदि कवि वसिष्ठ मात्र के लिए नाट्य
 रचना करता है तो उसका प्रयत्न अनुपादेय है । वहीलिए यह कहा गया है कि उस
 प्रीत्यन्त स्त्री बाँधों की बाँधी बाँधा व्यक्ति वाच्यवाचक रूप दीपकित्ता के प्रति
 यत्नवान् होता है । यदि बाँधों ही नहीं तो दीपक अर्थ है और यदि काव्य में
 रसमय नहीं तो वो भी ठिठा गया सब निरर्थक है ।

वसिष्ठ का प्राधान्य होने पर रसमय की यह वृत्ति प्रायः कवियों के ही
 बाधा करती है , वहीलिए उन्हें लौकिक करने के लिए सब व्यवस्थाओं की रचना की
 नहीं है । यहाँ व्यंग्यकार ने स्मरण दिलाया है कि केवल व्यक्ति की स्थापना मात्र
 हेतु ही सब और प्रवृत्त नहीं हुए हैं । वरन् मुख्य प्रतिपाद यही है कि कविनाम अपने
 काव्य में रसमय का विशेष ध्यान रखें । वसिष्ठ के साथ रस के अंशानिनाम के
 प्रति सूचित रचना चाहिए ।

४- पुनः पुनः रस का पुनः पुनः दीपक-

रसमय का एक कारण यह भी है कि जो रस परम परिपुष्टावस्था
 को प्राप्त हो पुनः ही हो, उसका बार-बार उदीपन करना । सेवा करने के लिये
 कोई वाक्यार्थ नहीं रहता उसकी स्थिति परिष्कृत पुनः के समान हो जाती है ।

१- ५० अ० पृ० ३६३ ।

२- अतएव वैशिष्ट्यमात्रवर्णनाद्वयै, अंशानिनामरहितरसमात्रवर्णनैः च कविनामैर्-
 विनामि स्वकित्तामि कवन्ति, वसि रसादिप्रवर्णनमात्रात्पक्षेणां युक्तमितिकल्पो-
 म्भिः स्थापितारम्भः, न तु व्यक्तिप्रतिपादनमात्रमिति निवेद्यते । अ० पृ० ३६३-६४

३- उपपुनः ही रसः परिष्कृतपुनः कल्पते । अ० पृ० ३६४

६- वृत्तिगत कवीचित्त -

वृत्ति कवार्त्ति व्यवहार का जो कवीचित्त है वह भी रसज्ञ का है। कवा - नायक के वृत्ति किसी नायिका क के द्वारा उचित की के बिना स्वयं सम्पन्न की कक्षा फल करना। कवा नरस की वृत्ति कैश्चिद्वादि वृत्ति वृत्तियों का कवा काव्याङ्गार में वृत्ति उपनागरिक वादि वृत्तियों का कवीचित्त कवार्त्ति विषय में निष्पन्न की रसज्ञ का है।

ये रसज्ञ के कविता है। रसज्ञ के ऐसे ही कव्य है। कवी की कलना कवि स्वयं करें और उनका परिहार करें।

मुख्य तत्त्व यह है कि कवि को सर्वे ध्यान रसना चाहिए कि उसका प्रसन्न उत्पन्न है। उसके विषय में इसे कृपावी रोगा चाहिए। क्योंकि जो कृष्ण का नीरस होता है वह कवि के ^{लिख} कवाम् कवयश्च है।

विह्वल रस और उनकी बीका -

कवी विह्वल रस विषयक विवेचन हुआ है। अतः अब पर विचार कर लेना उचित होता कि किन किन रसों में परस्पर विरोध होता है और उपयोग किन रूप में होना चाहिए -

विह्वल रस :

- १- शृंगार और वीररस
- २- वीर और कान्त
- ३- शान्त और रौद्र
- ४- शान्त और शृंगार

१- पृ० पृ० २५३

२- एकैवा रसविरोधितान्तेषां वाक्या पिता स्वयमुद्देशितानां परिवारे
अकविमिरवतिनीतिवत् । पृ० पृ० २५३

३- पृ० पृ० २५३

४- पृ० पृ० २५२ ।

अविहृत रस

- १- वीर वीर श्रृंगार
- २- श्रृंगार वीर वात्सल्य
- ३- रौद्र वीर श्रृंगार
- ४- वीर वीर वक्रवृत्त
- ५- वीर वीर रौद्र
- ६- रौद्र वीर वक्रवृत्त
- ७- श्रृंगार वीर वक्रवृत्त

रसवोक्ता

प्रायः विहृत रसों के उदाहरणों से भी कोई सूचना नहीं आता । यदि हमें विम्वरिष्ठि हो रसों में प्रस्तुत किया जाय ।

- १- वाच्य रूप में
- २- अंग रूप में

१- वाच्य रूप में विहृत रस की वोक्ता -

वाच्य का अर्थ है वह वाक्य या अभिव्यक्ति । अर्थात् मुख्य रस का प्रतिष्ठित हो वीर वीर विहृत रस उद्योग अभिव्यक्ति हो वीर , सब वाच्य रूप से वर्णित होने पर भी विरोधी रस, मुख्य रस का बोधक बन जाता है । उदाहरणार्थ -

मयाकार्यं लल्लपणः यव न कुर्वं, मुनोऽपि दुर्योः सा ।

योवाणां प्रताप मे कुलवती कोपेऽपि शान्तं मुमु ।

किं वरुणवत्तमस्याः कृतमिवः स्वर्णेऽपि सा दुर्गा

केतः स्वास्त्युपैति नः बहु युवा वन्द्योऽपरं वासवति ॥

यहां विहृत श्रृंगार प्रधान रस है । इनमें किसी भी रूप से , मति स्वरण से, अंग से ही वीर प्रतिष्ठित है अभिव्यक्ति हुई, उद्योग वृत्ति

१- अथ० पृ० २५०

२- विवक्षित रस उद्योगप्रतिष्ठे तु विरोधप्रधान
वाच्यवार्ताप्रधानं वा प्राप्तावानुतिरुद्धता ।
अथ० ३१२०

२- वारीयत के माय-

कभी कभी वारीयत रूप में विरुद्ध रूप दूसरे रूप का रूप करता है । क्या -

वाच्यु नामं कर्म कृत्यं वर्यं तवाक्यं च ययुः ।

वाक्यवति निताम्नं सौमिरीयं वति कृत्यः ॥

यहाँ वर्य है विरोधिता की व्यापि का, किन्तु वह वह प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसके विशेषणों के कारण रूप की भी प्रतीति होती है । वह प्रतीति में कारण है विशेषणों की उपायान्वयिता । और यहाँ विप्रक्रम के अनुपातों पर कारण के अनुपातों का वारीय होता है, और मुख्य विप्रक्रम ही रहता है । फलतः कारण उसका रूप बन जाता है ।

३- परस्परविरुद्धों का किसी अन्य के प्रति संभाव-

इसमें अधिकारिक होने के कारण प्रमाणरूप एक वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रथों कला भावों का संभाव प्राप्ति होने पर भी दोष नहीं होता। क्या-

‘वाच्यो वस्तुवत्कर्मः’ इत्यादि में कारण रूप भी है और भुंजार भी ।

दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, किन्तु स्तुति के मध्य छि के प्रमाणाधिक्य के प्रति दोनों ही स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष होकर रूप हैं ।

इससे वह स्पष्ट हो जाता है कि - विरोध प्रमाण रूप के साथ ही रहता है, अनुमान रूप के साथ नहीं ।

विशेष परिस्थिति :

विशेष परिस्थिति में विरोधी रूप ज्ञान परिपोष पाकर भी अक्षय्य छि होता है । उदाहरणार्थ - युद्धुमि हैं कट कर निरे मुरिक्ता के साथ को लेकर विहाय कर रही स्त्री के वाक्यार्थ - ‘क्यों व रसनीयकभी’ इत्यादि में वाक्यार्थ भुंजार परक है किन्तु प्रकरण और वातावरण कारण है । इसछि भुंजार कभी पूरी वक्ति है व्यक्त होकर भी पुष्टि कारण रूप की ही कर रहा है ।

आः एव स्वभावः विरोधी हो या अविरोधी, वह सभी विरोधी छिद्र होता है कम वह प्रकृत और मुख्य रूप से विवक्षित एव ही ज्येष्ठा अधिक मात्रा में अनुभव में आता है ।

यहां एक विरुद्ध रसों के उदाहरण दिए गए । कम अविरुद्ध रसों के उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

स्वामी दीपिषि प्रिया वन्द्यः कस्तुरीनिषिः ।

स्नेह रणरवेन च मृदस्य वीर्यायितं सुखम् ॥

एक और प्रिया कस्तुरी नेत्र छिद्र छड़ी है और दुसरी और कस्तुरी का निषिध हो रहा है । ऐसी स्थिति में स्नेह और रणराम के मृद का पित वीर्यायित हो रहा है ।

यहां झुंजार और वीर दोनों का परिपोष ज्ञान मात्रा में हो रहा है । वह दोनों एव परस्पर अविरोधी भी हैं । यहां 'मृद' उच्च^{से} वह ^{से}स्पष्ट हो रहा है कि वीर एव ही प्रधानता है और प्रेम भी कुछ का ही है । आः यहां मुख्य एव वीर ही है , झुंजार उसके समकक्ष परिपोष पाकर भी उसका अंग बन कर ही स्थित है । इसका एक दुसरा उदाहरण -

कण्ठाक्षित्वा^आ चानाकञ्जनि करे हारमाकमिन्धी ।

कृत्वा पर्यञ्जन् पित्तवत्पतिना मैत्राया गुणैः ।

निष्ठापन्त्राभिवापस्तु रक्षरपुष्टं चिन्ताप्यतावाचा

देवी कण्ठ्याम्बुजा हस्ति पद्मविस्तारं दृष्ट्वा तु वीर्यव्याप् ॥^३

इसमें झुंजार और हास्य की परस्पर अविरुद्ध एव हैं । कवि ने दोनों को ज्ञान पोषक सम्पत्ति के दृष्ट किया है तथापि रसि प्रधान हो जाती है । हास्य ज्ञाना अधिक परिपुष्ट नहीं हो पाया कि झुंजार की ज्येष्ठा अधिक प्रवर्तकारी प्रतीत हो ।

उपश्रुत विवेचन का आधार या एक वाक्य जसा कोई एक पद । एव संदर्भ में प्रत्यक्ष वाक्य के आधार पर विवेचन भी उचित होता ।

१- अविरोधी विरोधी का रसोऽभिनि रसान्तरे ।

परिपोषं च मैत्र्यस्तथा स्वावविरोधिता ॥ पद्म० ३।२४

२- पद्म० पृ० ३२३ की संस्कृत छाया । ३- पद्म० पृ० ३२३ ।

पुण्य में रक्षोका

महाकाव्य जथा माहक बादि पुण्यों में नावा रक्षों का उपनिबन्धन होने पर भी, काव्य का उत्कर्ष चाहने वाले कवि को केवल एक एक का कीं ह्येन निबन्धन करना चाहिए, अन्य रक्षों का कीं ह्येन । ऐसा करने से कीं ह्येन से निर्बोध एक कीं एक को उपलब्ध नहीं कर पाते । एक कीं एक को पुण्य में वारम्भ से अन्य तक बीच बीच में फुट जाते जाना चाहिए । जैसे पुण्य काव्य में ही वारम्भ से अन्य तक व्याप्त होकर विमान एकी बाधा कार्य - पुण्य के बीच-बीच में अन्य कार्य की उपस्थिति होती है किन्तु उनकी ओर बड़ा क्वाणत मुख्य कार्य के विरुद्ध नहीं उभरता । जैसे पुण्य क्वाणत कार्य अन्य में मुख्य कार्य से वा मिश्रता है और मुख्यता मुख्य कार्य में ही रहती है । इस प्रकार की योजना से अनुपम सामाजिकों को अधिकतम आश्वासन मिलता है ।

कैदा की पद्धति क्या वा मुक्त है, उही प्रकार पुण्य काव्य में भी विरोधी वा अविरोधी एक का परिपोष न हो इसके लिए निम्नलिखित तत्त्व अवश्य हैं -

१- एक यदि अविरोधी हो तो उल्ला परिपोष समान मात्रा तक ही किया जाय उसके अधिक नहीं । क्योंकि उत्कर्ष का साम्य होने पर, उन दोनों का विरोध सम्भव नहीं । जैसे - 'एक ही रोहिति प्रिया' इत्यादि में कुंजार की ओर की मात्रा एक ही परिपुष्ट प्रिया गया है । उही प्रकार 'कण्ठाभित्तासमाहा-वत्तयामि करे' इत्यादि में हाव्य की कुंजार की मात्रा तक ।

२- एक यदि अविरोधी हो तो उसके खंजारी भावों की मात्रा, मुख्य एक के खंजारी भावों की मात्रा से अधिक नहीं होनी चाहिए । यदि ऐसा हो भी जाय तो वह बहुत देर तक न रहे, तब ही कुंजार की मात्रा एक के खंजारी भाव को उपस्थित करना चाहिए ।

१- पृ० ३१२ । २- पृ० ३१२ । ३- पृ० ३१२

४- उल्लेखित तत्त्वों के विषये पुस्तकालय पुस्तकी । पृ० पृ० ३००

५- पुस्तकालय काव्य पृ० ३१२ । ६- पृ० पृ० ३०२ । ७- पृ० पृ० ३०३ ।

३- कंकुत रस के परिपीच प्राप्त कर लेने पर भी, उसकी कंकता के प्रति रुचि रुकना चाहिये । सम्पन्न ऐसा न हो कि वह कंठी ही बन जाए ।

४- कंकुत रस की मात्रा कंठी रस की अपेक्षा कम हो रहनी चाहिये । यदि सामान्य रस कंठी की तो उसके साथ कुंठार की मात्रा उसकी हो रहनी चाहिये किन्ती निर्विष की रस में परिणत हो क्षुरान हो अधिक न कर दे । कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी होती है किन्तु रसान्तर स्वयं परिपीच पा लेती हैं । उनमें रसान्तर की मात्रा अधिक न हो और वे कंठ ही हो रहें - इस तत्त्व के प्रति रुचि रुकना चाहिये ।

ऊपर जो रसों के कंठाभिभाव की कथा हुई है, उसमें 'रस-कंकता' के विषय में यह उक्त हो जाती है कि - रस, रस्य की प्राप्त तभी होता है जब वह कंठी रहता है । प्रसन्न रस का अभिवर्धन नहीं है । कंठ बनते ही रस, रस नहीं रस जाता । तब कंकुत 'रस' की रस कैसी कहा जाय ?

रस की कंकता का अर्थ है - जिसे कंकुत रस कहा जा रहा है वह रस नहीं, बल्कि रस कैसी स्थिति तक पहुँचा हुआ स्वादी भाव है ।

कुलम्ब में विरोधी रस की बोझा के उपाय-

यदि प्रसन्न रस के साथ उही कुलम्ब में उसका विरोधी रस भी प्रसन्न करना हो तो यह देना चाहिये कि विरोध किस कारण है । यदि दोनों रसों का किसी एक सामान्य-नाक या एक ही मात्र में रस विरोधक हो तो उन रसों की मिश्र मिश्र मात्रों में बिछा देना चाहिये । जैसे बीर और मयानक रस, एक ही व्यक्ति में नहीं बिछाए जा सकते । उन्हें अलग-अलग व्यक्तियों में बिछाया जा सकता है । बीर की नाक में बीर मयानक की प्रतिनाक में । ऐसे अलग विरोध सामान्य हो जाता है ।

१- अथ० पृ० ३२४

२- अथ० पृ० ३२४

३- अथ० पृ० ३२४-३२७

४- विश्वनाथजी वस्तु विरोधी स्वादिकी नैव ।

स विभिन्नात्मः कार्यस्तस्य पोषेऽपरोक्षता ॥

अथ० ३१२५ तथा वृत्ति पृ० ३२७-३२८

२- वैरन्तकीरिवार :

कभी-कभी विरह रसों का वाक्य एक ही व्यक्ति होता है , किन्तु विरोध निरन्तरता के कारण होता विचारों पड़ता है । ऐसी स्थिति में कवि को चाहिए कि इन दोनों के बीच में , कोई तीसरा रस ला दे, जो दोनों रसों का विलोमी ही । नामानन्द में कवि ने हान्तरस के बजाय वन भुंजार रस को उपस्थित करना चाहा जो बीच में अनुसृत रस को उपस्थित कर दिया । अनुसृत के स्थायी नाम 'विलम्ब' के होते ही वीरुत्पादन की निर्विकलता विलम्ब को नई बीर वन मलयकी का वातावरण हुआ वन रसि को उत्कर्ष का अवसर मिल गया ।

वैरन्तकी के निराकरण के कारण विरोध का परिवार केवल एक पात्र में ही नहीं, एक वाक्य में भी हो जाता करता है । उदाहरणार्थ -

‘पूरेणुविम्बान् नमपारिवात्माहा’ जयादि ।

यहाँ पर परस्पर विरोधी भुंजार बीर वीररस रस के मध्य में बीर रस को उत्कर्ष उपस्थित किया गया है । वीररस देहा रस है जो वन दोनों रसों का मित्र है ।

एक प्रकार कवि को विरह बीर विलम्ब रसों को अपने प्रकल्प में अवधानपूर्वक निवन्धित करना चाहिए । किन्तु भुंजार रस में वन विरोध प्राम रसना चाहिए । क्योंकि , वन रस सर्वाधिक मधुर बीर सुखात्मक हैं । बीर वन रसि का परितोष रूप है, रसि नाम का वृण नाम विरोध ही की सम्भव होता है । अतः भुंजार रस का पीड़ा का भी विरोध अवश्य हो जाता है ।

कुछ कवि को वन रस की योजना में बहुत सावधान रहना चाहिए । क्योंकि उन्हें प्रभाव होते ही कवि की अज्ञात पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है ।

जो कवि रसादि के विरोध विलोमी को डीक दे सकें उता है उसे काव्य-विशेष में नहीं भी कोई आलोच नहीं होता ।

१- अथ० ३१२६ तथा वृत्ति पु० ३४८-३४९ । २- अथ० ३१२७

३- अथ० पु० ३४९ ४- अथ० पु० ३४९

५- अथ० ३१२८ तथा वृत्ति पु० ३४९-३५० ६- अथ० ३१२९

७- विद्याकेरव दुसादीनामविरोधविरोधः ।

विषयं वृत्तिः काव्यं वृत्तिं वृत्तयः न वयसि ॥ अथ० ३१२९ अथ० पं० ४००

काव्यार्थ केवल उच्चारणानुसारात्तस्य वाच्य-वर्थ एक ही भिन्न नहीं होता, उसकी व्याप्ति व्यंग्यार्थ तक होती है। यही व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य का प्रधानपक्ष वा रसस्वरूप तत्त्व है। व्यंग्यार्थ के प्रज्ञान होने पर ध्वनिकाव्य होता है और अज्ञान होने पर गुणी मूलव्यंग्य काव्य। इन दोनों ही स्थितियों में वह वर्थ कविप्रतिभा के लिए उत्पन्न है। क्योंकि सर्वज्ञ-मणनातीत काव्यों के पूर्व निमित्त होने पर ही, कवि उक्त दोनों स्थितियों (ध्वनि और गुणीमूलव्यंग्य) में रसस्वात्मपक्ष- व्यंग्यार्थ का वाच्यजन करते निरव-मूल्य रचना कर सकता है।

किन्तु एक व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य न तो प्रत्येक उच्च में होता है और न ही प्रत्येक कवि में। वह सामर्थ्य किन्हीं विरह उच्चों में ही रहता है, और वह व्यंग्यार्थ केवल महाकवियों की वाणी में ही स्फुरित होता है। यही महाकवियों की वाणी का अङ्गकार भी है। काः विदे महाकवित्वं वक्ष्यते कदाचि, उदे वाचि किं वह उत विविष्ट उच्चों को कल्पपूर्वक पत्ताने। ऐसे उच्चों का ध्वनिकेन्द्र पुर और मरुर रत्ना में ही होता है। अथवा व्यंग्यार्थ निरपेक्ष उच्च की रत्ना में कोई वैशिष्ट्य ही नहीं। क्योंकि वह उच्चार्थों के मूल्य का आस्वादन नहीं कर पाती।

एक प्रकार के उच्च और वर्थ की दो मुख्यवस्तुयें यौक्ता हुआ करती है, उही को कहा जाता है महाकवि का मुख्य कर्त्तव्य। यही वह यौक्ता है किन्हीं प्रतीयमान वर्थ को पूर्ण परिपूर्ण प्राप्त होता है।

१- (क) ध्वनेर्ध्वः गुणीमूलव्यंग्यस्याप्यत्र प्रकृतिः ।

अनेनानन्तर्यायति कवीनां प्रतिभागुणः ॥ ध्व० ४।१

(ख) ध्वनेर्हितं गुणीमूलव्यंग्यस्य न क्वाप्यत्र ।

न काव्यापीडितोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ॥ ध्व० ४।५

२- मुखा महाकविपिराम्यप्रतिभागुणः ।

प्रतीयमानव्यंग्येण मुखा उच्चैः योचिताम् ॥ ध्व० ३।३०

३- उच्चैः समुच्चयिष्ठानामुच्चैर्ध्वो उच्चैः कथम् ।

कथम् : प्रथमिष्ठैर्ध्वो उच्चैर्ध्वो महाकवीः ॥ यही १।८

४- यही ध्व० १।३०-१।३८

५- वाच्यार्थार्थ वाच्यार्थार्थ न कवीनित्येन यौक्ताम् ।

रसादिविषयैर्ध्वो क्वं मुख्यं महाकवीः ॥ यही ३।२२

अध्याय की यह योजना अत्यन्त सूक्ष्मप्रतिभा और गम्भीर व्युत्पत्ति की लक्षणा रखती है । जो बहुत प्रयत्न के बाद मिलती है । स्वीछिद एवं अतिविचित्र कविपरम्परा-वाहिनो संसार में लोक कवि देखने को मिल रहे हैं किन्तु किन्हीं महाकवि जगत् का रहे, ऐसे प्रतिभाशम्भ कवि बहुत विरल हैं । वे काव्योत्कर्ष कादि शैलीगत या भाषा-तः ही हमें अधिक नहीं ।

एक तरह स्पष्ट है कि प्रतिभा शम्भ कविमूर्तों के काव्योत्कर्ष का मुख्य विन्दु विविध व्यंग्यायों (सत्त्व, अहंकार एवं रसादि) की है । स्वीछिद जो कवि परिपक्व हो जाते हैं, जिसका कवि कर्म परम परिपाक को प्राप्त हो जाता है, उन्हें 'ध्वनि' के अतिरिक्त अन्य कोई ^{chiam} प्रकार नहीं पाया जाता । यह निश्चित तथ्य है कि ध्वनि का बोध हो जाने पर कवि का उसकी निपुण योजना करने लगे हैं तो काव्य के परम प्रकर्ष को प्राप्त कर ही लेते हैं । अतः ध्वनि के उन्हें बहुत लाभ होता है। यह कहा ही जा चुका है कि ध्वनि की संख्या जतनी अधिक है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती , फिर तब तो कलना ही क्या ? का उन्हें गुणीभूतव्यंग्य की का मिले । इस कारण कवि में यदि प्रतिभा हो तो ध्वनि के लाभ है वह अत्यन्त विस्तार प्राप्त पा लेती है, क्योंकि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के अंतर्गत और अत्यन्त प्रकारों में है किसी एक ही प्रकार का स्पष्ट कह कर लेती है तो उसकी वाणी में गहराई का जाता है , उसे ही बात पुरानी हो । यहाँ तक कि कि अहंकार की काव्य का

१- ध्व० पृ० ६३ ।

२- (क) प्राच्यपरिणतीनां तु (कवीनां) ध्वनिरेव काव्यम् - ध्व० पृ० ४६६-४७७

(ख) म्वायै काव्यमव्यक्तव्यमपने क्रियमाणी वास्तवैव ध्वनिम्यतिरिक्तः काव्य-

प्रकारः, अतः परिपाकवर्गा कवीनां रसाक्षितात्परीक्षितै व्यापार एव न शीक्यं ^{वही, पृ० ४६७।}

३- उक्तव्यं ध्वनिमिच्छन्निपुणा हि अकम्बः अनुसारात्

निश्चयैव काव्यविषये यदा प्रकल्पितवीमाशादवन्ति । वही पृ० ४६६-४७

४- वही ४६९ और ४७६

५- वही ४७२

वाक्य वर्तमान नाम कब कर छोड़ दिया जाता है, कब भी ध्वनि की कल्पा में जाती ही पराहाया की प्राप्ति हो जाता है । इतना माहात्म्य है ध्वनि का ।

उपसृक्त मनु, वर्तमान एवं रसविषयों में है भी रसादि ध्वन्य का विशेष महत्त्व है । क्योंकि सुकवियों के वाक्यार्थ का मुख्य विषय 'रस' होता है । जिस कवि का कृत्रिम रसहीन कल्पा नीरस होता है उसे महान् कल्पक मित्रता है । रसहित कवि की रस परतंत्र कल्पना हीना नाहित । रसादि ध्वन्य की कल्पाने से कवि की कर्माणि कदापि मित्रता है । उससे कल्पना, रस, और काव्य के मेघ से निम्नता और उपस्थित होने वाली धाम्नी भी अधिष्ठान कल्पा सम्पन्न प्रतीत होने लगती है ।

रसादि का तीन अन्त विस्तृत है । रस, नाय, नादानाद, नायकृत्त आदि के प्रत्येक विभाव, अनुभाव और ध्वनिवारीभाव का पूर्ण रूप से वाक्य होने पर काव्य में विविक्तता का जाती है । इस कारण यदि उसका युक्तिपूर्वक अनुसरण किया जाए तो अन्त प्रकार की काव्य रचना हो जाती है । रस के परिकृत से कवि की पुरानी धाम्नी में भी उसी प्रकार का नक्कल का जाता है जिस प्रकार मनुष्य के सुतों में । निम्नलिखित कविकथन कदाचरणों से स्पष्ट है कि ध्वनि के बिना रस के संस्पष्ट मात्र से ही काव्य में नक्कल का जाता है । यथा -

हेमनी विनिविरित्यं च मयान्तो मुखः स्मिराः ।

मयं विनिविरित्यं च मयान्तो मुखः स्मिराः ॥

इस उक्ति से रसों हुए भी निम्नलिखित वाक्यान्त की उक्ति कवीन प्रतीत हो रही है -

१- शरीरीकरणं वैभवं वाक्यत्वं च व्यवस्थितम् ।

वैवर्तनार परां शायं वाग्नि ध्वन्यंतां यताः ॥ ध्व० २।२८

२- यही पृ० ३६४

३- रसनावाकिकल्पना कर्मावस्थानुसारिणी ।

अन्वीकरी मनुष्यविशेषाणां दिनेपिनी ॥ यही० ४।६

४- मुखवाक्याऽनुवर्तिनी रसादि बहु विस्तरः ।

विनीऽध्वन्यंतां प्राप्यः काव्यमार्गं यथाकामात् ॥ यही ४।१२

‘वरणीवारणायाकुता रत्नं हेमः’^१

क्योंकि यहाँ उच्चवर्गमूलक क्षुरणकर्म विवशितान्तरवाच्य ध्वनि की याँका है ।
इसमें ‘हेम’ उच्च और ‘वरणीवारण’ उच्च है हेमनाम तथा इसके फणांमण्डल पर
पृथ्वी के लगे रहने की बात अभिव्यक्त हो रही है ।

उसी प्रकार -

सूरी वरुणाछाये कुमार्थः पुञ्जोद्गमैः ।

सूयन्ति सृष्टान्तर्गुणवाच्यमाननाः ॥^२

उपसृत कर्म के लगे हुए भी काठियाव के -

एवं वाचिनी देवर्षी वारधे क्षुरणोद्गमैः ।

जीताकलकवाणि नगवानाव वापिनी ॥

इस कर्म में नवीयता है , क्योंकि यहाँ देवर्षी वारधे द्वारा छार भर विवाह-
विषय समीप की पुनर उच्चारण के कारण नक्की वापिनी कर्मवर्णनना करने
लीं । इस प्रकार यहाँ वाच्य-वर्ध के उद्गम है कर्माक्षर - उच्चार कर्म व्यभिचारि-
नाम अभिव्यक्त हो रहा है । इस प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कर्म के संश्लेष
हो जाने के कारण यहाँ कर्मः सम्पत्ती कर्मकर्मपुनर क्षुरणोद्गमवाच्य ध्वनि है ।

पुनरुक्त कर्म में ‘उच्चार’ कर्म का प्रयोग किया गया है किन्तु काठियाव ने उसी
कर्म को व्यंग्यार्थ द्वारा प्रतिपादित किया है । उसी कारण काठियाव की उक्ति
में वैशिष्ट्य है ।

उसी प्रकार -

सुरमिच्छते प्रसूते अस्मा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः ।^३

रापवसानुत्कृष्टिकाः सर्वे सत्कारलक्षितिकाभिः ॥

इस कर्म के लगे हुए भी निम्नलिखित कर्म में अधिक वाच्य और नवीयता है ।

सम्पत्ति सुरमिच्छा न तावदपीति युवतिकाकल्पमुखात् ।

वधि नववर्णास्तुताम्बकवत्कल्पकाननमस्य हरान् ।^४

१- पृ० पृ० १२८

२- वही

३- वही

४- वही

५- वही

यह कवि प्रोटीकृत है विष्णु है ।

उक्त कवियुक्त उद्धरणों के स्पष्ट है कि व्यंग्य-कवि का संस्कार होती ही पुरानी छान्दोग्य में भी नवीनता का वाता है और यह छान्दोग्य अनुसार के सुनों के ज्ञान नववाच ही प्रतीत होती है ।

कैवल व्यंग्यकवियों के आभरण के नहीं, बल्कि वर्ण, नद, वाक्, प्रत्यक्ष रूप व्यंग्य-कवियों के आभरण है भी काव्याची में नवीनता का वाता है । यह प्रकार व्यंग्य -व्यंग्यभाव के अन्त प्रकार सम्मिल होने पर भी कवि को रसादि रूप कवि कवि के छिद्र आकामन रहना बाधित । क्योंकि रस, नाय, रसानाच, नायानाच, रूप व्यंग्य में और वर्ण, नद, वाक्, रचना और प्रत्यक्ष रूप व्यंग्य में अन्तर्भावानुसार विद्य बाध कवि का पुरा काव्य अनुर्व (नवीन) बन जाता है । यथा- रामायण महाभारत आदि ।

काव्यों में संज्ञान का बार-बार वर्णन होने पर भी रसाध्य के कारण उन्हीं कवि नवीन वास्तव्य -प्रतीति होती है ।

प्रत्यक्ष काव्य में 'रसादि व्यंग्य' का विशेष महत्त्व है क्योंकि एक ही विषय रस का आभरण लेकर काव्य रचना करने पर एक ही नर काव्याची का ज्ञान होता है और दूसरी और प्रत्यक्ष बहिष्कृत होना अनुक्त को वाता है । इसलिए अनेकानर के ज्ञान में भी, रस के अनुक्त कवि-विशेष का उपनिबन्धन करने पर काव्य तात्पर्यादि अनुक्त हो जाता है । यथा -

मुनिविधि योनीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनमुने दृष्टी तौ दिव्या मत्स्यकम्बुनी ॥

अर्थात् योनिवर्गों में केवल, महात्मा अस्तव मुनि की कवि ही, किन्तु एक पुरुष में मत्स्य और कम्बु को पैदा ।

१- व्यंग्य १५५,

२- यही पृष्ठ ५२६

३- यही पृष्ठ ५२६

४- यही पृष्ठ ५२६

५- यही पृष्ठ ५२६

यहाँ व्युत्पन्न रह है । एक ही पुल्लिंग में दिव्य मत्स्य और दिव्य कम्बल का यही एक रह के व्युत्पन्न पड़ता है । और एक ही पुल्लिंग में व्युत्पन्न कौटिल्य और नी की बात भी इसी व्युत्पन्न ही रही है , नी वस्तुतः आरम्भ की बात है । व्युत्पन्न सम्बन्धी यह पड़ना व्युत्पन्न रह के लिए और भी अधिक बोधक है । एक वचन में कोई अर्थकार नहीं है , तथापि स्वाभाविक होने के कारण हमें वास्तव्य का भय है । यही बात किता रह के लौकिकवैदिक के रूप में यही बात ही हमें कोई अर्थकार न होना । यही प्रकार अन्य स्वतन्त्र भी प्रकट हैं ।

एक प्रकार यह सिद्ध है कि पुष्पिमाधुन सम्बन्ध कवि प्यमि और पुष्पिमाधुन्य का वाक्य लेकर अन्त काव्य रचना कर सकता है ।

इसके अतिरिक्त व्युत्पन्न की अवस्था न रहने वाले वाक्य का भी वास्तव्य होता है । क्योंकि यह चेतनों और अवैतनों का सम्भाव है कि उनमें अवस्था, वेद, काष्ठ और स्वयं के वेद से अन्तर्गत हो जाती है ।

१- अवस्थानेय से नवीनता -

(क) इसका एक उदाहरण है - कुमारवन्दन में पार्वती पार्वती का वणनि । काठियाव ने पहले प्रथम वर्ण में उनका वणनि किया, फिर तृतीय वर्ण में तत्परम्परा सम्पन्न वर्ण में । कन प्रथम वर्ण में उनका वणनि पड़ते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जब ऐसी कोई बात होच नहीं रह गई है जिसके लिए पार्वती का पुनः वणनि किया जाए, किन्तु तृतीय-वर्ण में कवि कन पुनः उनका वणनि करता है और अन्तपुष्पाँ से अर्जुन वेच में उन्हें सामाजिक के सामने लाता है जब भी वणनि नवीन ही लगता है, उसे पढ़ने से पित्त लगाता नहीं । अन्तर्गत वर्ण में विवाह के समय यह उन्हें पुनः सामाजिक के समक्ष प्रकट करता है जब भी वणनि अर्थात् नवीन ही लगता है । यद्यपि वे कन विवाह एक ही काव्य में हुआ है, किन्तु पुनरावृत्ति से नहीं लगते ।

कैतव वस्तु निम्न अवस्था में निम्न प्रतीत होती ही है । जैसे एक नारी कन कुमारी रहती है उस समय को स्थिति रहती है वह उसमें कामभाव का आविर्भाव

होती ही बधुत जाती हैं । उस समय उसकी वीर्य स्पर्श में विभिन्न भिन्ना वा कल्पा है । उसमें भी कुछ विनीत होती हैं, कुछ अविनीत । उनकी स्थिति की छीर काव्यभिजाणि भिन्ना बार ती उर्ध्व पुनरुत्पत्त्या क्वापि नहीं जाती । उन्नीतिर विजयमवाणडीता में कहा है -

न च तेजसं पट्योऽवधिर्न च ते पुरस्कसे क्वापि पुनरुत्पत्त्याः ।

ये विकृताः प्रियाणामर्वा वा कुक्किवाणीनाम् ॥

अर्थात् प्रियार्थों के विकृत और कुक्कि-वाणी के वर्णों की अवधि(क्वापि) नहीं होती और न ही वे पुनरुत्पत्त्या होते हैं ।

(क) अवस्थानैव का दूसरा प्रकार उस समय होता है, जब अवैतन वस्तु का वर्णन वैतन रूप में भिन्ना जाता है । जैसे विनायक या नंगा का वर्णन, इनका वर्णन वैतनरूप में उपस्थित करने पर, हममें कुछ और ही वैशिष्ट्य का जाता है । इसका प्रमाण है - कुमारसम्भव में विनायक का वर्णन । कवि ने विनायक के वर्णन से ही काव्य का प्रारम्भ भिन्ना, वहाँ उसके स्थावर रूप का वर्णन भिन्ना । पुनः वृत्ते वर्ण में सप्ताभिनिवृत्त की औच-विपुल्य-वाता के पूर्व में उसका वर्णन भिन्ना, वहाँ एक अविराज वा कुटुम्बी नीमान् के रूप में उसका वर्णन करते हुए + भिन्नाया कि वह सप्ताभिनिर्वो का स्वागत कर रहा है, उनके कल्पा, प्रिय और विनयपूर्ण बातें कर रहा है । वहाँ वह अर्ध ही मातृन पड़ता है ।

ऐसे वर्णन उत्कृष्टियों के काव्य में बहुत मिलते हैं । क्योंकि वह उत्कृष्टियों का प्रसिद्ध मार्ग है । आनन्दकवि ने विजयमवाणडीता में यह तथ्य कवियों के मान्यते के लिए विस्तारपूर्वक प्रतिपादित भिन्ना है ।

कि प्रकाश अवैतन की वैतन रूप में प्रस्तुत करने से नवीनता जाती है उन्नी प्रकाश उनकी आरम्भ आदि अवस्थानों के भेद से भी उन्में नवीनता का जाती है ।

१- न च ताज बधुत खोशी न च ते दीप्तमिदं क्व वि पुनरुत्पत्त्या ।

ये विकृताः प्रियार्थं क्वापि वा कुक्किवाणीनाम् ॥ अ०पु० ५३६ (कीर्तिल्लुकाया)

२- वही पु० ५३६

३- वही

४- वही पु० ५३६-५४०

उन अवस्थाओं का एक एक करके वर्णन किया जाए तो अन्त का अर्थ हो सकेगा । उदाहरणार्थ -

संज्ञानां निम्नैश्च वैः क्वाञ्छितैराकम्प्यो भूत्वा-

मन्वः कौऽपि क्वायकम्प्युज्जायाकर्षी विभ्रः ।

ते कम्प्यकम्प्योऽप्यारण्यकम्प्युज्जायाकर्षी

निवृत्तिः क्वाञ्छितैश्च विविक्तैराकम्प्यः ॥

जिनके क्वाय कम्प है उत्पन्न कार्यवृत्ता का स्वर संज्ञा^१ भूत्वा के मन्व विभ्र उत्पन्न होता था, अब उसी वारण्यक के कौमल कम्प्योऽप्युज्जाया^२ करने अधिक सुन्दर लग रहे हैं कि उनके स्पर्श करने वाली क्वाञ्छिता के मुजाकम्प क्वाञ्छितों में निकल जाए हैं ।

इस प्रकार यहाँ वारण्यक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन है । और ज्येष्ठ क्वाञ्छिता के मुजाकम्प की चेतन्य में प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार अन्य वस्तुओं के अन्य उदाहरण भी लीये जा सकते हैं । कथियाँ की नवीनता के लिए वह पिता का भी अनुमान करना चाहिए ।

(२) वैद्य मेद से नवीनता -

ज्येष्ठों में वैद्यमेद से भी नवत्व और मानन्त्य का जाता है । ज्येष्ठों में एक ही वायु का वर्णन एक-एक पिता और एक-एक वैद्य की ऊँच किया जाए तो ज्येष्ठ नवीन उचितियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं । क्वाञ्छित, मुजाकम्प आदि की भी यही स्थिति है । इसी प्रकार ज्येष्ठ पदार्थ भी वैद्यमेद से नवीन और नाना प्रकार के प्रतीत होते हैं । मनुष्य ग्रामवासी के रूप में वैद्य रक्ता है, नगरवासी के रूप में वैद्य नहीं । ग्राम्यकम्प, वारण्यक से ज्येष्ठ भिन्न होता है । इसी प्रकार नगर पत्नी, कनर से ज्येष्ठ भिन्न होता है । मनुष्य की उचित, वैद्य वैद्य के विविध मनुष्य पिताई देते हैं, शिवां निरीय रूप से ।

उनके व्यवहार एवं व्यापार (कार्रवाई करने के काम) विपरीत-विपरीत होते हैं । उन सब विविधताओं का पार पाका अध्ययन है । तथापि कुछविषय अपनी प्रतिभा के अनुसार उन सब की उपनिषद् करते ही हैं ।

(३) काठमेव है नवीकृता -

कौतुक फलार्थ काठमेव है नवीन प्रतीत होती हैं । कृत्यों के सब परिणाम के साथ विचार, वाक्यान्वय, कलाकृत्य में भी परिणाम एवं नवीकृता जाती हैं, यह प्रतीत हो है ।

कौतुक फलार्थ भी कृत्यों के परिणाम के साथ उही वाक्यान्वय, उन्हीं विचारों और कलाकृत्यों में किसी केना में जीवितकृत्य का अनुभव करते हैं ।

(४) स्वाच्छास्त्र्य है नवीकृता -

संसार की समस्त वस्तुओं का जो जगता स्वरूप है वह स्वयं ही प्रतिविम्बित विपरीतता लिए रहता है । स्वभावोक्ति पर वाक्य कवि यदि उन विपरीत विविधताओं का निरूपण अपनी उक्ति में कर दे तो यही नवीकृता का व्यापार प्रतीत हो सकता है ।

एक पर कोई कहे कि सभी वस्तुएं सामान्य रूप से वाक्यमात्र की प्राप्ति होती हैं , न कि विविध रूप से । कविता भी स्वयं अनुभव कृतादि और उनके कारणों के स्वरूप को व्यक्त करती है तब भी उनका सामान्य रूप से उपनिषद् करते हैं । न कि वीथियों की भाँति कतिपय जगत् एवं कविता के स्वरूप का प्रत्यक्ष करते हैं । एक प्रकार सामान्य रूप से ही वस्तु का निरूपण करने के कारण सभी कुछ प्राचीन कवियों ने यह किया है । उनका पुनः प्रतिपादन मणिसि वैशिष्ट्य मात्र है ।

एक पर विद्वान्मनसि यह समझा है कि यदि पूर्ववर्ती यह मानता है कि वाक्य में सामान्य रूप से ही सभी वस्तुओं का प्रतिपादन होने के कारण उसमें कोई भेद नहीं है । तब तो महाकवियों द्वारा कहे गए वाक्यों के अतिरिक्त अन्य वाक्यों में कोई विपरीतता ही नहीं होती । और वाक्योक्ति की सीढ़ी पर अन्य

१- अथ० पृ० १४१ २- वही पृ० १४१

२- वही की वाक्यिक स्वाच्छास्त्र्य नाम से पुकारते हैं । स्वाच्छास्त्र्य प्रतिस्वरूप ।
जब कहे पृष्ठ पर देखिए ।

किसी को कवि जाना है वहचित्त की नहीं किया या समेत । यदि कवि द्वारा सामान्यतः है सभी वस्तुओं को प्रशंसा किया या पुनः है ।

किन्तु स्वीछि उचितवैचित्र्य है सामान्य वस्तु का प्रतिपादन करना और सीधे नहीं है । उचित वाच्य विवेक के प्रतिपादन करने वाले कवि को कहते हैं । वाच्य के वैचित्र्य है ही वाच्य में वैचित्र्य जाता है । क्योंकि वाच्य का वाच्य के साथ या वाच्य का कवय्य जब के साथ कवि रहता है । स्वीछि उचितवैचित्र्यवादी को वाच्य में ही वैचित्र्य किन्तु छोड़ स्वीकार करना ही पड़ता है ।

(५) उचितवैचित्र्य है नवीनता-

एक ही कवय्य यदि विन्न-विन्न प्रकार है क्या बार तो वह कई गुना ही जाता है । जैसे उष्ण के माध्यम है कभी नहीं बात कव कव के माध्यम है कभी जाती है तो उन्में ही वैचित्र्य का जाता है । वही बात यदि रचित या उपमावैचित्र्य के द्वारा कभी बार तो उन्में ही वास्तव्य का जाता है । यह कवय्यकार मणिति वैचित्र्य का ही है । यदि स्व पर ध्यान रख कर वाच्य-रचना की बार तो कविप्रतिभा का एक बीच केन्द्रों आकाशों वाले एक विशाल गुहा का रूप है समता है ।

(६) वाच्य वैचित्र्य है नवीनता-

मणिति वैचित्र्य केवल उचित पर ही निर्भर नहीं रहता । उसका एक आधार वाच्य ही है । ही बात संस्कृत में कभी नहीं है वही वाच्यान्तर में कभी जाती है तो उन्में कुछ और ही-वैचित्र्य वैचित्र्य का जाता है । उपाहरणार्थ-

ममस्य हृदि ममन्तास्य ममदि काठो ममस्य ।

तां न केव ममद्वय मीवरी मीदि ममदी ॥

उन्में प्रथम 'मम मम' - उष्ण की एक संस्कृत वाच्य हीनी मम मम क्यदि मेरा मेरा और दूसरी हीनी 'ममम' क्यदि मीवृष्ण ।

विशेष पृष्ठ का शेष - स्वयंवाच्यार्णं उपाजं वैच्यं स्वयंवाच्यनि ममद्वयममममि,

तेषां वाच्यः स्वात्मवाच्यम्, तज्ज स्वाति स्वाति उपाजान्तेव ।

वाच्यवाच्यमीमुदि - पृ० २४८

१- पृ० पृ० ५४१-५४२ । २-वही पृ० ५४२-५४३ ३- वही पृ० ५४३ ।

एक नाया का एक वर्ष यह होना कि 'मेरा मेरा करते करके व्यक्ति वर्ण एक बहुत बाधा है जब की उसे हीन नहीं मिलती और वह एक बार की नवान् का भ्रम नहीं करता'। दूसरा वर्ष यह की निकट रहा है कि 'दिन-रात 'मनुष्य' कवि जीवन्त नहीं रहते हैं जब की नवान् मानव नहीं की नहीं की'। मनुष्य-वर्ग विरोधानाह है, क्योंकि जो व्यक्ति मनुष्य करता रहता उसके मन में जीवन्त मानव जाति है। किन्तु वह विरोध संस्कृत है नहीं प्रीति होता। वह मनुष्य एक विन्दुवैदी व्यक्त है ही प्रीति होता है।

एक प्रकार व्यवस्था, नैतिक, कानून, स्वातन्त्र्य, अधिकार-व्यक्ति आदि है जो नवीनता जाती है उसका मुख्य हेतु उनका स्वातन्त्र्य है क्योंकि किसी भी काव्यार्थ में जब एक बाधक नहीं जाता, जब एक वह स्वातन्त्र्य नहीं होता। कबीर-महाकाव्य आदि में कहाँ एक एक काव्यार्थों की बहुत बहुत नवीनता में विचार हुआ जाते हैं, कहाँ कवि रहस्य रहता है, उही है उनमें बाधा जाती है। रहस्यमय है यह की जान है कि मध्य-विषय में व्यवस्था नवीन नहीं जाता। व्यवस्थादि नैतिक है एक ही वस्तु है यह एक एक व्यक्ति होने पर भी, एक की व्यक्ति के कारण उनमें परस्पर व्यवस्था की प्रीति होती रहती है।

एक प्रकार विनाश की काव्यार्थों के विषय में किम्वदन्ति किवा बार, फिर भी उनका वस्तु नहीं मिलता। क्योंकि काव्यार्थों का वहीन कोट है। एक कवि ही नहीं, बहुत वाचस्पति की कवि पूरी क्षितिज बनाकर उनका काव्यार्थों की विविधता देना चाहें और उनके सम्पूर्ण कोट की व्याख्या कर देना चाहें तो नहीं कर सकते, ठीक उही प्रकार की बहुत-बहुत व्याख्या-विषय मिलकर भी प्रीति के विराट कोट के अन्त वस्तुपूर्ण की वाचस्पति नहीं कर सकते। वेदी-विषय-हीने

१- यह व्याख्या वाचस्पति विविधता है की है। [सर्व प्र० पु० ५४]

२- व्यवस्थादिविविधता काव्यार्थों विविधताम् ।

मुनीय मुनयै कवि बहु वाचि स्वातन्त्र्यम् ॥ अ० ४।५

३- वाचस्पति वस्तुपूर्ण वस्तुविषय कानूनः ।

विनाश का कार्य नैतिक प्रीतिवैतापि ॥ अ० ४।१०

संवाद

कवियों पर बहुत बड़ा प्रहार किया जाता है कि उनके काव्य में कोई क्लृप्ता या कवीकता नहीं है। किन्तु कवि की ऐसी बातों से विराह नहीं होना चाहिए। क्योंकि वही कवि श्रम का साधक है जो काव्य रचना करता है, उसके काव्य में क्लृप्ता कवीकता रहती है। यह क्लृप्ता या कवीकता बहुत में नहीं, अधिव्यक्ति और उक्ति में ही रहती है। इसका कारण यह है कि कवि जो वस्तुओं की अपने काव्य-हित का उपादान बनाता है वे प्रायः ठीक ही होती हैं। कभी-कभी वस्तुओं की कवीकता में श्रम के साधक है कवि कवीकता होने का प्रयत्न करता है या उन्हें कोई फलप्रार प्रकट करता है। काः का निश्चय है कि वही कवि ठीक-ठीक और वस्तुनिष्ठ का चित्रा होना उसकी कविता का सुखाद्ध्य कवियों की रचनाओं से भिन्ना-मुखा रहना। यही है कविप्रतिपादनाद।

संवाद निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं :-

१- प्रतिविम्बक

२- वाक्यवाक्यक

३- तुल्यवैदिक

(१) प्रतिविम्बक -

प्रतिविम्बक संवाद कल्पनात्मक रूप होता है, जहाँ कोई क्लृप्ता या कवीकता नहीं रहती। काः साहित्यका और विमलवस्तु की प्रतिविम्बा के अन्तर्गत कारण प्रतिभा-व्यक्त कवि की बाहिर कि वह एक प्रकार के संवाद का स्वाभाविक परिणाम करता रहे।

१- २ संवादालु मन्त्रवैद्य बाहुल्येन प्रीयताम् ।

नैकप्रकारा लो से मन्त्रवैद्य विपरिणता ।।

संवादी स्वभावपूरकम्,

कम् पुनः प्रतिविम्बक, वाक्यवाक्यक तुल्यवैदिक्य वरीरिणाम्
अ० ४१९१-९२

३- अ० ४१९३

(१) वाक्यवाक्यम् -

वाक्यवाक्यम् अर्थात् विष्णुस्य संवादं पुष्पात्मकम्^१ होता है। क्योंकि इन्हें नीलकण्ठ की भाषा बहुत ही सीधी रखी है। अतः यह संवाद भी तथ्यात्म्य है।

(२) पुष्पवैदिकम् -

पुष्पवैदिकम् संवादं पुष्पात्मकम्^२ होता है। यह संवाद अर्थात् कविरचित है। इन्हें काव्य की भाषा प्रसिद्ध अर्थात् सुज्ञान रखी है, ठीक जगत्त वाक्पुत्री अर्थात् वाक्पुत्री रचा करती है। इसीलिए कहा गया है - विभिन्न प्रकार के कवीय उद्गीर्ण के अनुसार पुष्पों पर, संवाद पुष्पों पर भी कवियों के द्वारा काव्यवस्तु तथ्यात्म्य नहीं है। क्योंकि उद्गीर्ण कवी उद्गीर्ण के अनुसार ही रहती है। यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु प्रकार कवि की काव्य वाक्पुत्री का कवी पुष्पवैदिक कवि के साथ काव्य पुष्पों पर भी, यह काव्यार्थ कवी के अतिशयोक्त्युक्त की भाँति अधिक होता है।^३ उन्हीं कवी उद्गीर्ण कवीय केवल उद्गीर्ण है। काव्य में उद्गीर्णस्थानीय है प्रतीकान-कवि। यदि उन्हीं कवि ही ती उद्गीर्ण वाक्पुत्री का संवाद दीक्षावद नहीं माना जा सकता।

किन्तु कवियों में काव्यवस्तु फिर जाती है वे सभी काव्यों में वाक्पुत्री होते हैं, उद्गीर्ण प्रकार किन्तु कवियों का काव्य में उद्गीर्ण किया जाता है वे भी वाक्पुत्री ही होते हैं। कवियों और कवियों की वाक्पुत्री में ती वाक्पुत्री की कवीयता नहीं हो सकती। वे कवीय वाक्पुत्री में, कवीय वाक्पुत्री विश्व में रहती रहती हैं।^४ कवियों और उद्गीर्ण में कवीय केवल कवि किन्तु पुष्पों की कवीय पुष्पों के वाक्पुत्री नहीं कहा जा सकता ती कवियों के वाक्पुत्री होने मात्र है किन्तु काव्यों की वाक्पुत्री केवल माना जा

१- अथ० ४।१२

२- अथ० ४।१३

३- पुष्पवैदिकं तु विभिन्नकवीयउद्गीर्णकवीयैः सति

उद्गीर्णकवीय काव्यवस्तु न तथ्यात्म्यं कविता । अथ० पु० ४४०

४- वाक्पुत्रीऽन्वयः कवीयैः पुष्पवैदिकपुष्पात्मकम् ।

यस्तु नातिशयं कवीयः अतिशयोक्त्युक्तम् ॥ अथ० ४।१४

५- कविरचितवैदिकं वाक्पुत्री कवि वस्तुवस्तु पुरातनी ।

पुष्पवैदिकं वाक्पुत्री कवीयवस्तु अतिशयोक्त्युक्तं वा न पुष्पवैदिकम् ॥ अथ० ४।१५

सम्बन्ध है। यह विचार तो अनुभव पर निर्भर है कि किसी काव्य में कवीकता है वा नहीं। यदि अनुभव है वह ज्ञात हो पाए कि किसी काव्य में कवी की रम्यता है तो कवि को अपना मन उकड़ उलझना बाधित। रम्यता के रस्ते पर प्राचीन काव्यों की छाया कविर्मा की परीक्षा नहीं कर सकती। रम्यता का वाधान करने वाला कवि प्राचीन विषयवस्तु पर भी काव्य-निर्माण करके यशोभासी हो जाता है, उससे किसी प्रकार की निन्दा का भय नहीं होता।

एक प्रकार कृतवि को बाधित कि वह किसी अन्य कवि की काव्यसम्पत्ति ध्यान न करे। वह प्रतीयमान कवि की अनुसन्धी पारा तथा अन्य विशेषताओं से बाध विविध सम्पन्नता के साथ अपनी सरस्वती को प्रस्तुत करता रहे। जो कवि एक मुक्ति पर बाधित रहता है और एक कृतवि के काव्यसूत्र करता है उसका ध्यान स्वयं मनकी सरस्वती को रहता है और वह मनकी उस कृतवि के लिए काव्योपिध सामग्री स्वयं परिपूर्ति करती रहती है। यही है सारस्वत प्रसाद और कवी को प्राप्त करते कृतवि 'महाकवि' के रूप को प्राप्त कर लेता है।

एक प्रकार वाचार्थ धान्यकर्म ने पार उपाधों में ध्वनि-स्वभाव को जो विधानों के मध्य विभूतिपति का विषय बना हुआ था, उसे सुशोभित कर दिया।

-----:०:-----

-
- १- कदापि तदापि रम्यं वस्तु लोकाय किंपि
 स्फुटित्वमिदमिदं बुद्धिरभ्युपगच्छते ।
 अनुसन्धायि पुनश्चास्मा वस्तु तावत्
 कुतश्चिन्मनस्य निन्दा नोपपत्तिः ॥ अ० ४।१६
- २- प्रज्ञायन्तां वाचां विमिश्रितविमिश्रितरसा
 न तावः कर्मणः कविमिदमपि स्वविमये ।
 परस्वाऽऽदानेष्टा-विह्वलतां वस्तु पुनः
 सरस्वतीवेधा मयसि यौग्यं नास्ती ॥ अ० ४।१७

सुदीपन सम्पादक

वाणीक - विवेक

बापार्थ अभिनवगुप्त कास्मीर डैम दहीन के बी मुनीय बापार्थ हैं । उनके दाहीनिक विचारों की ह्राप उनके बाहित्य हास्मीय मुनीयों में स्पष्टतः विहारी पड़ती है । अतः अभिनवगुप्त के काव्य सिद्धान्त की पूर्ण रूप से समझने के लिए और काव्य छन्द के प्रुति उनकी दाहीनिक दृष्टि के विवेक हेतु कास्मीर डैम दहीन के सिद्धान्त का विवेचनायुक्त बापरक होना ।

क : कादपीरी डैव यडी

कारणीर देव-पत्नी को प्रत्यभिज्ञापत्नी, प्रियपत्नी, मातृदेव की बापि संसारं प्राप्ता हैं । देव पत्नी श्रीकृष्ण की प्रीति पर स्थित है । वाग्यज्ञात्म्य में श्रीकृष्ण का कार्य है - जो का नित्य धामरस्य । देव पत्नी में- शिव और शक्ति का नित्य धामरस्य रहता है तथा इसे स्वात्म रूप परमशिवरूप कहा जाता है । इसी परमशिवरूप की प्राप्ति देव पत्नी का धर्म उक्त माना गया है ।

पुत्र-मित्रापत्नी में स्त्रीसुख (३६) उत्पन्न माने गए हैं। परमेश्वर की सेवाका उत्पत्ति के पक्ष में कुछ सामान्यतः, स्त्रीसुख एवं विष्णु का उद्धार है। परन्तु जब वे सुख की कामना करते हैं तो उनकी शिवालय का उद्धार है और उनकी पुनः अन्य उत्पत्तियों का विकास होता है। अतः शिवालय की सुख का कुछ उत्पत्ति है। पुत्र-मित्रापत्नी के स्त्रीसुख उत्पत्ति का प्रकार है -

(१) शिव (२) ब्रह्मा (३) महाशिव (४) वीरेश्वर (५) महाशक्ति (६) माया
(७) पञ्चा (८) विष्णु (९) राम (१०) कृष्ण (११) भगवान् (१२) गुरुदेव (१३) गुरुदेव
(१४) गुरुदेव (१५) कर्माचार (१६) मन (१७-२९) भाव ज्ञानेश्वर, कवित् नाथिन, विष्णु,
पद्म, रत्न वीर कवित्, (२१-२५) भाव ज्ञानेश्वर, कवित् बापू, बाणि, पाद, पद्म,
बापू, कवित्, (२६-३१) भाव ज्ञानेश्वर वृद्ध, कवित्, रत्न, पद्म वीर (३२-३५)
भाव ज्ञानेश्वर वृद्ध कवित् बापू, बाणि, वीर पद्मी ।

ज्ञान तत्त्व :-

प्रत्येक जीव में रहने वाला ज्ञानतत्त्व ही आत्मतत्त्व है। यह वैश्वरूप्य है। इसी को 'परा ब्रह्म' 'परमेश्वर' 'ज्ञान' या 'परमज्ञान' भी कहते हैं। यह तत्त्व सब जीव के लिए सभी में वर्तमान है। यह अमृत वस्तुओं में रहने पर भी एक है और एक रूप में सभी वस्तुओं में है। यह वेद और काठ से वर्तित है। फिर भी, सभी वेद और काठ में यह एक रूप में वर्तमान है। यह विदित है।

व्यक्ति तत्त्व :-

इसे विमर्श भी कहते हैं। 'विमर्श व्यक्ति' आत्मा का स्वरूप है। दृष्टि अवस्था में विवाहकार होने से, स्थिति में विश्व को प्रकाश द्वारा तथा संसार में आत्मसात् करने से 'ज्ञान' में पूर्ण को बहुविध वर्णनाय है इसी को 'विमर्शव्यक्ति' कहते हैं। यदि ज्ञान में विमर्शव्यक्ति न हो तो यह जीवेश्वर क्या कहेंगे वास्तव में। परमात्मा की विमर्श व्यक्ति का कर्तृत्व स्वरूपा वादि हर्षों द्वारा आत्म में वर्णन किया जाता है। इस व्यक्ति के अमृत स्वरूप हैं किन्तु हममें से पाँच प्रमुख रूप प्रकाश हैं - चित्, आनन्द, कम्हा, ज्ञान और क्रिया। अविश्वरूप का मत है कि परमेश्वर में चित् व्यक्ति की प्रमानता होने से यह ज्ञानतत्त्व कहलाता है, आनन्दव्यक्ति की प्रमानता होने पर स्वादित्वतत्त्व कहलाता है, ज्ञानव्यक्ति की प्रमानता होने पर ईश्वरतत्त्व कहलाता है, और क्रियाव्यक्ति की प्रमानता होने पर सभी परमेश्वर विवाहतत्त्व के नाम से वर्णित किया जाता है।

व्यक्ति के इन पाँचों स्वरूपों से अमृत ज्ञान करने वाले व्यक्ति विश्व की वर्णितव्यक्ति कहते हैं। वस्तुतः यह वस्तु ज्ञान की व्यक्ति का ही विस्तृत रूप है, जिसे ज्ञान के अर्थ में (स्वच्छिन्नी) स्वेच्छा से वर्णितव्यक्ति किया है। परन्तु वर्णित

१- परा प्रवेक्षण

२- चित् प्राधान्ये ज्ञानतत्त्व, आनन्द प्राधान्ये व्यक्तितत्त्व, कम्हा प्राधान्ये स्वादित्वतत्त्व, ज्ञानव्यक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्त्व, क्रियाव्यक्ति प्राधान्ये विवाहतत्त्व
व्यक्ति । (संसार)

यस्यैवपूर्णं तस्य यत् किं विना ह्यति के ह्यि एव प्रकार के कथन हैं । उही ह्यति के उद्यारे ह्यि कर्त्तृ में कर्त्तृ का योग प्राप्त करते हैं । अतएव उद्यारेवाच्य ने भी कहा है कि -

ह्यिः कर्त्तृवा युक्तो यदि क्वचि क्तः प्रपिबुम् ।
न केवैव देवो न सत्तु क्तः प्रपिबुम् ॥

परन्तु यह भी सत्य है कि विना ह्यि के ह्यति भी नहीं रह सकती । इन दोनों में कोई है, वाच्यत्व है, वाच्यत्व है । उही ह्यि पूर्ण रूप में परमह्यि सत्य है ।

परमह्यित्व स्वतन्त्र विषय्य वाच्यत्व तथा कर्त्तृत्व हैं । उही है उही कर्त्तृ वाच्यत्व होती है फिर उही में हीन हो जाते हैं। दृष्टि तो उनका उन्मीलन मात्र है । अतएव कहा गया है -

कृतः स्विन्नकृतो यत्तु यद्विरात्मना ।
उन्मीलनम् क्वचिन्मन्त्रेण प्रपटीकरणम् ॥

उद्यारेवाच्यत्व -

तीवरा सत्य उद्यारेवाच्यत्व कथ्यता है । उद्यारे विना ह्यिप्रपिबुम् के ही कृता है । यत्तु ह्यि में 'ह्यि' होता है, यत्तु दृष्टि होती है और यत्तु यत्तु वाच्य मुं होती है यत्तु कर्त्तृ का ह्यि हो जाता है । यत्तु 'ह्यि' और 'विषय' कर्त्तृ और कर्त्तृ हैं । उही उन्मीलन के कारण 'उद्यारेवाच्यत्व' की वसिष्ठावति होती है । यत्तु उद्यारेवाच्यत्व का प्रथम और दूसरा विषय है । उही उद्यारेवाच्यत्व की कर्त्तृ हैं । यत्तु उद्यारेवाच्यत्व में 'उद्यारेवाच्यत्व' की प्रमाणता रहती है, क्योंकि 'ह्यि' कर्त्तृ वस्तुत्व रहता है । उद्यारेवाच्यत्व में उद्यारेवाच्यत्व की प्रतीति होती है कर्त्तृ कर्त्तृ का वाच्यत्व रूप में यत्तु मान होता है ।

१- वाच्यत्व उद्यारे

२- उद्यारेवाच्यत्व - पृ० ३२

३- उद्यारेवाच्यत्व - पृ० ६

४- उद्यारेवाच्यत्व विमर्शित (वाच्य-२)

पृष्ठ १६४-१६५ ।

हीनसत्त्व -

हीन सत्त्व हीनर माना गया है । यह की दुर्गति अवस्थिति यहाँ स्पष्ट होती है । 'अन्' की नीच होता है और 'अन्' की प्रशंसा होती है । 'अन् अन्' का प्रसार की प्रीति विपरीत में उत्पन्न होती है । यहाँ 'अवस्थिति' की प्रशंसा होती है ।

उत्थिता -

उत्थिता सत्त्व की चर्चा सत्त्व माना गया है । यह पुनः 'अन्' और 'अन्' का दोनों में देख की प्रीति होती है । 'अवस्थिति' यहाँ में यह है यह माना माना होती है । यहाँ 'विश्व-उत्थिता' प्रमाण होती है ।

उत्थिता चर्चा को सम्बन्धित में प्रमाण: सम्बन्ध, सम्बन्ध, सम्बन्ध सत्त्व माना गया है । और वे विपरीत सत्त्व माना गए हैं । यहाँ 'उत्थिता' यहाँ 'उत्थिता' की भी चर्चा की गई है । और यहाँ 'अवस्थिति' के (२) उत्थिता चर्चा की 'उत्थिता' यहाँ 'उत्थिता' माना गया है । यहाँ कारण यह है कि उत्थिता चर्चा का हीन सम्बन्ध है कि और के माना है और पुनः एक उत्थिता (२) चर्चा का सम्बन्ध माना है माना गया है, जो अपने विपरीत चर्चा द्वारा के चर्चा को माना फिर होती है ।

माया -

यह उत्थिता के दृष्टि का चर्चा है । यहाँ के एक हीन उत्थिता माना गया है, जो कि है अल्प और के पूर्ण दृष्टि उत्थिता होती है । यहाँ 'माया' का प्रसार की गई है :-

स्वात्मविपरीतमायि वाच्यम्भुत द्वितीया यथा नितीति विद्या व्यवस्थापयति इति च (माया)

यहाँ की के उत्थिता होती है यहाँ माना यहाँ है ।

१- सम्बन्धित(माय-४) पृ० २०

२- सम्बन्धित (माय-४) पृ० २२

३- यहाँ पृ० २२

४- यहाँ पृ० २६-२७

५- यहाँ पृ० २२६

आत्मभाव करने के कारण इसे 'परमार्थ' भी कहा गया है । यह सब साक्ष्य यह है, क्योंकि इसमें यह भेद-बन्ध सब कार्य होती है । जैसे यह भुक्त एवं व्यापक है और विष-हृदि से अभिन्न होकर विश्व का मूल कारण मानी गई है । इसी ही आत्मा की सत्ता का विकास होता है और यही अमल विश्व की उत्पत्ति कहती है । यह माया कः कर्म, कर्म विना रहती है और तीनों पापों का कर्म भी इसी माया से होता है । इसे किरीटिनी हृदि भी कहा गया है, किन्तु पूर्ण प्रकाशित विस्तारित का प्रकाश आच्छादित ही जाता है और जीवात्मा इसे स्वयंसे नहीं कर पाता ।

वर्तमान के इस विद्वान्त की भाँति यहाँ पर माया के कुछ स्वरूप - जो भेद नहीं किए गए हैं । प्रत्यक्षा-वर्ती में इसका केवल एक ही रूप ही स्वीकार किया गया है और उसी उत्पत्ति पाँच सत्त्व - कटा, विषा, राग, काउ और निवृत्ति भी यहाँ कुछ माने गए हैं ।^१

माया के पाँच कर्तुः -

'परमार्थ' कर्तुः, कर्म, पूर्ण, विष, व्यापक, अस्तुति हृदि, उत्पत्ति होता हुआ भी अपनी कृपा से संतुष्ट होकर कटा, विषा, राग, काउ तथा निवृत्ति माया के पाँच कर्तुः के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है ।

माया के कर्तुः पाँच कर्तुः के कारण प्रकृतः परमार्थ के उत्पत्ति पूर्णों में भी संशय ही जाता है । इसलिए कुछ ही करने का सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अनुपपत्ति का बोध, अविच्छेद का बोध तथा संतुष्टि हृदि का ज्ञान पुराण की कल्पना में होने लगता है ।

प्रत्यक्षावर्ती में माया और उसके पाँच सत्त्वों को चतुर् कर्तुः संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि इनके द्वारा बाध होकर आत्मा परिमित हो जाती है । वह परिमित आत्मा ही अणु संज्ञा दी गई है और उसके चतुर् कर्तुः को आत्मवन्ध कहा गया है ।

१- अन्तर्भाव (मान-६) पृ० ११६-११७ २- यही पृ० १२८

३- अन्तर्भाव अन्तः (मान-२) पृ० ४७४-४७५ ४- हरिवंशप्रवर्तिता विमर्शिनी मान-२

५- अन्तर्भाव (मान-६) पृ० १२४ ६- यही पृ० १६४-१६६

पुलकितत्व-

इन्हीं संकुचों की वापरणत्व में स्वीकार कर पुलकित संज्ञा ही वाता है । इन्हीं संकुचों के वाक्य केन्द्र 'पुलकितत्व' है ।

प्रवृत्तित्व -

मत्त्व तत्त्व है ठेकर प्रवृत्तित्व यन्त्रित सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रवृत्तित्व है । यह तत्त्व, रक्त और तत्त्व की सम्मिश्रित सम्भावना है । यह अवस्था में गुणों के प्रमाणनीयभाव नहीं होता । वे गुण प्रवृत्तित्व में परस्पर विपरीत नहीं हैं ।

पुष्टि है प्रवृत्ति तत्त्व -

इसके अतिरिक्त मत्त्व का पुष्टित्व है ठेकर प्रवृत्ति तत्त्व कि २३ तत्त्वों का यन्त्रित प्रवृत्तित्व यन्त्रित में मिलता है, यह प्रवृत्ति का तत्त्व यन्त्रित की उपाय है अर्थात् तत्त्व की वांछित यत्ता पर ही प्रवृत्ति है पुष्टित्व, पुष्टि है अर्थात्, अर्थात् है मत्त्व, वांछित ज्ञानेन्द्रियां, वांछित ज्ञानेन्द्रियां तथा वांछित सम्भावनाएं और वांछित सम्भावनाओं के संस्कारों अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और प्रवृत्ति की उत्पत्ति मानी गई है ।

२६ तत्त्वों का यह अति संक्षिप्त विवरण है । यत्ता प्रवृत्ति है प्रवृत्ति तत्त्वों के प्रवृत्ति अतिरिक्त का विवरण दिया गया है ।

प्रवृत्तिप्रवृत्ति -

यह एक वाक्य का ही प्रतिपादन करना आवश्यक है कि कौन सा एक प्रवृत्ति प्रवृत्ति तत्त्व की और वाता है ।

प्रवृत्तित्व है ठेकर प्रवृत्ति तत्त्व यन्त्रित ही तत्त्व के उपाय ही तत्त्वों का विचार है । यही 'प्रवृत्ति' विवरण होकर 'वाक्यतत्त्व' में हीन ही वाता है। 'वाक्य' के वांछित प्रवृत्ति के सभी गुणों की संक्षिप्त कर दी है । इन्हीं प्रवृत्ति पुलकितत्व में वाक्य प्रवृत्ति की अति संक्षिप्त ही वाता है ।

जब तत्त्वों के परे जब मुख्यतः तत्त्व में वाक्य प्रयुक्त करता है तब पुराण अपने को मुख्य प्रमाण समझने लगता है। इस अवस्था में 'मैं यह हूँ' इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न होती है। इसमें 'मैं' केन्द्र है और 'यह' प्रतीति है। यहाँ 'मैं' और 'यह' दोनों परस्पर मेलन के होते हैं। जहाँ भी केन्द्र मान सम्बन्ध है। इसके अनुसार यह पुराण मुख्य प्रमाण के साथ वाच्यत्व मान करने लगता है और यह मैं हूँ ऐसी स्थिति इसके निरवधारित में नाशित होने लगती है। इस परिस्थिति में 'यह' अर्थ को प्रमाणता मिलती है। इस अवस्था को 'व्यतिरेक' कहते हैं।

धीरे-धीरे यह अर्थ 'मैं' में डीग हो जाता है और 'मैं हूँ' अपनी ही प्रतीति रह जाती है। किन्तु फिर भी केन्द्रत्व सम्बन्ध है। 'मैं' और 'हूँ' ये दोनों स्वयं 'किन्हीं' में नाशित होते हैं। इस अवस्था को 'व्यतिरेक' कहते हैं।

जब यह 'हूँ' को भी दूर करवा डालता है। तत्पश्चात् इसके भी मुख्य प्रमाण में जब वाक्य प्रयुक्त करता है तब मुख्य 'यह' की प्रतीति दिखाई पड़ती है। इसे 'व्यतिरेक' कहते हैं। यही 'परमेश्वर' की 'अन्वीक्ष्यता' है। यही अवस्था में वाक्य 'परमेश्वर' के स्वयं को समझ लगता है। यही वाक्य के वाच्यत्व का प्रथम बार मान होता है। यही अर्थ और व्यतिरेक की पुनर्प्राप्ति है। यह अवस्था भी एक प्रकार के केन्द्र की ही है। किन्तु, वस्तुतः यही कहते हैं कि केन्द्र है या अकेन्द्र। यह केन्द्र भी है और 'अकेन्द्र' भी। यह अवस्था अन्त में 'परमेश्वर' में डीग हो जाती है। यही 'परमेश्वर' है।

विष्णु वाच्यत्व की अवस्था -

यहाँ पहुँच कर विष्णु अपने व्यतिरेक को परमेश्वर में डीग कर देता है। यही तत्त्व 'परमेश्वर' में डीग होकर विष्णु हो जाते हैं। यही मुख्य-धीकन तथा यही का परम अर्थ है।

विष्णु यह कि प्रत्यक्षता यही में विधि को सर्वोपरि माना गया है। इस और अर्थ के वाच्यत्व के रूप में विधि का ही वर्णन मिलता है। इस दोनों को पूर्व एवं उत्तरी किर्णों, अर्थात् एवं उत्तरी अर्धिका तथा वाच्य और उत्तरी उत्तरों के मुख्य अर्थ अर्थात् रूप माना गया है। ये ही ही अर्थात् एवं

यह है कि संसद विरुद्ध सर्वोच्च न्यायाधीश के आदेश हैं ।
अभिनेताओं का यह है कि जिस तरह किंग्सले सर्वोच्च न्यायाधीश के आदेशों के विरुद्ध
विरोध करते हैं, वैसे ही पूर्ण रूप से यह विधि में यह सम्पूर्ण विरुद्ध अभिनेता
यह है अनाधिकार होता है । इसी विरुद्ध 'सर्वोच्च न्यायाधीश' में ही
लिखा है कि यह विधि ही सर्वोच्च न्यायाधीश के आदेशों के विरुद्ध अनाधिकार
लिखा करता है । इसी कारण यह 'अनाधिकार' कहा जाता है ।

अनारक्षण-

अनारक्षण कर्तव्य में अनारक्षण के विधानों का एक विशिष्ट स्थान
है । सम्पूर्ण कर्म में लिखा है कि एक नदी खुलने से निकलकर अनारक्षण को प्राप्त
होती है और खुलने तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी रुकावट या बाधा
नहीं रखी, उसी प्रकार वह आत्मा परमात्मा-माया को प्राप्त होकर पुनः
एक शिरस्य हो जाता है , उसे 'आनन्द' कहते हैं ।

अभिनेताओं का यह है कि (आनन्दस्थिति विधानों यानी अनारक्षण -
नदी) आनन्दस्थिति में विधानों वाले पर ही यानी को अनारक्षण की स्थिति
प्राप्त होती है तथा (बिना अनारक्षण की अनारक्षण स्थिति) अर्थात्
अनारक्षण की स्थिति को प्राप्त होते ही फिर में किंग्सले के विरुद्ध सम्पूर्णमाय माया
हो जाता है अर्थात् पूर्ण अर्थ को प्राप्त हो जाता है । साथ ही अभिनेताओं
के यह है अनारक्षण ही अनुपरावस्था है, क्योंकि यह स्थिति में सर्वोच्च न्यायाधीश के
विरुद्ध कुछ देन नहीं रखता और वह सम्पूर्ण आनन्दमय शिरस्य हो जाता है ।

आनन्दवाद -

ये सभी के वह आनन्दवाद का कुछ रूप उपनिषदों में लिखा है कि

-
- १-निम्नलिखित नदी नाम्नि भूमिस्थानः । अभिनेताओं के विरुद्धः
कुछ नाम्नि नदीस्थानम्परवारिणः । अर्थात् निम्नलिखित रूपे रूपेवाक्यान्ते ।।
 - २- यैवनी हि स्वात्मनो नाम्नि भूमिस्थानम्परवारिणः । अर्थात् निम्नलिखित रूपे रूपेवाक्यान्ते ।।
 - ३- सम्पूर्णमाय (माया) भूमिस्थानम्परवारिणः । अर्थात् निम्नलिखित रूपे रूपेवाक्यान्ते ।।
 - ४- सम्पूर्णमाय (माया) भूमिस्थानम्परवारिणः । अर्थात् निम्नलिखित रूपे रूपेवाक्यान्ते ।।

क्योंकि तैयारीयोजनायुक्त में लिखा है कि वाग्व्यवस्था की कृति है। वाग्व्यवस्था के ही अन्तर्गत प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर वाग्व्यवस्था के ही होते हैं तथा सब लोक के प्रस्थान करते हुए अन्त में वाग्व्यवस्था में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

सम्प्राप्तिक में अनुवर्तकता के अन्तर्गत वाग्व्यवस्था की प्राप्ति होना लिखा है^१। और कहा गया है कि दिन की किसी क्षण की वाग्व्यवस्था एवं उस स्फुरण कही है। इस वाग्व्यवस्था स्फुरण करने वाली क्षण की वाग्व्यवस्था-क्षण कहा गया है, जो दिन की प्रमाण प्राप्ति क्षणों में से एक है और किसी द्वारा कृप्य में वाग्व्यवस्था की सम्पत्ति या उत्पत्ति दूर हो जाती है। और उसके द्वारा व्यक्ति के कृप्य में वाग्व्यवस्था होने जाता है।

प्रवर्तकता में दिन को विमानव्यवस्था कहा गया है और विमानव्यवस्था एवं विमान की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। अतः वे दोनों के इस वाग्व्यवस्था विचारधारा को अपने साहित्यिक कृष्यों में भी प्रवर्तित किया गया है।

संक्षेप में अमिनकृष्य के अनुसार 'रस' एवं अन्वय और साहित्यिक उत्पत्ति की महान सम्पत्तियों से सम्बन्धित है। रस का परिचायक साहित्यवाग्व्यवस्था-प्रवर्तक के लिए वाग्व्यवस्था मोक्ष के रूप में है। रस और वाग्व्यवस्था की स्थितियाँ समीप हैं। इन दोनों में रस को अनुवर्तक और वाग्व्यवस्था की उत्पत्ति प्रवर्तक के रूप में अनुवर्तक माना जाता है। दोनों के मध्य यह सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट और स्थिर है। यदि उन्हें समझनी और प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार किया जाय तो अविच्छिन्नता न होगी।

४ : वाग्व्यवस्था और वाग्व्यवस्था अमिनकृष्य की द्वैत प्रतीति दृष्टि -

द्वैत प्रतीति के वैज्ञानिक यत्न के विवेक के अन्तर्गत यह विचारणीय है कि वाग्व्यवस्था का यह जीवन का रूप है, जिसके प्रति अमिनकृष्य की दृष्टि द्वैत प्रतीति है और दिन कर्णों के इस रूप को एक मात्र द्वैत प्रतीति है ही सम्बन्धित मानने के लिए वाग्व्यवस्था होना पड़ता है।

होता है किन्हीं ज्ञाता वीतविषय होकर जैसे में निमित्त बना ही जाता है । यह स्थिति साधारणीकरण की होती है । साधारणीकरण रसानुसंग की एक विशेष स्थिति है । इस समय साधारणीकृत ज्ञाता साधारणीकृत जैसे है साथ साधारण्य प्राप्त करता है । इस तन्मयता में होने वाला रसवीर, वैशान्धर-सम्पत्कृत्य एकत्र आनन्दजन रूप होता है । यह आनन्द चतुर्भिः पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पारमार्थिक मुख्य कण्ड है ।

अपर्युक्त रस-प्रक्रिया का विरहेक्षण करने पर निम्नलिखित तत्त्व सामने आते हैं -

जैसे ज्ञान के छठीस तत्त्वों में से चतुर्थे अविज्ञातत्व से ही अविज्ञातत्व का रस-विज्ञान सम्बन्धित है । अविज्ञातत्व का वैशिष्ट्य विज्ञातत्व है । किन्हीं के आनन्द, परमार्थ, कलाकार, रसता, स्वात्मविमान्ति आदि जैसे कथ्य हैं । यह सभी ज्ञान के प्रमुख अंग हैं । रसानुसंग के समय आत्मा अपने ही आनन्द अपना किन्हीं के रूप में अभिव्यक्त बना स्फुरति करती है ।

आनन्दस्वरूप रस की अभिव्यक्ति ज्ञान ज्ञान में प्रक्रियाविज्ञान आनाज्याय के अनुसार होती है अर्थात् जैसे शुद्ध अविज्ञातत्व का ही अन्वेष है, जो वस्तु पकड़े की उड़ी की मात्र अभिव्यक्ति होती है, कोई बाहर रहने वाली नवीन वस्तु की

निम्नलिखित पुरुष का ज्ञान अंग - तन्मयीजन की स्थिति कि प्रकार होती है, इसे स्पष्ट करते हुए कही हैं -

यथा पुरःस्वै मुहुरे निबं कर्तं विनायकम् । मुहुरे मुहुरेकैवात्मकम् वैतिनिवात्मनः
तथा किञ्चमुहुरे ध्यानपूजाकीर्त्यात्मनि । आत्मानं वैर्यं परमपरिरात् तन्मयीमैव
(सम्भाषण ३ । २०५ पृ० २३० पाप-३)

१- जी० पृ० ४१

२- सत्तन्मयताशास्त्र १५०

३- (१) तत्र वीतविषयवाक्येवासी रसता, परमार्थ, निर्गुणः प्रीतिः प्रसादविमान्ति-
र्य । ई० ४०५ पृ० २ पृ० १७८

(२) तन्मयानुसंगित्वं ज्ञानमन्तारोक्तवैवाच्यत्वात् सत्तन्मयैव रसक-
कला परमार्थः । तन्मयानुसंगी निर्गुणित्वकारकत्वो- यही पृ० १७८

(३) --- आनन्दो निर्गुणात्मा कलाकारपरमार्थः --- । जी० पृ० ३६

४- अनुभावविभावाक्योपमोक्तत्वे तन्मयीजनमुक्तया तद्विभावानुभावोक्तिवित्तुधि-
वाक्यानुसंगित्वमन्तारोक्तवैवाच्यत्वात् रसात्मा स्फुरति । जी० ४०५

उत्पत्ति नहीं होती । उसी प्रकार रसानुपत्ति के कम कोई नवीन वस्तु बाहर से नहीं जाती, वरन् अनुस्यूत साधारण के अन्तःकरण में ही स्थित सात्वत का ही स्वभाव सामान्य है उसी की मात्र अभिव्यक्ति होती है । उत्पत्ति, अनुपत्ति या पुत्ति नहीं ।

जैव यंत्र के कारका विज्ञान के अनुसार अभिव्यक्त ने साधारणीकरण प्रक्रिया को व्यापक किया । किन्तु प्रकार सामान्यतः में विज्ञानिक यंत्र पर योनी को कारका की स्थिति प्राप्त होती है, किन्तु में जैव के प्रति सम्पत्तीभाव वास्तव ही वाता है, योनी पूर्णतः ही प्राप्त ही वाता है, उसी प्रकार रसानुपत्ति के कम अनुस्यूत प्राप्ता की ही स्थिति ही रहती है । अनुस्यूत प्राप्ता विशिष्टता विचारक सम्बन्धों से रहित होकर साधारणीकृत ही वाता है । और साधारणीकृत प्राप्ता, साधारणीकृत क्रम के कम में प्रकट होता है क्योंकि प्राप्ता का क्रम है पूर्ण साधारण्य ही वाता है ।

रसानुस्यूत और प्रज्ञानानुस्यूत में साधुरस स्थापित करने के लिए अभिव्यक्त ने रस को लोकोपरानुपत्ति रूप स्थित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है । एवं सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

प्रज्ञानानुस्यूत का अधिकारी मकरन्द किन्तु वाता प्राप्ता ही ही समता है उसी प्रकार काव्यानुस्यूत के अन्वय के कारण किन्तु कम उंची वर्णन स्थिति ही गया है, यही किन्तु प्रतिपादाही अनुस्यूत काव्यान्वय का अधिकारी है ।

अभिव्यक्त कम अनुस्यूत को किन्तु प्रतिपादाही करते हैं तो उसके साथ हीरक के लिए अधिकारी अन्वय का ही प्रयोग करते हैं । इसका अर्थ यह है कि अनुस्यूत ही काव्य का अधिकारी है, पर व्यक्त नहीं । और वह अधिकारी स्थिति है कि उच्च काव्यार्थ को प्रकट करने की 'मानवी साक्षात्कारात्मिकावधि' होती है । एवं अवधि के द्वारा कम काव्य के विभाषादि का मानव-साक्षात्कार करने में कार्य होता है । और विभाषादि की मानव-वस्तुओं के कम साक्षात् पटित होते हुए

१-अभिव्यक्तनी रसाः प्रतीत्यै च रस्यन्त इति । जी० पृ० ६०

२- उत्पत्ति, अनुपत्ति एवं पुत्ति नामों वाले साधारण प्रकटः मट्टोल्लट, नी अनुस्यूत एवं अनुस्यूत हैं ।

देखा है ।

रसास्वाद्य के समय पितृवृत्ति की रसाभ्यास, पितृवृत्ति का विषय में पूर्ण सम्मिलित सम्मिलीभाव आदि जैसे तत्त्व रसास्वाद्य के लिए अभिव्यक्ति के लिए नहीं परंपरास्वाद्य के कला में भी पालित होती हैं । क्योंकि देवादिमायी भाषाई अभिव्यक्त विविधित रसादि की द्वारादि रस का स्वादीभाव मान्य है ।

रसानुवृत्ति के समय सम्पूर्ण का उद्देश्य होता है रसायनिक का मत है किन्तु अभिव्यक्त की विस्तृत पद्धति में स्वयं, रस और तत्त्व का स्वयं परिवर्तित हो गया है । अभिव्यक्त ने इन तीनों की पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में स्वीकार किया क्योंकि कारणीय केवलय में वे ज्ञान, क्रिया तथा भावा की संश्लेष शक्तियाँ हैं । इस प्रकार अभिव्यक्त की विस्तृत-पुणाडी में स्वयं 'सुखसुख' है, क्योंकि यह सुख और विषय (वा वानन्द) दोनों के गुणों से युक्त है । फिर भी अभिव्यक्त वानन्द और सुख में अन्तर मान्य है । 'वानन्द' परम संश्लेष की वेतना है तो 'सुख' व्यक्ति-विश्व का बोध है । केवलय की पारिभाषिक भाषा में इन 'विषय' तथा 'स्वयंविश्व' - सुख में विमान्य होता है तो वानन्द अज्ञात है । रसानुवृत्ति के समय भी यही स्थिति होती है - विमान्यभाव के बोध के अन्तर तन्मयीभाव है वाचना रूप पितृवृत्ति है अनुरूप स्वयंविमान्य की पविता का नीचे रस रूप वानन्द स्फुरित होता है । जो अज्ञात अन्तः अनुभव के विश्व में विमान्य होता है तथा जैसे स्वयं, अभावित आदि भी कहा जाता है ।

रसास्वाद्य एक अज्ञानानुवृत्ति है । क्योंकि, रस-वाक्यी के विभिन्न अंशों - विषय, अनुभाव, व्यभिचारि आदि के अंशों है रसादि स्वादीभाव है द्वारादि रस की प्रीति-अज्ञान-स्वयं प्रीति के रूप में होती है ।

रस की अज्ञानता की अपने वाक्यवृत्ति प्रतीकित किया गया कि काव्यार्थ और रसानुवृत्ति के बीच कोई बाधा या विघ्न नहीं स्वीकार किया गया । रस के स्वयं की व्याख्या के पूर्ण में अभिव्यक्त युक्त करते हैं - विमान्य प्रीति में विश्व

१- टी० पृ० ५२

२- अभावित-अभावित आदि पदविः अभावितः - प्रत्यभिज्ञानसूत्रम्, पृ० ६१

स्वाधीनाय का अनुभव किया जाता है वही रस है। स्वयं विशेषण का प्रयोग अभिव्युक्त ने रसानुभूति की स्थिति निर्दिष्टता व्यक्तता और कल्पना की व्यंजना के लिए किया है, किसी प्रजाता की पूर्ण सम्पत्ता या वल्लीयता की व्यंजना होती है। इस वही में स्वयंता वंशिक की एक विशेष कल्पना है किन्हीं किन्हीं किसी प्रकार के विषय से बाधित नहीं होता।

रस विषय, सम्पत्तानरहित और स्वरुपा है। उन्में अनुभव प्रजाता वैश्व, काठ, कल्प और परस्व सम्पत्ती सम्पत्तानों से कल्पा मुक्त हो जाता है। प्रजाता का प्रमेय है पूर्ण वाचात्म्य हो जाता है। वही कम वाच्यत्वविशु का स्फुरण होता है। सम्पत्तीनाय की स्थिति वाच्यताकी का, वाच्यस्वाय की स्थिति है। यह वंशिक की 'स्वधिवान्धि' है।

अभिव्युक्त के काव्यतत्त्व 'सम्पत्तीनाय' के स्पष्टीकरण के लिए उद्देश्यप्रयत्ना का एक सम्पत्त वल्ली ववाचरण बताया है। इन एक वट का प्रपत्ता करते हैं। वट क्वारी वनद्वीपिण पर वृत्तिकरित होकर स्वारे मानव-वट पर उपरिष्ठा होता है। मनःवट व्यष्टि केना का ही प्रकृत रूप है, किसी का ही एक स्वन्वित रूप है। इस प्रकार वाच्य वट क्वारी प्रजाव्यक्तिवली वटा का ही एक कां वन जाता है। विषय की यह वाच्यकारा परिणति ही 'सम्पत्तीनाय' है। इस प्रकार अभिव्युक्त मुक्त के सम्पत्तीनाय का अर्थ है - 'प्रमेय की वाच्यत्व में परिणति'। काव्य के अर्थ में काव्य-विषय की अनुभव-मुक्ताकार परिणति ही सम्पत्तीनाय है।

इस सम्पत्तीनाय की स्थिति में वी रसानुभूति होती है वह वल्लीय कल्पकार प्रजाता हैं। वाच्यत्वविशु ने वी काव्यतत्त्व वीन्दव की व्याख्या करते हुए इसे कल्पक रूप माना है। वक्ता कम है कि अनुभव की कि वस्तु के सम्पत्त में नवीन स्फुरण

१- वक्ता व वल्ली का स्फुरणविशु काऽर्थः ? नवीन स्फुरण सम्पत्तनाविष्टः

मुकुटानाकम् एव, विमलवाह - रत्नमाधर का शास्त्रीय सम्पत्त-पृ० २०२

२- The term 'Canthara' means aesthetic experience, the state of intuition of the Rasa. Canthara is aesthetic experience of Testing-2, Gull : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta. P. 72

विःसर्गकालावस्था के लिए 'कलकार' शब्द का प्रयोग नहीं के सही है ही समझाया गया । काल में कल का विनाशदि का संज्ञा होता है, अनुस्य की काला में वास्तव रूप कलकार अनुस्य होता है । इस प्रकार, कलकार के ही पता हुए - एक वास्तव, दूसरा - विस्मय रूप । यह ही कलकारप्रणाली का सही अभिप्राय है ।

अभिप्राय मुख्य ने रसाभुति के प्रसंग में ज्ञापति, ज्ञ, विनाशित वादि कर्त का प्रयोग किया है । वस्तुतः वे विहीनकारं प्रकारान्तर है काव्यात्म्य की ही व्याख्या है । विनाशित का कर्म है - संविद् विनाशित । उही की अभिप्राय प्रायः स्व-संविद्-विनाशित की कर्मों हैं, और इस संविद् विनाशित का दूसरा नाम 'वागम्य' है । उही की 'ज' की कहा जाता है । और ज्ञापि की । 'ज्ञापि' ज्ञापति का ही पर्याय है । इन दोनों के साथ ही रसाभुति के संज्ञ में अभिप्राय मुख्य 'कलकार' शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु सम्बन्ध वास्तविकविनाशित है ही । 'कलकार' का कर्म है किही कर्म की काला न रहने वाले कर्मों की वास्तविकता में विनाशित या वागम्य । यहाँ बुद्धियों का बहिर्मुखी अनुपायन ज्ञाप्य ही जाता है । वे निष्क्रिय ही जाती हैं । उस स्थिति में केवल वास्तव-स्वरूप का परामर्श होता है । किन्तु विनाशितवास्तव वास्तव की कलावस्था या अनुपायन नहीं है । वास्तव और प्रतिज्वलन स्वरूप कर्मों के किञ्चिद्वा वा संज्ञाओं है मुख्य होते हुए भी संविद् विनाशित में वागम्यरूपमय होता रहता है । जैसे मैत्राज्ञा में विदु - सम्बन्ध । इस प्रकार वास्तविकविनाशित में विनाशित के साथ ही वागम्य रूप के लिए भी विधान है । अभिप्राय के अनुसार काव्यात्म्य विनाशित के साथ सम्बन्धनात्मक अवस्था की पोषण करता है ।

उपरोक्त कर्मों के यह स्पष्ट है कि रसावस्था और प्रज्ञावस्था में साम्य

- १- कलकारी हि इति स्वात्मनि ज्ञान्वापेक्षी विमोक्षणम् । एव मुंवावता रूपं कलार्थं, ज्ञान करोति संज्ञे, किमुक्ति न कल्प्य अनुपायति - - - कल्पिति या वागम्यरूपमयान्कीति परामर्शित । ई० प्रथमिका किञ्चिद्वा, अभिप्राय मुख्य पृ० २४ पर दृष्टव्य ।
- २- रसावस्था और वागम्यवस्था पृ० १४०-१४१

इसी प्रकार परस्परोपेक्षा की विषयों के उपरांत वे मूल्य होकर कुछ स्वरूप आत्म-
नन्द को उपलब्ध करता है, स्वच्छिन्न वह भी शीघ्र-विरहित होता है। स्वात्मा-
नन्द हीनों प्रकार के अनुभवों के स्वच्छिन्न विधि-विध होता है कि अनुभव काय विषयों
के लक्ष्य नहीं रखा बल्कि, अनुभव का विधान-नन्द विनायादि विषयों के
लक्ष्य रखा है। स्वात्मा-नन्द विषय विहीन कुछ विधान-नन्द होता है जो काय-
नन्द विधि-विध रखादि स्वाधीनता-नन्द। स्व प्रकार हीनी कहाँ की प्रकार
के हीनों एवं विहीनों की शान्ति-नन्द द्वारा विनष्ट करके, स्वरूप स्व आत्म-
प्राप्त करता है, कहाँ अनुभव के विषय में स्थित रखादि वाक्या-
नन्द द्वारा रखादि स्वाधीनता-नन्द के रूप में अनुभव होती है।

रस की लोपिका

अभिप्रेत्या नै रसो लोपिका के रूप प्रमाण की हुर लोपिका विना-
रस न कारक हेतु है और न जायक हेतु। जोक में कारक और जायक दो प्रकार
के हेतु पाए जाते हैं, रस के अर्थ हेतु हेतु विनायादि इन हीनों के विधान-
नन्द, लोपिका है।

१- वा य..... योनिप्रत्ययान्विततदस्मरसंविधिज्ञानात्कर्मण्यविशेषान-
नुत्पद्यमानस्वात्मानन्दैकानामुपसाध्य विधि-विध। स्तोत्रां यथावीन-
यनीनादिनिन्नान्दरीकतादाहस्यै स्फुटस्वविषयान्देषैकैकानुत्पद्यमानैर्विरहात्।

- अभिप्रेत्याही नाम-१ पृ० २५५

२- Mystical experience involves the annihilation of every
pair of opposites, every thing is reabsorbed in its
dissolving fire. Sun, moon, night and day, beautiful and ugly,
etc., no longer exist in it. The limited I is completely
absorbed into Brahma or Bhairava, the absorbed object, every
thing vanishes from the field of consciousness. Aesthetic
experience, on the other hand, requires the presence of
the patent traces of Delight, etc. (aroused by the operation
of the Determinants, etc.) - R. G. G. : The A. K. A. A. P. 100

३- अभिप्रेत्याही नाम-१ पृ० २५५

उ० पृ० १५०

रस की व्यञ्जितता की विधि के लिए एक अन्य प्रमाण बभिनकुण्ड यह भी देती है कि रस न वनिकल्पक है और न निर्विकल्पक वरन् विभाव्यादि बोधितावधि है । अतएव रसानन्द की प्रज्ञानन्द नहीं कहते किन्तु, उसके अनुभव स्वीकार करते हैं । क्योंकि प्रज्ञानन्द निर्विकल्पक रूप है, उन्में प्रज्ञाता प्रीति पुण्यः स्वात्म रूप की जाती है फिर भी दोनों (प्रज्ञाता और प्रीति) विहित्यता विभाव्य अवस्थाएँ हैं रहित होती हैं अपरि वायारणीयता होती हैं । इस प्रकार काव्यानन्द की स्थिति सम्बन्धी है, यह विषयानन्द की अवस्था वनिक हूँ एवं विन्यस है और प्रज्ञानन्द की तुलना में स्पष्ट तथा वस्तुवाची है ।

बभिनकुण्ड रस की वागन्धर्य की मानती हैं - एक स्थल पर रस की कुछ रूप मानती हुए कहते हैं - अब रस कुछ प्रमाण होती हैं, क्योंकि स्पर्शविद् की परीक्षा की उनका रूप है तथा यह परीक्षा स्वयं एवं प्रकाशनी होती है और वागन्धर्य स्वका कारण उत्पन्न है । पुं उ अन्तराकुण्ड विभाव्यता होती है । और पुः उ विभाव्यता रूप । अतएव कथित वादि वादीनिक पुः उ की रसोपुष्टि का भी मानती हुए , वागन्धर्य की ही पुः उ का प्रमाण मानती हैं । रसास्वाप के कारणों में अनुभव का विषय स्वयं संविधि में विमान्य होती है , वागन्धर्य की रस वागन्धर्य रूप होती हैं ।

बभिनकुण्ड ने अनुभव के रूप की सम्बन्ध बभिनकुण्ड माना है । यह सम्बन्ध बभिन - वागन्धर्यविक्रि है । मरु नीच वादि के कारण है तथा वनिक्यादि के स्पर्श के बाटलून का परिवार होकर अनुभव की भी सम्बन्धान अवस्था होती है, उन्ही की वागन्धर्यविक्रि कहते हैं , उनके कारण मनुष्य अनुभव करता है । काव्य-

१- परप्रज्ञास्वापकप्रज्ञारित्वात् वास्तवस्य रसास्वापस्य - उ० पृ० १६०

२- सर्वेऽपि पुण्यप्रज्ञाः । स्पर्शविज्यवर्णारूपस्वैक्यस्य प्रकाशस्यानन्दवारत्वात्

..... अन्तराकुण्डविभाव्यतावरीत्वात् पुण्य । विभाव्यतावर्णीय पुः उ ।

अत एव काचित्पुः उस्व वागन्धर्यस्य प्रमाणत्वेन रसोपुष्टिर्वा कर्तुमिति वा-
क्यप्रज्ञा वरीत्वात् । बभिनकुण्ड वादी मान-२ पृ० २८२

३- तथा हि मरु नीच सर्वे वा वनिक्यादि ।

वागन्धर्यविक्रिने वाऽपि पुण्ये सम्बन्धानता

वागन्धर्यविक्रिः कैवल्यात् यतः अनुभवो यतः । - चम्पाडीक ३।२१०

का वात्स्यायन शान्तप्राय ही होता है ।^१ यही नहीं, बल्कि वे शान्त एवं ही सभी
 रवों की प्रकृति की मानते हैं । उन्होंने लिखा है कि अपने-अपने अनुसृत कारण की
 प्राप्ति करके शान्त एवं वे ही सभी नाम उत्पन्न होते हैं और वह निमित्त के उत्पाद
 होने पर फिर शान्त में ही जीव ही पाते हैं । इसलिए सभी रवों की प्रकृति शान्त
 एवं है । वस्तुतः विद्वत् मान्यमान्य एवं और शान्त एवं का एक ही स्वरूप होता
 है । जो , इस प्रकार शान्त एवं वात्स्यायन में कोई विशिष्ट एवं नहीं है बल्कि एवं
 का वात्स्यायन स्वरूप कहा जा सकता है जिसे ब्रह्मसूत्र ने प्रकृत एवं कहा है । स्पष्ट
 स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्र का वात्स्यायन शान्त एवं के निमित्त या कदापि वह ही
 कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में वात्स्यायन का स्वरूप अन्तः शान्त रूप
 ही था ।

जहाँ एक शान्तप्राय के स्वरूप का प्रश्न है, उसी बारे में ब्रह्मसूत्र ने लिखा
 है कि वह मोक्षोपपादन का निमित्त है, तत्पश्चात्तर्पण हेतु वे संतुष्ट है तथा निःशेष
 की वे मुक्त है । इस दृष्टि से ब्रह्मसूत्र का वात्स्यायन अपने चरम रूप में मोक्षो-
 पपादन, तत्पश्चात्तर्पण तथा निःशेष की वे संतुष्ट माना जा सकता है । स्पष्ट ही ,
 वात्स्यायन का यह स्वरूप तत्पश्चात्तर्पण वात्स्यायन कारणों से ब्रह्म उत्पाद एवं नश्य है ।
 ब्रह्मसूत्र ने शान्त एवं ही वह रवों का मूल माना है । इसका प्रमाण हेतु के-
 वली की वात्स्यायनी विचारधारा है ।

१- एवं श्रीशान्त शान्तप्राय वात्स्यायनी न विषयेष्वी विपरिप्लवा । ब्रि० भा०
 भाग-२ पृ० ३३६

२- एवं एवं निमित्तोपाय शान्तप्रायः प्रकृति ।

पुनर्निमित्तोपाय हेतु शान्त एवं प्रकृति ॥ जी० भा० ३३१

तथादि शान्तप्रायप्रकृतिमुपपादयति ।

३- ब्रह्मसूत्र की दृष्टि में वात्स्यायन का स्वरूप अन्तः शान्त रूप इसलिए है क्योंकि

ब्रह्मसूत्रवादि की वात्स्यायन है वह तो जीविक है जैसे स्वादिष्ट भोजन का वात्स्यायन

होने पर रज्जवा ब्रह्म वात्स्यायन होता है किन्तु वात्स्यायन में ही वात्स्यायनप्रकृति

होती है वह प्रकृति अनिनीय होती है । प्रजापति वात्स्यायन, वात्स्यायन

में निमित्त ही जाता है । शान्त में ही प्रजापति की वही स्थिति है, वह

पुष्पाप्राय मूल का अनुभव करता है , वह 'पुष्पाप्राय' वात्स्यायन की है क्योंकि

अन्तः पुष्पाप्राय वात्स्यायन (पुष्पाप्राय) के ही कारण होती है । वात्स्यायन

उरीर ही कहलु होता है । वह एक उरीर में वात्स्यायन रहता है सभी एक

देख वंद कभी पुष्प पर देखिए-

उपनिषद् अधिनियुक्त की वास्तविक रह-प्रक्रिया की धाराओं में इस प्रकार कहा जा सकता है -

- १- वैश्वमी के 'अपिच जगत्' है ही अधिनियुक्त का रह-विज्ञान सम्बन्धित है ।
- २- वैश्वमी के 'आनामनाद' के ही अनुसार अधिनियुक्त ने स्वाध्यायविरति की व्याख्या की है ।
- ३- वैश्वमी के 'अवस्था' विज्ञान के आधार पर ही आचारणीकरण प्रक्रिया का विवेक किया ।
- ४- अधिनियुक्त ने रह की विमानि संविधानम् में गयी है । रह की स्व-वर्णित की परीक्षा का मोक्ष मानकर रह की उत्तीर्णता का प्रतिपादन करते हुए स्वात्म्य और प्रज्ञात्म्य में सादृश्य स्थापित किया है ।
 - (१) अक्षय आनामि में और प्रज्ञात्म्य के प्रज्ञा में सादृश्य है ।
 - (२) स्वात्म्य और प्रज्ञात्म्य अर्थात् की स्थिति में होता है । विज्ञानी परिणामि विरति की विमानि, स्व और आनामि में होती है ।
 - (३) स्वात्म्य और प्रज्ञात्म्य विभिन्न और अलग होता है । वह विन्मय, अन्ध आनामि और स्वप्रकाश होता है ।
 - (४) दोनों उत्तीर्ण करके प्राप्त प्राण हैं ।
 - (५) इसीलिए रह प्रज्ञात्म्य उत्तीर्ण है ।
 - (६) रह के उत्तीर्ण होने पर ही उच्छाद कर्मा वैशिष्ट्य है ।
- ५- वैश्वमी के आनामनाद के ही अनुसार अधिनियुक्त ने आनाम्यस्वरूप रह का प्रतिपादन किया है ।
 - (१) कहना रह की अनुमति की आनाम्य ही होती है ।
 - (२) आनाम रह सब रहों का मूल है ।

विशेष पुण्य का क्षेत्र -

असल पुण्यारं रक्षी हैं । पुण्यारं का साथ ही जाने पर आत्म्यात्म ही क्षेत्र रक्षता है । अतः आत्म्यात्मि को कुछ होना वह आत्म्यात्म्य रूप ही होना उसे आत्मरति भी कह सकते हैं । अतः केवल आत्मरस ही ऐसा रह है जिसका स्वीकार आत्मज्ञ, आत्म्यात्म्य, आत्मरति रूप होता है । इसीलिए अधिनियुक्त आत्मरस की रह आनाम्य का स्वरूप मानते हैं ।

एक प्रकार बभिनकुम्भ ने पसड़ी वार रक्षास्वाध के कलात्मक प्रश्न की कुछ
 वास्तविक सीढ़ियाँ प्रदान की । रक्षास्वाध की हैजावैद्य के बाजार पर उन्हीं
 उनके वात्सास्वाध से बभिन सीमित किया । कभी स्वाध का एक नुन
 परिणाम का की हुआ कि उन्हीं हैजा-वात्सास्वाध के बाजार पर एक की रक्षा
 वात्सास्वाध की स्वाध की । ज्योता के बाजार पर रक्षास्वाध और बभिनकुम्भ
 का सीढ़ियाँ एक प्रदान किया कर एक और उन्हीं एक की स्वाध वात्सास्वाध
 का आत्मिक स्वाध का निम्न स्वाध किया, दूसरी और सीढ़ियाँ के
 बाजार पर एक के उन्हीं एवं बभिन की परस्पर उन्हीं कर वास्तविक निधि
 प्रदान की ।

-----:०:-----

विवेक और विरहेषण

ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में ठोक्न का मुत्वाकन-

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में व्याख्याता अंशुभाष्य एवं रामानुज की भाँति वास्तविक क्षेत्र में भाषाई अभिव्यक्तियों की केवल व्याख्याकार ही नहीं, बल्कि मौखिक चिन्तक भी हैं। उन्होंने ध्वन्यालोक का वृत्तिविस्तृत व्याख्यान करते हुए आनन्दवर्धन के विचारों का नया परिधान दिया है, जिसका प्रभाव परस्त्री भाषाओं पर मूल-ग्रन्थकार से भी अधिक बहुत और गहरा निस्संकोच कहा जा सकता है कि परस्त्री ध्वनि-सम्प्रदाय अभिव्यक्तियों के प्रति अधिक निष्ठावान् रहा, आनन्दवर्धन के प्रति कम। आनन्दवर्धन की अवस्था अभिव्यक्तियों को अधिक प्रतिष्ठा मिलने का मुख्य कारण उनकी ठोक्न टीका ही है। वस्तुतः यह टीका इतनी गूढ़ एवं वैदुष्यपूर्ण है कि अव्यक्ता को ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त ही घटित है। जिसके कारण उन्हें ऐसी धारणा हो गई कि बिना 'ठोक्न' टीका को वेदों ध्वन्यालोक के ठीक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। किन्तु यदि वैदिक ध्वन्यालोक का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि-सिद्धान्त में कोई त्रुटिज्ञा नहीं है। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त सही तरह एवं सही है, घटित स्वयं ठोक्न टीका है।

तथापि अभिव्यक्तियों अपनी ठोक्न टीका की कार्यक्षमता प्रतिपादित करते हैं-

किं ठोक्नं विना ठोक्नी वाति वन्द्युष्यापि हि ।

तेनाभिव्यक्तोऽत्र ठोक्नोक्तीर्णं ध्वनात् ॥^२

अर्थात् यह अर्थ है कि 'ठोक्न' वाक्यों को ग्राह्य बनाता है, तथापि अपनी छद्म रूप में नहीं। क्योंकि उन्होंने अपनी अभिव्यक्तियों में गुप्त अर्थ छिपाये हैं।

१- द्रष्टव्य - डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल का उक्त :-

"What Ānandavardhana Meant By Dhvani? J.G.N.J.R.I.

Alld. Vol.22, Nov.1965. - Feb. 1966 P.13-22.

२- ठो० पृ० १६४ ।

ध्वन्यालोक की व्याख्यान बनाकर उस पर जो विषय संक्षिप्त किए गए, वही बहुत कुछ उनके अपने हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में, शेष में स्वान-स्वान पर संक्षिप्त अधिनियम-मुक्त के स्वतंत्र भागों का विवेचन कभीष्ट है।

आनन्दवर्षे ने प्रथम कारिका में कुम्भी द्वारा बना-भात 'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' इस पद का उल्लेख किया है और विचार प्रस्तुत होने के कारण उस ध्वनि के स्वरूप की निःसन्देह एवं प्रमाणित रूप से विवेचित करने का संकल्प लिया है। किन्तु इस मुख्य विषय-ध्वनि स्वरूप विवेचन के पूर्व प्रथम रूप में ध्वनि के प्रधान तत्त्व 'प्रीतिमान-वर्ण' के स्वरूप एवं महत्त्व के विवेचन में (ध्व० १।१२ से ध्व० १।१२५ तक) पूर्ण संरम्भ के साथ प्रवृत्त होते हैं। संयोग से वे दूसरी ही कारिका से इस प्रकार का उपोद्घात करते हैं कि वह प्रायः टीकाकारों एवं सामान्य पाठकों के लिए प्रफुल्लित हो ही जाता है। क्योंकि आचार्य आनन्दवर्षे ने ध्वन्यालोक में स्पष्ट-स्पष्ट पर विभिन्न जगहों में 'वात्मा' पद का प्रयोग किया है। आचार्य अधिनियम-मुक्त ने भी 'वात्मा' पद के अनेक अर्थ लिए हैं किन्तु आनन्दवर्षे ने जिस अर्थ में चला है, अधिनियम-मुक्त उस अर्थ में उसकी व्याख्या कभी-कभी नहीं करते। परिणामतः विद्वान् में भ्रम हो जाता है।

वात्मा पद के विभिन्न अर्थ -

'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'वात्मा' पद का अर्थ वारम्भ अंत के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी है।

(१) यदि 'वात्मा' पद का अर्थ शार-अंत माना जाए तो 'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' का अर्थ होना - ध्वनि अर्थात् काव्यविशेष, काव्य अर्थात् काव्यसामान्य में वात्मा अर्थात् शाररूप होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि' जिसका जाने

१- ध्व० १।१२ ।

२-अमरकोश में भी कहा गया है-वात्मा यत्नो वृत्तिवृद्धिः स्वभावो कृतं वर्धं च ।

एक प्रकार 'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'वात्मा' पर के दो अर्थ हो सकते हैं -

(१) वारण्य-वंश

(२) स्माध, स्मय वा प्रकार

२- 'यौऽर्थः अनुसरताव्यः काव्यात्मेति ध्वनिः' में प्रयुक्त 'वात्मा' पर का अर्थ - प्राणमुख या रसस्तुत उत्पन्न है। अर्थात् ध्वनि काव्य का प्राणमुख उत्पन्न है। अर्थात् ध्वनि काव्य का प्राणमुख उत्पन्न - अनुसरताव्य, व्यंग्यार्थ है।

एक प्रकार 'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' और 'यौऽर्थः अनुसरताव्यः काव्यात्मेति ध्वनिः' इन दोनों काटिकाओं में प्रयुक्त 'वात्मा' पर के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इनकी संज्ञा एक प्रकार दी जाती है -

काव्य-वागम्य का वारण्य-वंश ध्वनि-काव्यविशेष है अर्थात् 'ध्वनि' काव्य का एक प्रकार है। और उस ध्वनि-काव्य का प्राणमुख-वत् व्यंग्यार्थ है। यह वागम्यवर्ग का विद्वान्त है।

किन्तु वग्निकुण्ड की जीवन टीका वागम्यवर्ग के उपर्युक्त मन्त्रव्य को स्पष्ट नहीं करती। वग्निकुण्ड 'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' का अर्थ करते हैं - काव्य की वात्मा ध्वनि है। पुनः 'यौऽर्थः अनुसरताव्यः काव्यात्मेति ध्वनिः' -

१- ध्व० १।२

२- ध्वनिः काव्यविशेष उत्पुलकम् । ध्व० पृ० ३००

३- ध्वनिवर्णितः प्रकारः काव्यस्य..... । यही पृ० ४५८

४- मुख्यतया प्रकाशनामी व्यंग्यौऽर्थौ ध्वनेरात्मा । यही पृ० १७४

५- (१) पृ० ५००-५०१

(२) यही पृ० ४२-४६

६- वग्निकुण्ड की नटीयांति बात है कि 'वात्मा' पर का अर्थ- प्राणमुख या वारण्य उत्पन्न के वतिरिक्त स्माध, स्मय वा प्रकार भी होता है। तभी तौ वे व्यंग्य-वार्ता (२।३) में प्रयुक्त 'वात्मा' पर का अर्थ करते हैं - 'वात्माव्यः स्माधकवनः प्रकाशनाः' (पृ० ५०४)। और ध्व० ३।६ की वृत्ति में भी 'व्यंग्यात्मरसार्थ' की व्याख्या करते हुए करते हैं - 'व्यंग्यात्मा ध्वनिस्माधौ' (पृ० ५०४) किन्तु 'काव्यस्वात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'वात्मा' पर का अर्थ- वारण्य के वतिरिक्त स्माध स्मय वा प्रकार भी हो सकता है- इस तथ्य की ओर उनका ध्यान नहीं है।

व्यवस्था: में 'अंग्य सर्व' को काव्य की वात्सा कहा जा रहा है । यहाँ आनन्द-
वकी के विन्दन में विरोधानाह प्रतीत होता है । क्योंकि वात्सा तो एक ही
ही समझा है , दो नहीं । अतिसुख यह निजि नहीं कर पाती कि काव्य की
वात्सा अंग्य है या अंग्यार्थ ? अतः दोनों को अंग्य रूप मान ली है और
इसी रूप में उन दोनों को 'अंग्य' में रखी हैं । अतः अतिसुख की अंग्य
टीका की सुझाव का एक कारण अंग्य और प्रीयमान-अर्थ में अंग्य की प्राप्ति
ही है ।

अंग्य और प्रीयमानार्थ का पाठ्य -

कैसा कि ऊपर कहा गया है - काव्य-
आनन्द में अंग्य काव्यविशेष चार-अंग रूप है और प्रीयमानार्थ या अंग्यार्थ
उस अंग्य का प्राणमूल सत्य है । यह आनन्दवकी का हीमा-हा सिद्धान्त
है ।

परन्तु आचार्य अतिसुख द्वितीय कारिका के पूर्व कही गई वंश -

'तत्र अंगिरेव उक्तानि चारुण्यस्य मुक्तिर्यद्विमुक्तिरुच्यते' अतः अंग्य-
आत्मा एक प्रकार करती है --

'..... तदा अंगिरेव प्रीयमानात्मे निवसित्ये'..... अतः अंग्य
अतिसुख यह रही है कि प्रीयमान नामक अंग्य रूप का निवसण होने पर
अतः अंग्य । यदि अंग्य-रूप 'प्रीयमान' नामक है तो 'प्रीयमानं पुनरप्येव'
अतः अंग्य ही अंग्य की परिभाषा ही बाली । फिर १२वीं कारिका में
'यत्रार्थः उच्यते वा उच्यते' अतः अंग्य की परिभाषा प्रतिपादित की गई
है , यह पुनरुक्त ही बाली , पुनरुक्त ही जाने पर भी यदि दोनों कारिकाओं
में प्रुक्त सत्य समान हैं तब कोई आपत्ति नहीं । किन्तु, दोनों कारिकाओं में

१- अंगिरेव प्रीयमानात्मे निवसित्ये अतः अंग्य । अ० पु० ४२

२- अंग्य पु० ४२

३- अ० पु० ४२

४- अंग्य ११४.

प्रयुक्त तत्त्व किन्तु हैं। अतः दोनों को ध्वनि का स्वल्प नाममात्र समीक्षा समझना है क्योंकि एक वस्तु की परिभाषा का एक ही स्वल्प ही होता है। किन्तु किन्तु नहीं।

एक अन्तर्भाव का उदाहरण अत्यन्त सरल है यदि वाग्व्यवहारी के दृष्टान्त के आधार पर ही अन्तर्भावपूर्ण अन्तर्भाव दिया जाए कि - ध्वनि अत्यन्त सरल अन्तर्भाव नाममात्र रूपी उदाहरण का उदाहरण है और प्रतीकानामार्थ ध्वनिकारण का अत्यन्त सरल (अत्यन्त सरल) है। तब एक प्रकार की उदाहरण का कोई अन्तर्भाव ही नहीं होता। वाग्व्यवहारी को यह पता है - प्रतीकानामार्थ ध्वनि स्वल्प अन्तर्भाव यह समीक्षा प्राप्तिकारण है। अन्तर्भाव 'एक ध्वनिरेख..... अन्तर्भाव' की व्याख्या ठीक नहीं की। वस्तुतः ध्व० १।२ से ध्व० १।२ तक का नाम ध्वनि की परिभाषा के पूर्ण मुक्ति का नाम है जो ध्वनि के प्राणपूर्ण अन्तर्भाव का परिणाम करा रहा है। अतः ध्व० १।२ से ध्व० १।२ तक अन्तर्भाव का विशेष ध्वनि स्वल्प की दृष्टिकोण करने के लिए ही किया गया है। वाग्व्यवहारी ने स्वयं ध्व० १।२ के अन्तर्भाव में मुक्तिमान में कहा है -

‘स्व वाग्व्यवहारीके अन्तर्भावपूर्ण अन्तर्भाव प्रतिपाद्य प्रकृत उदाहरणानामार्थ’।

(अर्थात् - वाच्य से अतिरिक्त अन्तर्भाव का अन्तर्भाव प्रतिपाद्य करके, प्रकृत अर्थात् ध्वनि-स्वरूप में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं।)

अतः यह निश्चित है कि ध्वनि और प्रतीकानामार्थ किन्तु हैं। इनके स्वल्प की परस्पर भिन्नता नहीं बाधित।

प्रतीकानामार्थ के कै -

प्रतीकानामार्थ या अन्तर्भाव के तीन कै^२ हैं -

- (१) वस्तुअन्तर्भाव
- (२) अन्तर्भाव अन्तर्भाव
- (३) रसादि अन्तर्भाव

१- ध्व० पृ० १०३ ।

२- (१) व वस्तु..... वस्तुनामअन्तर्भावरसादयः - वही पृ० ५०

(२) प्रतीकानामार्थ अन्तर्भावः प्राणपूर्णः - वही पृ० ४६५

अभिव्यक्त 'उप' में उपर्युक्त अर्थ का व्याख्यान करने से करते हैं -

'अभिव्यक्तैव सामर्थ्यं स्वकारित्वविशेषं विनावाचिकं स्वयमेव उच्यते सती, अभिव्यक्तं च पुनरुच्यते अभिव्यक्तोक्त्या कलपयितुं विनावाचिकविशिष्ट-
वीर्यवानुभिराभिव्यक्तविशेषतया वाच्यत्वविशिष्टं चक्रे कर्तव्यं सामर्थ्यं
उच्यते: विशिष्टमुच्यते वाच्यत्वात्समिति द्वौरपि उच्यते वीर्यं व्यापारः ।
एवं ही वस्तुवस्तुवाची वृत्तिः द्वितीयस्तु कर्तव्यवृत्तिः, स्वयमेव उच्यते स्वयमेव
कर्तव्यवृत्तिः कलपयितुं व्यापारादिप्रायेण वृत्तिः अभिव्यक्तप्रायेणाभीष्टः ।

यहां आत्मत्व की ही वस्तु रक्षादि का अभिव्यक्त के सामर्थ्य से
वाच्यत्व माना ही कही है । किन्तु अभिव्यक्त उनके स्व स्व से वृत्ति-
वाच्य का स्व प्रकार ^{विशेष} कारण करते हैं किसे वे स्वयं कही ही बात बूझा
से पैदा की हैं ।

रक्षादि का महत्व -

अंगवार्थ के कारण में वस्तुअर्थ एवं अंगार अर्थ
की अपेक्षा रक्षादि अर्थ ही प्रधान है । आत्मत्व की स्वयं अर्थ १।५ में कही है-
'काव्यात्मा च स्वार्थः' इत्यादि । अर्थात् काव्य की आत्मा वही (रक्षादि) अंगवार्थ
है । हमें 'च स्व' से यह प्रतीत होता है कि अंगवार्थ के अन्वये ही हैं अर्थात्
वस्तु अर्थ और अंगार अर्थ । और सामान्य रूप से अंगवार्थ को अर्थात् काव्य
की आत्मा - 'वैर्यः अनुसन्धानः काव्यात्मेति अवस्थितः' इत्यादि (अर्थ १२)
में बड़े ही कहा जा चुका है । तथापि अर्थ १।५ में रक्षावादि को विशेष रूप
से उसकी महत्ता के कारण प्रतिपादित किया गया है । यथा-

विशेष पुस्तक का उक्त अर्थ -

अर्थ के तीन वेद हैं - वस्तु अंगार और स्व ।
हमें है ही स्व वाच्य अभिव्यक्त है उस पर और अधिक ध्यान देना चाहिए । ही
अभिव्यक्त में वही स्व अर्थ है किसे वस्तुतः काव्यात्मा कहा जा सकता है । इत्यादि
(आत्मत्व की पुस्तक ३८)

आत्मत्व की वस्तु, अंगार और रक्षादि को अर्थ का वेद
नहीं वरन् अंगवार्थ का वेद कहा है । अर्थ के वेद ही अभिव्यक्तवाच्य और
और विशिष्टवाच्यरूप हैं । और स्वयं को काव्य की आत्मा नहीं कहा है।
बल्कि उन्होंने अभिव्यक्त में स्वयं की प्रधानता प्रतिपादित की है ।
४- अर्थ १।५ ७८-७९ ।

‘प्रीयमानस्य बान्धवोत्तरं नैऽपि रत्नाकुलेनोपलक्षणं प्राधान्यात्’ का
पर रत्नाय का बलिप्राय ‘रत्नादि’ है है । दूसरे स्थल पर बान्धवकी कही है --
बान्धव और बान्धव के प्राधान्य की विवक्षा वाक्य के उत्तर के आधार पर
होती है , इसके अनुसार और यह बान्धव की काव्य की वात्सा का रहे , वह
वाक्यक नहीं, कहीं कहीं वस्तु और अर्थकार बान्धव की काव्य की वात्सा ही
कही है ।

‘प्रीयमानस्य बान्धवोत्तरं नैऽपि रत्नाकुलेनोपलक्षणं प्राधान्यात्’ --
इस प्रसंग में प्रसक्त ‘प्राधान्यात्’ का ही व्याख्या बलिनमुक्त इस प्रकार करते हैं--
‘प्राधान्यादिति । रत्नोपलक्षणादित्यर्थः । तावन्नात्राकिमान्तावपि
बान्धवाच्चेष्टताव्यवहारित्येन वस्तुवर्णनार्थोऽपि बोधितव्योऽपि तावन्तावपि
मायः’ ।

बलिनमुक्त के अर्थों से यह ज्ञात होता है कि ‘वस्तु और अर्थकार’ बान्धवों
के प्रकार होने पर भी तथा प्रमाण होते हुए भी यह ही पर्याप्त होने के कारण
उनका कोई पुनः अस्तित्व नहीं है । वे केवल यह के उत्तर में सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार बलिनमुक्त का मत है कि भाव बान्धव आदि के प्रमाण होने पर
भी वे काव्य की वात्सा नहीं बन सकते । और यह के उत्तरक होकर ही यह
कही है । मतः काव्य का प्रमाणन और अनुमीक्षित विषय ‘रत्न’ ही है । वस्तु
और अर्थकार एक हीमा वह ही प्रमाण माने जा सकते हैं । यह हीमा है - रत्नाय
बान्धवों से प्रमाण होता ।

मतः ‘रत्न ही काव्य का प्रमाणन सत्य है, तथा वस्तु एवं अर्थकार, रत्न
में ही पर्याप्त हो जाते हैं’ - बलिन के यह कथन है यह उता ही कही है कि
अपि की एक काव्य प्रकार माना और वह अपि काव्य की वात्सा बान्धवों
मानता तथा बान्धवों के ही प्रकार - वस्तु , अर्थकार और रत्नादि की मानने
की क्या संति है ? प्रश्न उठा है , बान्धवकी ने हीने-हीने रत्न की ही काव्य
की वात्सा क्यों नहीं बन गया ?

उसका स्वरूपान्तरान्तर के ही रूप में मिलता है । उदाहरणार्थ सम्पूर्ण रूपों एक काय है और उस काय के अलग-अलग पक्ष भी काय संज्ञा ही होते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण संरचना भी काय ही समझा है और उस संरचना का एक पक्ष भी काय ही समझा है । एक सम्पूर्ण प्रत्यक्ष काय में कोई एक एक अवयव प्रधान रहता है । किन्तु साथ ही कुछ पक्षों में 'वस्तु अर्थ' के ही समकार मिलता है , और कुछ में 'कारण' के । यह सिद्धान्त है - क्या वाक्यार्थ की अपेक्षा अर्थार्थ प्रधान ही, वहाँ अर्थ काय होता है । प्रधान अर्थार्थ - वस्तुअर्थ भी ही समझा है, कारणअर्थ भी और रसअर्थ भी । इस प्रकार 'रसअर्थ' के प्रधान होने पर उसे 'अर्थिकाय' कहा जा सकता है उसी प्रकार 'वस्तु और कारण अर्थ' के प्रधान होने पर भी 'अर्थ काय' कहा जा सकता है । यही कारण है कि आनन्दवर्मा को रस के साथ वस्तु, कारण अर्थ भी कहना अन्याय था । तब ही उन्होंने अतिविस्तृत शीघ्र शब्द 'अर्थ' को काय संज्ञा दी ।

यह बात स्पष्ट है कि वस्तु और कारण की अपेक्षा रसअर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसी काय में विशेष वास्तव्य जाता है । अतीतिर आनन्दवर्मा ने रसअर्थ का महत्त्व स्पष्ट-स्पष्ट पर प्रतिपादित किया है ।

(१) कायस्वात्मा च (रसः) स्वार्थः - (अ० १।५)

(२) रसाधिक्यार्थस्वात्मात्पदार्थानां युक्तमिति कर्त्तव्यं स्थापितारम्भो न अर्थ-
प्रतिपादनमात्रमिति निवेदिता - (अ० ३।१६ की वृत्ति) ।

(३) अर्थार्थस्वात्माये स्थितिनिमित्ते सम्भवत्यपि ।

रसाधिक्य एकस्मिन् कविः स्थापयमानवान् ॥ (अ० ४।५) ~~कस्यचित्कस्य~~
कायस्वात्मा च स्वार्थः कर्त्तव्यं है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तु और कारण की निकटतम मध्य मान के कर रसअर्थ को सर्वोत्तम कह दिया जाय । यद्यपि आनन्दवर्मा ने अ० ३।१६ और ३।४२ की वृत्ति में रस का प्रधानत्व प्रति-
पादित किया है । तब ही निम्नलिखित स्पष्ट दृष्टान्त हैं -

(१) अथ यत् वस्तुकारणान्तरं वा अर्थं नास्ति स नाम विवक्ष्य कल्प्यतां
विषयः । अथ तु रसादीनामपि विषयत्वं स काय प्रकारी न सम्भवत्येव । यस्याद-
वस्तुसंज्ञायां कायस्य नोपपत्तौ । वस्तु न तस्मै कायत्वमवश्यं कस्यचिद्वस्तु मायस्य
वापत्तं प्रतिपत्तौ कल्पतां विनाशक्येन । पितृवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति
वस्तु किंचिदप्यपितृवृत्तिविशेषमुपपन्नमिति (अ० ५।५)

(२) रचनादिविषयविवक्षाविरहे इति ।

वर्णनरनिकम्पौ चः स विविचयोक्तः ॥ पञ्च० ४६०

(३) यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते ।

संस्कारमिच्छति वस्तु वराजं स वा ॥

काव्याभ्यानि ध्वनिर्ध्वन्यावाग्भीकनिकम्पनः ।

सर्वे तत्र विषयी ज्ञेयः सकृदेव ॥ पञ्च० १००-१०१

ध्वनि की परिभाषा या उदाहण -

ध्वनि का उदाहण जानन्यवकी इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं -

जहाँ वाक्य कर्त्तृ अपने (स्वरूप) को तथा वाक्य उक्त अपने वाक्य कर्त्तृ को गीत (अप्रधान) बनाकर, उस प्रीयमान कव्या ध्वन्य-कर्त्तृ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं, बिना उस वाक्य-विशेष की ध्वनि कहते हैं ।

काव्यविशेष की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं - 'काव्यं च तद्विशेषरसाद्यौ । काव्यस्य वा विशेषः' । अर्थात् काव्य और उसका विशेष इस प्रकार (कविारस समाध) वा काव्य का विशेष इस प्रकार अच्छी तत्पुरुष समाध द्वारा 'काव्यविशेष' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । किन्तु इस व्याख्या में 'कवि' और 'तत्पुरुष' की संज्ञा के बीच बड़ा फाट है, अभिनवगुप्त को इसकी चिन्ता नहीं है ।

ध्वनि के पांच कर्त्तृ -

तदनन्तर, अभिनवगुप्त स्वना जानते हुए भी कि कारिका में जानन्यवकी को केवल काव्यविशेष की ही ध्वनि समझा अपीष्ट है, फिर भी (१।२३ कारिका से बड़ा) ध्वनि के पांच कर्त्तृ निकालते हैं -

१- कर्त्तृः उक्तो वा तत्पुरुषकीकृत रसाद्यौ ।

अर्थः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति दूरिभिः कथितः ॥ पञ्च० १।२३

२- किन्तु 'विशेष' उक्त का समाध जाने पर इस प्रकार का विग्रह प्रायः नहीं किया जाता । अतएव मैं केवल अपनी व्याख्या की संज्ञा केष्ठाने के लिए यह विग्रह किया है ।

३- कर्त्तृ वा उक्तो वा व्यापारी वा । कर्त्तृऽपि वाक्यो वा ध्वनतीति, उक्तो ध्वनन् । अर्थो वा ध्वनन् इति व्यापारी वा उक्तार्थोऽर्थनमिति । कारिका तु प्राधान्येन सुखाय स्य काव्यकपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । उ० पृ० १०६-१०७ ।

१- व्यंग्य कवि

२- वाक्य उक्त

३- वाक्य कवि

४- व्यंग्य व्यापार

५- अनुपाय उक्त वाक्य ।

व्यंग्यकवि, व्यंग्य के इन पांच कवि युक्ति के निम्नलिखित अंश से निराकरण का प्रयत्न कर रहे हैं -

‘तथैवान्वेष्टान्मत्तानुसारिभिः कूरिभिः काव्यतत्त्वार्थं वार्तिविवाच्यवाक्यव्यंग्यः
उच्चात्मा काव्यमिति व्यंग्यैश्वर्यं व्यंग्यतत्त्वान्माह व्यंग्यविरचितः’^१

वस्तुतः युक्ति के इन अंश से व्यंग्य के पांच कवि निराकरण युक्त है तथापि व्यंग्य-
युक्त पांच कवि निम्न प्रकार से निराकृत हैं -

‘व्यंग्यकवि वाक्यवाक्यव्यंग्यः’, ‘उच्चात्मा’ और ‘काव्यमिति व्यंग्यैश्वर्यं’ में प्रत्येक
कवि की युक्त युक्त व्यंग्यविरचितः’ से सम्बन्ध करना चाहते हैं । व्यंग्य के अनुसार ‘वाक्य-
वाक्यव्यंग्यः’ में तीन उक्त हैं -

१- वाक्यार्थ

२- वाक्य उक्त

३- व्यंग्य = व्यंग्यार्थ

व्यंग्यः कवि की व्याख्या करते हुए व्यंग्यकवि कहते हैं - व्यंग्यकवि निरावापुनः
अंशमेवेति व्यंग्यैऽपि व्यंग्यः । अतः व्यंग्य के अनुसार व्यंग्यार्थ ही व्यंग्य है ।

उच्चात्मा की व्याख्या करते हुए व्यंग्यकवि कहते हैं - ‘उच्चैः उक्तः उच्चव्यापारः
.... वधि तत्त्वान्माह वधिऽपि व्यंग्यं व्यंग्यः’ इस प्रकार व्यंग्य व्यापार ही व्यंग्य है

४- उच्चात्मा = व्यंग्य व्यापार

५- काव्यमिति = व्यंग्य वाक्य

१- डा० सुब्रह्मण्य स्वामी ने The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics.

में पृ० ७५-७६ पर लिखा है कि व्यंग्यकवि किन्तु प्रकार व्यंग्य के इन पांच कवि
की निराकृत हैं । उन्होंने कहे की युक्तिपूर्वक इन स्थलों को भी उचित है जहां से
व्यंग्य ही व्यंग्य द्वारा कहे गए । व्यंग्य के इन पांच कवि की सम्पादना को समझी
है ।

२- व्यंग्य पृ० १३३

३-४ - डॉ० पृ० १३३

अभिनवमुखा का यह सारा वाच विचार व्यापकक विस्तार प्रतीय होता है। और उनकी यह सीमातापी है अनुभवों की दृष्टि होता है।

उपनिषद् ग्रन्थों में कुछ विशेष तत्त्व कहे हैं -

काव्य में इन्होंने के वाच कहे भी होती हैं। इन्हींके आनन्दवर्ती स्वप्न रूप है कही हैं - वाच्यवाक्यप्राम्थिवः उच्चात्मा काव्यमिति व्यक्तेरवः इत्यादि। अर्थात् उच्चात्म स्वप्न काव्य में वाच्य वाक्य का साहित्य होता है। अतः आनन्द वर्ती के यह वाक्य को उचित करते स्वप्न कहे नहीं निकालना चाहिए बल्कि यह पूरा वाक्य वाचिप्राय है।

किन्तु अभिनवमुखा ने स्वप्न दृष्टन करते, प्रत्येक वच का विश्लेषण करके पांच कहे निकालने का प्रयत्न किया है। इन्होंने उनके अनुसार उच्च, कहे और अनुपाय को काव्य कह भी दिया था, फिर भी प्रश्न उठता है कि क्यों अभिनव मुख्या व्यंग्य कहे और व्यंग्य व्यापार को ध्वनि कहे के लिए उत्तुंग हैं? संक्षेपः अभिनव के अनुसार स्वप्न हेतु यह ही समझा है कि (ध्व० १२) में अनुभवों द्वारा प्रत्यक्षीय व्यंग्यार्थ की ध्वनिकाव्य की उच्चात्मा कहा गया है तथा ध्व० ११५ में स्वप्नार्थ को विशेष रूप से काव्य का गुणगुण कहा गया है। इन्हीं इन कारणों से अभिनव ने ध्वनि से व्यंग्यार्थ का वाच्यत्व न मान कर व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि ही कह दिया और, अभिनवमुख्या व्यंग्य व्यापार को ध्वनि किन्तु युक्ति से कह रहे हैं? यह एक और समस्या है। आनन्दवर्ती अपने ध्वनि सिद्धान्त विरोधियों को ध्यान में रखकर गुणगुणि इत्यादि का दृष्टन करते हैं -

(१) अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितः काव्यात्पार्थ गुणगुणिरित्याहुः (ध्व० पु० २८)

(२) यद्युक्तं ध्वनिध्वनिरिति (ध्व० पु० १४२)

ऐसे कहाँ है, संक्षेपः अभिनवमुख्या यह समझ रहे हैं कि आनन्दवर्ती गुणगुणि का विरोध करते व्यंग्यगुणि कहा चाह रहे हैं। अतः व्यंग्य-व्यापार को भी ध्वनि कह दिया था। यही सोच कर हायद अभिनव ने व्यंग्य-व्यापार को भी ध्वनि कहा है।

अग्निमुखा एक एक पद का लच्छ लच्छ करते वहीं निकल रहे हैं । किन्तु
 वाग्व्यवकी^{के} हीने के लक्ष्य - 'अंग्य वहीं का वहीं रूप है अनादि हीना ही अग्नि
 का पूर्ण उभाज है' - इस लक्ष्य को न लक्ष कर अर्ध प्राणि प्राणलक्षण करते हैं
 और अर्धार्थिक वहीं निकली हैं और अन्ध में खड़े हैं - ज्ञान ही अग्नि का उभाज
 है ।

निःसन्देह अग्निमुखा का जीवन अग्नि विज्ञान को स्पष्ट करने के स्वान
 पर और अधिक उलका केा है ।

अग्नि के विरोधी -

वाग्व्यवकी ने अन्धाडों के प्रारम्भ में ही अग्नि-
 विज्ञान के तीन विरोधियों की स्थापना की है -

- १- अनायादी
- २- नाकयादी
- ३- अनिर्णीयायादी

वाग्व्यवकी का अग्नि विरोधियों का उत्तर -

प्रश्न कारिका की वृत्ति में

वाग्व्यवकी खड़े हैं -

..... अनायादिका अनादिना प्रसूतमदिरजनीयनीयहीभिरपि...
 .॥. उत्थादि ।

अग्निमुखा सब ब्रह्म का व्याख्यान जीवन में करते हैं, अंगीयेज
 ताकपुनोदीरितिफिरत्सर्गकोदणं कुपति - अन्धेयादिना ।

उत्ता उत्तर - यहीं पर प्रत्येक पद को विपक्ष करते अग्निमुखा -
 अनायाद, नाकयाद एवं अनिर्णीयायाद का निराकरण भी करने लगे ।

१- अ० पृ० २५

२- उ० पृ० २०

३- अनायाद अनादिना न प्रगतेते कस्मिंश्चित्ति निराकरोति ।

अद्वितीयमिति नाकाद्वयतिरेकाद । न हि 'किंही कटुः' 'मंतायां पौषः'
 हेन ब्रह्म कठे पृष्ठ पर

यहां यह विचारणीय है कि किता ध्वनि स्वयं की की ध्वनि विरोधियों का निराकरण प्रकृत कारिका में ही कर दिया गया १ ध्व० १।१२ की कारिका में ध्वनि स्वयं निवृत्त के अन्तर इसका ध्वनि विरोधियों का निराकरण होना । किन्तु अमिनसुख ने ध्व० १।१२ की कारिका के आधार पर ध्व० १।१२ में ही अक्षरवत्ती हींसा के ध्वनि विरोधियों का निराकरण किया है ।

ध्वनि काव्य का नेद -

ध्वनि विरोधियों ने ध्वनिकाव्य की काव्य की किसी एक विधा में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया था किन्तु ध्वनि के स्वयं ही अन्तर्भूत नेद हैं । अतः यह काव्य की किसी एक विधा में अन्तर्भूत नहीं हो सकता ।

आनन्दकवी ने ध्वनि के नेद-प्रयोगों को बताया है किन्तु अन्त में यह भी कहा है कि किसी के छिर भी ध्वनि नेदों की गणना करना उचित नहीं । अतएव यह ध्वनि नेदों का विन्दुहीनता प्रकाश की है । अमिनसुख, मम्मट और विरहनाथ ने ध्वनि नेदों की गणना करने का भी प्रयत्न किया है ।

आनन्दकवी ने ध्वनि के अन्तर्भूत दो नेद छिर -

(१) अविवक्षितवाच्य और (२) विवक्षितान्वयवाच्य ।

१- पिछले पृष्ठ का लेख अंतः-

इत्यत्र रम्यता कापि उपनिषद्गुणैश्च न तु कुर्यात्तत्त्वानामाकर्णं
इत्यादि निराकृतम् । अणिकीपित्वादिना गुणार्थेनान्वयवृत्त्यर्थं भवति ।
अथ यैत्यादिना उत्तरान्वयः पातिन इत्यादिना यद्यप्यधिक्यं संक्षिप्तं । तन्मि
रावकाशीकरीति । रामायणमहाभारतव्योनादिभिः प्रुति खीरेव दूरिभिरस्यावरः
कृत इति कथ्यति । उदाहरणमिदं वाचां स्थितमधिक्य इति परास्वति ।
उपयतेऽनेनेति उदात्तं उदात्तम् । उदात्त निवृत्तमिदं उदात्तमिदं, तेनां उदात्तद्वारेण
निवृत्तमिदमिदं । (उ० पृ० २०-२५)

१- न केवलित्व ध्वनीयतामात्रेण ध्वनीयतामवा महाविषयस्य अप्रकाशं तत्प्रतिष्ठा-
उत्तरादिद्वेयमात्रप्रतिपादनं तुल्यमिति तदुपाधित्वेनार्थायुक्तं एव दर्शयः ।

ध्व० पृ० १२५-१२६

२- ध्व० १।१२

३- ध्व० पृ० १२६-१२७

ध्वनि के दो के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य उल्लेखनीय है - ध्वनिकयुग्म पकड़े ही कह जाय हैं कि ध्वनि के तीन वेद हैं - वस्तुध्वनि, अङ्कारध्वनि और रसाध्वनि । किन्तु आनन्दवकी है सर्वप्रथम ध्वनि के सामान्यतः दो वेद बता रहे हैं - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्वयवाच्य । अतएव ध्वनिकयुग्म द्विविधार में प्रकट पड़ गये कि यह कैसी व्यवस्था है ? यदि ध्वनि के दो ही सामान्य वेद हैं, तो फिर - वस्तुध्वनि, अङ्कारध्वनि और रसध्वनि - ध्वनि के दो वेद होने ? अतः इसकी व्याख्या करने के लिए समुचित ठिकी है -

वस्तु, अङ्कार और रस इन दो तीन वेदों वाला भी, वह ध्वनि इन्हीं दोनों में संश्लेष हो जाता है । अतः इनके के पर्याय भी उन्हें संश्लेष नहीं हुआ । अतः अङ्क उपस्थित करते हैं - ध्वनि नाम के पर्याय इस नाम के रखने का क्या काम है ? पुनः स्वयं व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं - इन दोनों नामों - (अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्वयवाच्य) से ध्वनय रूप व्यापार में पूर्णप्रतिपादित - अविवक्षा, तात्पर्य और उक्तणारूप तीनों व्यापारों से व्यक्त वर्ग की प्रतीति का और प्रतिपत्ता या ज्ञाता में रहने वाली प्रयोजन के अविवक्षय रूप विवक्षा का सकारित्व कहा है । इस प्रकार दोनों नामों से ध्वनि का स्वरूप ही प्रोन्वीकृत है ।

वस्तुतः ध्वनिकयुग्म का यह व्याख्यान प्रान्तिमुक्त है । उन्होंने प्रतीकान्त वर्ग को ध्वनि से पूर्ण मानते और ध्वनि का जो स्वरूप आनन्दवकी ने परिभाषित किया है, उसे समझते तो यह बुद्धि व्यामोह न होता और न उतना व्यर्थ का बन करना पड़ता, किन्तु उनकी व्याख्या भी बटिड़ हो गई । आनन्दवकी का सिद्धान्त अतः स्पष्ट है कि उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं । ध्वनि के दो वेद हैं - अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्वयवाच्य । व्याख्यान के तीन वेद -

१, २, ३- सामान्येति । वस्तुअङ्काररसात्मना हि त्रिवेदीऽपि ध्वनिरुपाध्यामेवाध्यां संश्लेष इति भावः । ननु तन्नामपुच्छे स्तन्नामनिवेशस्य किं कथम् ? उच्यते - अनेन हि नामध्वेन ध्वन्यात्मनि व्यापारे पूर्णप्रतिपादिततात्पर्य-उक्तणारूपव्यापारत्रिवेद्याकृतार्थप्रतीतिः प्रतिपत्तुतायाः प्रयोजकविप्राय-रूपावाद्य विवक्षायाः सकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूप नामध्यामेव - प्रोन्वीकृतम् । (टी० पृ० १३०)

वस्तु, अङ्कार और रसादि । यह बात पुष्टी है कि ये दोनों का मिलने तो स्पष्ट विवेक के साथ, जैसे वाचार्थान्वय ने इसे प्रस्तुत किया है -

संज्ञान पुनरस्य ध्वनिरस्यो मेवाः, व्यंग्यस्य शिष्यत्वात्

किन्तु, अविवक्षितवाच्य को ही ध्वनि - व्यंग्य ध्वनि के रूप में ही विशेष विचार पड़ता है । वाच्यत्व में तो ये उपवाह्यः नास्ते हैं । जीवन टीका की उलझी और कुछ कठिनाई का पूरा कारण इसी यही ग्रन्थि है ।

ध्वनि के सामान्यतः दो भेद बताए गए -

१- अविवक्षितवाच्य २- विवक्षितान्वयवाच्य

अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं -

१- अव्यतिरसंभूतवाच्य और २- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ।

ये दोनों भेद कहीं एक पद से प्रकाशित होते हैं, कहीं दोनो पदों से । दोनो पदों से प्रकाशित होने पर उन्हें वाक्य से प्रकाशित कहा जाता है । इस प्रकार इनके चार भेद हो गए -

१- पदप्रकारय अव्यतिरसंभूतवाच्य ध्वनि ।

२- वाक्यप्रकारय अव्यतिरसंभूत वाच्यध्वनि ।

३- पदप्रकारय अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

४- वाक्यप्रकारय अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

इन सब का विवेचन हम द्वितीय अध्याय में ही कर चुके हैं । प्रस्तुत प्रश्न में केवल पदप्रकारय और वाक्य प्रकारय अव्यतिरसंभूतवाच्यध्वनि के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है ।

ध्वनि के दोनों भेदों अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्वयवाच्य के पदप्रकारय के विवेचन के प्रश्न में आगम्यवर्ती कहते हैं कि ध्वनि को वाच्यविशेष कहा जा चुका है अतः अतः उसकी पदप्रकारयता पर संशय करने की जरूरत नहीं है -

‘ननु ध्वनिः काव्यविशेषः सम्पूर्णः तत्कथं तस्य पदप्रकाशता । काव्यविशेषो हि विधिष्टायैव प्रतियोगितुः अव्यक्तव्यविशेषः । तदुपायस्य पदप्रकाशतायै नोपपत्तौ पदानां स्मारकत्वेनावश्यकत्वात् ।’

उपयुक्त अंश का समाधान करते हुए आनन्दवर्मा कहते हैं -

‘उच्यते - स्वादेव शेषः यदि वाचकत्वं प्रतीकं ध्वनिव्यवहारो स्यात् । न त्वेकम्, तस्य व्यङ्ग्यत्वेन व्यवस्थानात् ।’

अर्थात् ध्वनि स्वयं विरूपण का प्रतीक व्यङ्ग्यत्व है, वाचकत्व नहीं । इसलिए पदप्रकाशत्व की अनुपपत्ति का कोई प्रश्न नहीं उठता । जिस प्रकार उल्ला के एक अंग में स्थित आनुचण विशेष सम्पूर्ण शरीर को उदीप्त करता है, उसी प्रकार काव्य में पदों से हुई की वाक्यत्व प्रतीति सम्पूर्ण काव्य में चारुता छा वेदी है । अतः काव्य में पदों के व्यङ्ग्य होने पर भी ध्वनिव्यवहार किया जा सकता है ।

ध्वन्यालोक के उपयुक्त अंश का अभिनवगुप्त तीसरे में अपने अंग से व्याख्यान करते हुए कहते हैं -

‘नन्विदं । अनुपाय एव ध्वनिरित्यत्र पदो बोधयेत्’^१

इस वंश में प्रयुक्त ‘पदो’ पद से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त पूर्व प्रतिपादित ध्वनि के पांच अर्थों में से अनुपाय वाले पद पर आशय की बात कर रहे हैं । किन्तु आनन्दवर्मा को ध्वनि के पांच अर्थ अभीष्ट ही नहीं हैं । उन्होंने ध्वनि को मात्र एक काव्यविशेष के अर्थ में समझ माना है और प्रस्तुत प्रश्न में भी आनन्दवर्मा को यही अर्थ अभिप्रेत है ।

उपयुक्त संदर्भ में एक तथ्य अवश्य है - आनन्दवर्मा ने ‘ननु ध्वनिः.....’ से लेकर ‘पदानां स्मारकत्वेनावश्यकत्वात्’ तक पूर्वपक्ष रखा है । उसके बाद विद्वान् पक्ष । किन्तु अभिनव गुप्त पूर्वपक्ष का और विस्तार करते हुए कहते हैं :-

‘यदि परो ज्ञेयात्’ - न मया तत्त्ववस्तुनं ध्वन्याभावे हेतुपूर्व किं तुल्यं काव्यं
 वनिः । काव्यं वानाकाराप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तत्राह - उत्पत्तिं,
 वापि पदं न ध्वनिरित्यस्माद्विज्ञानम् । अपि तु अनुभाव एव,..... । इत्यादि
 उपर्युक्त तत्त्व वनिगुण्य नैवान्वयकी के सिद्धान्त में अपनी ओर से बोद्धा
 । वान्वयकी तो केवल ध्वनि स्वयं निम्न का प्रयोग-वाक्यन को नहीं
 कि ध्वन्यत्व को बताते हुए पदप्रकाश ध्वनि का निम्न कर रहे हैं । किन्तु,
 निम्नगुण्य केवल अनुभाव को ही ध्वनि मानने वाले भीमांशु बादि के सिद्धान्त
 की प्रतिपादन कर रहे हैं ।

- यहाँ वनिगुण्य सम्पादना कर रहे हैं - ‘यदि परो ज्ञेयात्’ - वह पूर्व
 यत्ता है । इसी ‘काव्यं वानाकाराप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति
 तत्राह’ - इत्यादि पंक्ति को देखने से स्पष्ट है कि यह वनितामिवान-
 वादियों का मत है । क्योंकि, वनितामिवानवादी वनितामिवानों से
 ही वाक्यार्थ बोध मानते हैं । ज्ञेयात् वनिगुण्य ने यहाँ भीमांशुओं का
 मत रखा है । किन्तु यहाँ एक कंठा होती है - यदि यह मत भीमांशुओं
 का है तो - ‘यदि परो ज्ञेयात् - न मया तत्त्ववस्तुनं ध्वन्याभावे हेतुपूर्व
 किं तुल्यं काव्यं ध्वनिः । काव्यं वानाकाराप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न
 पदमिति’ इत्यादि में निरन्तर ध्वनि को स्वीकार किया गया है ।
 किन्तु भीमांशु तो ध्वनि को स्वीकार नहीं करते । अतः इस समस्या के
 दो पक्ष हो सकते हैं -

या तो यह सिद्धान्त किसी ऐसे जाचार्य का है जो भीमांशुओं के
 वनितामिवानवाद का समर्थ होने के साथ ही साथ ध्वनि समर्थ भी है ।

या फिर वनिगुण्य ने ‘यदि परो ज्ञेयात्’ कह कर, जाचार्य
 का नाम वनिगुण्य नहीं किया, और ब्रह्मा ब्रह्म या कर ध्वनिवादी
 और भीमांशु के सिद्धान्त का निम्न किया है । और भीमांशुओं की
 ओर से तर्क उपस्थित किया है, जो पदप्रकाश को स्वीकार नहीं
 करते ।

वाक्य प्रकारस्य अर्थान्तरसंश्लिष्टवाक्यस्य ध्वनि -

ज्ञानन्वयवर्तन ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है -

विषयव्यक्तिः कैचामपि कैचामपि प्रवात्यमृताभिजातिः ।

कैचामपि विषयान्तरममः कैचामप्यविषयान्तरः काठः ॥

अर्थात् ज्ञान विधी के लिए विषय का वाता है, विधी के लिए वस्तु, विधी के लिए विषय और ज्ञान दोनों और विधी के लिए न विषय और न ज्ञान । यहाँ 'विषय' और 'ज्ञान' एक बार-बार वाक्य में आ रहे हैं किन्तु इनका मुख्यार्थ यहाँ नहीं प्रयुक्त हुआ है । वस्तु ज्ञानः दुःख और सुख रूप संश्लिष्ट वाक्य काठे विषय और ज्ञान -यहाँ से व्यवहार हो रहा है । इस प्रकार यह अर्थान्तरसंश्लिष्ट वाक्य का उदाहरण है ।

अभिनवगुप्त जीवन में कह रहे हैं -^१

'विषयान्तरवदे व तावज्वापि उच्यमान्निष्ठतत्ताणाभावात् सुखदुःखसाधनयोर्वीति' - यहाँ यह अवश्य है कि यदि विषय और ज्ञान यद् में निष्ठ तत्ताणा माने तो तब व्यंग्यत्व कैसे बनेगा ? क्योंकि यह सिद्धान्त है -

'व्यंग्येन रक्षिता इती रक्षिता तु प्रयोक्ते'

अर्थात् रक्षित नेदों में व्यंग्य है रक्षित तथा प्रयोक्ताज्ज नेदों में व्यंग्य के रक्षित होती है । अभिनवगुप्त के अनुसार यदि यहाँ विषय और ज्ञान एक में निष्ठ तत्ताणा माने हैं तो तब व्यंग्यत्व कैसे सम्भव होगा ?

विषयितान्तरपरवाक्यस्य ध्वनिः -

ज्ञानन्वयवर्तन ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया

है -

छिरिणी क्व नु नाम शिखिरं शिखिवानमवाकरोत्पुः ।

तदुचि येन तवापरपाटं कस्य विम्बकं कुम्भाकः ॥

यहाँ नायक नायिका की बातचीत कर रहा है - यह वस्तु रूप व्यंग्यार्थ है।

१- ध्व० पु० २६४

२- उ० पु० २६५

३- काव्यप्रकाश पु० ६०

४- ध्व० पु० २६५

‘क्षिरिणी क्व नु नाम’ के प्रश्न में तोषन में अभिनयुक्त करते हैं - सम्भव है कि मूक हाकक के माध्यम से नायक को नायिका की वादुकारिता कर रहा है, यह मुख्यार्थ में व्यंजित हो - कि मूकहाकक में नायक के ज्ञान कुशलता कभी व्यक्त है। ऐसी वादुता करके अभिनयुक्त करते हैं -

‘कम तत्र स्व व्यापारः यदि वाऽऽकस्मिन्विशिष्टप्रनाथानुपपत्तेर्मुखार्थवाचा साधुवास्तवता नक्तु मध्ये, इत्यादि।

यहां तीन व्यापार हैं -- अभिज्ञा, सात्पर्य और ध्वनन। क्योंकि मुख्यार्थ-बीज आदि का ज्ञान होने से बीज की कला में तीव्रता उत्पन्न होती यहाँ नहीं है। जयवा आकस्मिक (अव्यवस्थित) एवं विशिष्ट मूक द्वारा तब करने के ज्ञान को लेकर प्रनाथ की उपपत्ति न होने के कारण मुख्यार्थ बाध के हो जाने पर साधुत्व से बीज में उत्पन्न हो जाती है। इत्यादि।

किन्तु, ज्ञानम्भवी को यहाँ मुखार्थ में कोई भी व्यंजित नहीं होती। सभी को वे यहाँ ‘क्षिरिणी क्व नु नाम’ को विवक्षितान्वयवाच्य के उदाहरणार्थ उपपन्न करते हैं। तथा उसे विवक्षितान्वयवाच्य ध्वनि करते हैं [किन्तु वाच्य विवक्षित (वाच्य वाक्य केवल रूप से जयवा अन्वयवाच्य) होता हुआ भी व्यंग्य-निष्ठ है।] अतः यहाँ मुखार्थवाच्य की सम्भाषना का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय के मतानुसार कैसे अविवक्षितवाच्य में उत्पन्न व्यापार व्यंग्यार्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है यद्यपि कैसे विवक्षितान्वयवाच्य^{में} व्यंग्यार्थ उत्पन्न व्यापार पर आश्रित नहीं रहता किन्तु यहाँ मुखार्थ-बाध की आकस्मिक सम्भाषना ही यहाँ उत्पन्न हो भी जाती है।^{वस्तुतः} अभिनयुक्त की विवक्षितान्वयवाच्यध्वनि में उत्पन्न की सम्भाषना-उनकी अपनी मूल है।

विवक्षितान्वयवाच्य ध्वनि के प्रश्न दो वेद हैं -

१- अंतर्गम्यव्यंग्य

२- अंतर्गम्यव्यंग्य

असंख्यकप्रमाण -

आनन्दवर्मी ने असंख्यकप्रमाण के अन्तर्गत च रसादि की सूची दी है। उन्हीं केवल रस, रसानाच, नाच, नाचानाच, तथा नाचप्रधानि (पृ० ७२) का ही नामोल्लेख किया है। अमिनकुण्ड ने आनन्दवर्मी द्वारा उचित इन कैरों में रसादि के स्थान पर - नाचोपम, नाचवन्धि, नाचप्रधाना की भी जोड़ दिया है। किन्तु आनन्दवर्मी ने उन्हीं से एक का भी विवेचन नहीं किया था। प्रस्तुतः आनन्दवर्मी का मुख्य प्रतिपादक इन इन में प्रतीकानामार्थ की प्रमानता थी, जिससे उन्हीं अभिव्यक्ति सिद्ध हो सके। अतः उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति में केवल आवश्यक तथ्यों का ही प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में जो आवश्यक या मौलिक तथ्य हैं उन्हें वे छोड़ते गए हैं।

रस और नाच के विषय में उन्होंने कुछ भी प्रतिपादित नहीं किया। न तो उन्होंने यह कहाया कि रस का स्वरूप क्या है और न यही कहाया कि उसकी निष्पत्ति कहाँ और कैसे होती है। नाच के विषय में भी वे इन प्रश्नों पर कोई विचार नहीं प्रस्तुत करते यद्यपि परकीर्ति अङ्गार शास्त्र में ये ही प्रायः प्रमुख विषय बन गए। अमिनकुण्ड ने इन सभी पक्षों पर अत्यन्त विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि आचार्य आनन्दवर्मी अमिनकुण्ड से पूर्वकी आचार्य हैं, तथा ध्वन्यालोक में रस विषयक विवेचन के अनेक स्पष्ट आर कहाँ रसानुप्राप्ति और रस प्रक्रिया का विवेचन आनन्दवर्मी कर सकते थे। उन्होंने भारत का रसज्ञ 'विभावानुभावव्यभिचारिसंवाताकुहनिष्पत्तिः' अक्षय देवा होना और 'रसो वै सः' से भी वे अवश्य परिचित रहे होंगे। तब क्या कारण है कि आनन्दवर्मी रस विषयक इन विभिन्न प्रश्नों पर कुछ भी मुख्यवर्तिका विवेचन नहीं किया। क्या वह रस की प्रकृति की कोटि तक पहुँचाने के पक्ष में नहीं थे। क्या रस के साथ विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों के सम्बन्धित होने के कारण ही उन्होंने इस पक्ष से-न को छोड़ दिया ?

किन्तु जीवन के दृष्टिकोण -

'तदुदीणत्सु तु सर्व परमेश्वराख्यं प्रीत्यस्नग्धास्वकारेण न न विदितं
सत्वालोकात्प्रम्वं विसृजेत्तत्वास्ताम्' (उ० पु० ६७) इस पंक्ति को देखते से जीवन

की अन्वीक्षिका वह जानने के लिए प्रयुक्त होती है कि क्या आनन्दवर्मी ने सत्त्वातीत मूल्य में कुछ विषयक रसानुभूति या रसप्रक्रिया के विषय में कुछ कहा है ? क्या अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्मी के उस विषयक विवेचन को यहीं से लेकर जीवन और अभिनव भारतीय में प्रस्तुत किया है ? या फिर वह रसानुभूति और रसप्रक्रिया अभिनवगुप्त की केन है । किन्तु सत्त्वातीत मूल्य प्राप्त नहीं है, अतः इस विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहना सम्भव नहीं ।

किन्तु ध्वन्यालोक का अवलोकन करने से कुछ ऐसे कुछ रूप में वाक्य मिलते हैं किन्हीं देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्मी के उस विषयक सिद्धान्तों का ही मुख्यतः प्रसारित किया है । अतः उस के विषय में उनका मत यही था कि जो एक व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया ।

आनन्दवर्मी रसायनों के लिए अनुसन्धान को ही प्रमाण मानते हैं --

(१) वैकटिका एवं हि रत्नसत्त्वविदः, अनुसन्धान एवं हि काव्यानां रसज्ञाः
(ध्व० पु० ११६ :)

(२) रसज्ञान अनुसन्धानम् (ध्व० पु० ११६)

रस की प्रीति या अभिव्यक्ति ही स्वीकार करते हैं --

(१) यत्राव्यक्ति तत् , यत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुद्देशेनैव
प्रीति (ध्व० पु० ८२)

(२) य एवमुपनिबध्मानाः उक्तारौ रसाभिव्यक्तिहेतुः प्रीतिरिति (ध्व० पु० ८२)

(३) तस्मान्न तेषां बहिर्गतत्वं रसाभिव्यक्तौ (ध्व० पु० २३४)

उन वाक्यों से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्मी अनुसन्धान में ही रसाभिव्यक्ति मानते हैं । आनन्दवर्मी ने ध्वन्यालोक में रस का विवेचन कुछ रूप में ही यत्र यत्र किया है । यस्तुतः आनन्दवर्मी ने रसानुभूति एवं रसप्रक्रिया विषयक प्रश्न को इतना आवश्यक नहीं समझा कि उसका पूर्ण रूप से विवेचन किया जाय । सम्भवतः उनके वादीनिक प्रवृत्ति को साहित्य के क्षेत्र में लाना वांछनीय नहीं मानते थे । सम्भव है उद्ये मनःशास्त्र का विषय समझ कर छोड़ दिया हो ।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त -

अभिनवगुप्त ने अपने रससिद्धान्त की स्थापना के पूर्व मदुनायक, मदुहोत्तक एवं बीरहंजक वाणि वापायों के मतों को उपस्थित किया है। इन वापायों के स्वरचित ग्रन्थ तो अनुपलब्ध हैं किन्तु अभिनवगुप्त का 'छोपन' एवं 'माहती' टीका से इन वापायों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है। ये तीनों ही वापार्थ वागन्धर्वकी के परस्त्री हैं। इनमें से एक ध्वन्यालोक के टीकाकार मदुनायक ही हैं। और दो - मदुहोत्तक एवं बीरहंजक नाट्यशास्त्र के टीकाकार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वागन्धर्वकी के रस के सम्बन्ध में, व्यङ्ग्याव्यापार के विरोध में ही इन तीनों ने अपने अपने सिद्धान्त की स्थापना करने का प्रयत्न किया। वागन्धर्वकी ने छीप प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ कहे हैं - (१) वस्तु (२) वर्णनार एवं (३) रसादि। इन तीनों में से रसव्यङ्ग्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। अतः वागन्धर्वकी के इसी रसव्यङ्ग्य के विरोध में कोई उसे उत्पन्न (उपस्थित) मानता है, कोई अनुभव और कोई मौख्य। अतः ये सभी वापार्थ भरत के रस सूत्र की सीढ़ में वागन्धर्वकी द्वारा प्रतिपादित 'रस के व्यङ्ग्यत्व' का ही विरोध करते हैं। सभी व्यङ्ग्या के अधिकार को छीन रहे हैं, और विरोधी दावेदार बन रहे हैं।

वस्तुतः ऐसा ठगपर कहा जा चुका है वापार्थ वागन्धर्वकी ने ध्वन्यालोक में रस के अनुपस्थिति एवं प्रकृति पदा पर पुनः रूप से कुछ नहीं लिखा। किन्तु अभिनवगुप्त ने (ध्व० २।३ में) रसभाषादि का प्रकरण करते ही अवसर पाकर रस के विषय में हविस्तार विवेचन किया। उसे ही बाद में अभिनवमाहती में उन्होंने संक्षेप प्रदर्शित किया। अपने इसी रस-सिद्धान्त के कारण 'अभिनव' साहित्य-कर्म में समाप्त हैं।

छोपन में अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम मदुनायक के मत को रखा, तदनन्तर मदुहोत्तक एवं बीरहंजक के मत को। सम्पन्नः उन्होंने मदुनायक के मत को पसंद

१- छीप व प्रतीयो गोत्पत्तो नाभिव्यञ्ज्यो काव्येन रसः - छी० पृ० १६३

यहां मदुनायक 'व प्रतीयो' और 'नाभिव्यञ्ज्यो' से वागन्धर्वकी के ही सिद्धान्त का उल्लेख कर रहे हैं।

स्वच्छिन्न रहा हो क्योंकि मनुनायक ध्वन्यालोच के टीकाकार थे । जैसे अन्य स्थलों पर उनका मनुनायक वे साम्ब-वैशम्प्य ब्रह्मा रहता है वैसे ही रस के विषय में उनकी मनुनायक वे सात्तात् नौक-कौक होली और वे 'वाली' में उस प्रमाण टीकाकार तथा ध्वनि-विरोधी का उल्लेख कर उल्लेख की बातें होती हैं । फिर रस-प्रक्रिया के प्रसंग में रास-पुन के ऐसे व्याख्याकार भी उनकी स्मृति में आते हैं जिसका ध्वनिकार के रसध्वन्य वे प्रथमतः विरोध है । अतः उन बाहरी वाच्योपकार वाच्यार्थों का भी वहाँ विद्वान्मोहक करते हैं । ध्वनिकारही में , मनुनायक की संज्ञा का, नाट्यशास्त्र के टीकाकार होने के कारण पहले उल्लेख किया गया , वहाँ मनुनायक वाच्य के वाच्यार्थ होने के कारण वाच्य में स्थान पाते हैं । वही कारण दोनों टीकाकारों - लोचन और ध्वनिकारही में रस-विद्वान् के वाच्यार्थों के प्रतिपादन में कुल-मेर है । वहाँ 'लोचन' के अनुसार पुन अपनाया गया है ।

मनुनायक -

मनुनायक ने रास के रस पुन - 'विनायानुमाध्वनिकारिध्वनी-नाट्यनिध्वनिः' का पहले प्रतीति की दृष्टि से और उत्पत्त्यात् उसकी प्रक्रिया का अपने अनुसार निरूपण किया है । पहले यह विचार करते हैं कि रस की प्रतीति परमत् रूप से होती है या स्वतन्त्र रूप से । मनुनायक के विचार से दोनों बातों में से किसी को स्वीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि , रस को परमत् - अर्थात् अनुकार्य या अनुकृत में मानते हैं तो अनुभव एक तटस्थ व्यक्ति हो जाता है । और यदि स्वतन्त्र रूप से अर्थात् अनुभव में रस को मानते हैं, तब यह स्वीकार करना होता कि रस अनुभव में उत्पन्न होता है । किन्तु यह बात भी साधारणीकरण के अभाव में ठीक नहीं है । क्योंकि हीता - अनुभव या सामाजिक का विभाव नहीं है और रस का भी उत्पन्न होना तब विभाव से ही उत्पन्न होता । अनुभव के विषय में अब तक यह भाव है कि हीता राम की कन्या है तब तक यह हीता की राम विभवक रसि की कविता कैसे कर सकता है ? यदि साधारण

१- 'ननुक्त' मनुनायकेन - रसो यदा परमत्तया प्रतीयते तर्हि तटस्थत्वेन स्यात् ।

न च स्वतन्त्रत्वेन रागादिपरितमयात्काव्यादयो प्रतीयते । इत्यादि ली० पृ० १८०-१८२

कान्तात्म्य की भावना यहाँ मानती है तब भी जो सीधा बापि में पुण्य युधि है वह किसी प्रकार सङ्कल्प की रति का अङ्गोप नहीं होने देती । दूसरे यह भी नहीं कि सङ्कल्प उत्पन्न अपनी अपनी को स्मरण करने उन्मत्त है । अतः बाधारणीकरण की बात को नहीं स्वीकार किया जाय तो - राम बापि अतीतिक पाशों के सङ्कल्प बापि किशोरों का बाधारणीकरण कैसे हो जाता है ? और सङ्कल्प में रस-प्रतीति कैसे सम्भव होती है ?

राम के उत्साह बापि के स्मरण को यदि बाधारणीकरण में सहायक मानते हैं तब भी पूर्व अनुभव के न होने के कारण स्मरण सम्भव नहीं है और काव्यकल्प उन्मत्त है यदि प्रतीति मानते हैं तब तब में प्रत्यक्ष नायक नायिका को देख कर भी प्रेम्हा की रस उत्पन्न होना चाहिए । सङ्कल्प बाधारणीकरण में रस निष्पत्ति मानने पर एक समस्या यह भी है कि कल्प रस के उत्पन्न होने पर दुःखी होने के कारण किसी प्रकार पुनः कल्प-रस की प्रेम्हा में प्रवृत्त न होंगे । इन दोनो कारणों से सङ्कल्पों में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । उन्नी प्रकार उनमें रस की अविश्वसित भी नहीं होती । क्योंकि प्रेम्हा के स्वाधीनाय 'रसादि' को वाचना या श्रवण के रूप में सङ्कल्पों के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है उसकी अविश्वसित में , विषय के अन्त में , अनुभव के अन्त में , - तत्त्वतः की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी यह एक दोष है, दूसरा दोष यह है कि अविश्वसित को परान्त मानते हैं या स्वगत , यह कल्पना तब भी रस जाता है ।

इस प्रकार अनायक काव्य में रस की प्रतीति , उत्पत्ति एवं अविश्वसित इन तीनों विधानों का सम्बन्ध करते हुए अपने भुक्तिवाद की स्थापना करते हुए कहते हैं -

अन्वय अर्थों से विवक्षित होने के कारण काव्यात्मक अन्वय के अविश्वसित, भावतत्त्व और भावतत्त्व यह तीन अङ्गुली व्यापार हैं । प्रथम अविश्वसित व्यापार है , दूसरा रसादि विषयक और तीसरा सङ्कल्पविषयक रस-व्यापार है ।

१- ५० उ० पु० १८२-१८३

२- ५० उ० पु० १८२-१८३

भावकत्व व्यापार का व्यवस्थापन के लक्ष्यवश विभागादि का सामारणीकरण कर देता है। इस के माफ़ि होने पर संवत्स की भावकत्व व्यापार है इस का भाव होता है। यह भाव अनुभव की स्मरण से विस्तार, प्रतिविस्तार विस्तार, स्वस्वभावविशेषानुविष्टकत्व, चित्तस्वभाव, निद्रुति या वाग्व्यवहार परवृत्तस्वभाव-संबंधर एवं विमान्ति या विनिश्चित्यव्यवहार स्थिति रूप है।

मदुलोल्लस -

समन्तर, मदुलोल्लस का मत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनके मत में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भावों के संयोग से कृत्यः स्वाधीनत्व परिपुष्टावस्था को प्राप्त करते, अनुकार्य रामादि में ही इस उत्पन्न होता है।

श्रीलंका, मदुलोल्लस के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि चित्तवृत्ति के प्रवाहक होने के कारण एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष नहीं बन सकता। दूसरे यह कि चित्तवृत्ति, जो कि और जीव आदि का कृत्य से परिपोष नहीं होता, वह अनुकार्य में इस नहीं हो सकता।

श्रीलंका -

श्रीलंका अनुकार्य में इस को मानते हैं। अभिनवगुप्त ने जीवन में श्रीलंका के मत का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है। वे कहते हैं -

अभिमत व्यवस्था वाले स्वाधी को उद्देश्य करते, संयोग प्राप्त करते हुए विभावानुभावव्यभिचारिभावों के द्वारा अनुकार्य मट को वाच्य बनाने को स्वाधी की वाच्यता प्रतीति है यही 'रस' है। सामाजिक अनुकार्य मट को देख कर अनुमान द्वारा अनुकार्य रामादि से इसे अभिन्न मान लेता है तथा तर्क में सामाजिक रसा-स्वाध प्राप्त करता है। यह प्रकार लंका के अनुसार रस मट के वाच्य है अनुकार्य

१- अभिनवगुप्त ने जीवन में मदुलोल्लस का नामोल्लेख नहीं किया है। अभिनव-गुप्त की रस काव्यप्रकाश के आधार पर यह मत मदुलोल्लस का ही प्रतीत होता है।

२- पृ० ३०० पृ० १८४ ।

जादि के नहीं ।^१

छोपन में जीहंजुक के मत के अनुसार अभिनवकुमार ने अपने गु , लारे , कैपिपु , लारे , जयादि द्वारा अन्य जाचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है किन्तु ये मत किन जाचार्यों के हैं, इस विषय में कुछ नहीं कहा ।

अभिनवकुमार -

अन्त में, अभिनवकुमार ने अपने अभिप्रायविज्ञापन की स्थापना की है । अभिनवकुमार ने अपने रस-सिद्धान्त के लिए कुछ तत्त्व मद्भाग्य से भी लिए हैं । यद्यपि उन्होंने मद्भाग्य के ज्ञान नाकल्य और मोक्षकल्य दो रस जाचार्यों की कल्पना नहीं की वरन् अभिप्राय तथा उदाहरण से अतिरिक्त व्यंजना नामक सूचीय की धानन्वयकी द्वारा प्रतिपादित व्यंजना-पुष्टि की ही रस प्रीति के लिए उद्धृत माना ।

अभिनवकुमार का मत है कि रस प्रीतिमान ही होते हैं तथा विविध प्रीति ही रसा है । यह नाट्य प्रीति , लौकिक अनुमान अन्य प्रीति से विभक्त प्रीति है ।

सामाजिकता स्थायीभाव की ही अभिनव ने रसानुप्राति का निमित्त बताया है । संस्कार रूप में रसि जादि स्थायीभाव सामाजिक की आत्मा में निहित रहते हैं । यह जाचारणीय रूप से उपस्थित किया जादि सामग्री से अभिव्यक्त हो जाती है । और तत्त्वधीभाव के कारण वेगान्तर अन्तर्गत शुद्ध प्रसास्वाद के कुछ परमाणव्य रूप में अनुभूत होते हैं ।

यह द्वारा कार्य अभिनवकुमार का है किन्होंने मद्भाग्य, मद्भोक्तृ और जीहंजुक के मतों को एक करके, रस के रसज्ञ के परिप्रेक्ष्य में पूर्विका के रूप में उनके मतों को उपस्थित किया, उनका सम्यक् किया और धानन्वयकी के रसविषयक सिद्धान्तों की भी कुछ रूप में व्याख्याओं में पिछरे पड़े हैं उन्हें एक किया एवं उन्हें वादीयिक परिप्रेक्ष्य में बांध कर पुनर्निर्वा ज्ञाते के रंग में रंग दिया और उस पर अपनी मुहर लगा दी ।

१- लौ० पु० १८५-१८६

२- लौ० पु० १८६

३- लौ० पु० १८७

अभिनवमुक्त का रस-सिद्धान्त तब तब में नाट्यशास्त्र के आधारों पर द्वा-
रा वास्तविक रूप में आनन्दवर्मी द्वारा एवं भाव्य रूप में अभिनवमुक्त द्वारा प्रतिपादित
है ।

भावव्यंग्य -

रस में कितने भावों का एक साथ अनुभव होता है उसकी
मात्रा बराबर रहती है, अर्थात् उसमें से किसी भाव का अनुभव किसी भी अन्य भाव
से अधिक नहीं होता और न किसी भाव का अन्य भाव से कम । वहाँ सभी भाव
समान मात्रा में अनुभव में आते हैं , किन्तु जब इन भावों में से किसी संवारी भाव
की मात्रा बढ़ जाती है और उसका अनुभव अधिक मात्रा में होने लगता है, वही
अनुभव स्वात्म्य रूप से अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है । वह अनुभव रसात्मक
अनुभव न रह कर , भावात्मक अनुभव हो जाता है । और इसे एक विशिष्ट नाम
दिया जाता है - 'भावव्यंग्य' ।

भावव्यंग्य का उदाहरण देते हुए अभिनवमुक्त कहते हैं -

‘तत्र यदा कश्चिदुक्तिरावस्थां प्रतिपन्ना अभिपारी वस्तुकारादिप्रयोजको
भवति, तदा भावव्यंग्यः ।’^१

यहाँ अभिनवमुक्त को भावव्यंग्य के स्थान पर भावव्यंग्य प्रयुक्त करना
बाधित था । क्योंकि आनन्दवर्मी ने स्पष्ट रूप से कह दिया है - ‘मुख्य रूप से
प्रकाशमान ‘व्यंग्य-वर्ण’ ध्वनि का वात्सा है तथा द्वितीय रूप से भावमान ध्वनि
का वात्सा रसादि (व्यंग्यादी) (रसादि में रस, भाव, रसाभाव भावाभाव,

भावप्रकृत, भावस्थानिक आदि) अवलम्बन रूप से व्यवस्थित हैं ।’^२ यहाँ पर ‘रसादि-व्यङ्ग्य’
में प्रयुक्त ‘आदि’ पद के अन्तर्गत ‘भाव’ की गणना की गई है। अतः जिस प्रकार रसध्वनि
की अपेक्षा रसव्यङ्ग्य पद प्रयोग उचित है उसी प्रकार भावध्वनि की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य पद का
वापस - प्रयोग अधिक उपयुक्त है।^३

भावव्यंग्य - रस-व्यंग्य में जो केन्द्रीय भाव होता है उसके साथ यदि किसी
की प्रकाश के अतिरिक्त का अनुभव सामाजिक हो जाता है तो वे ही रसाभाव
कहलाने लगते हैं । जैसे कामी रावण की सीता के प्रति प्रेमीति । अभिनवमुक्त
ने भावाभाव का प्रतिपादन नहीं किया है ।

भावप्रज्ञा वादि -

भावप्रज्ञा में किसी भी व्यवहारिभाव की निराकरण की स्थिति विज्ञा की जाती है। भावप्रज्ञा में किसी भाव की उदीक्यान्ता का चित्रण रहता है, भावप्रज्ञा में दो भावों की सम्बन्धस्थिति विज्ञा रहती है। भावप्रज्ञा में अनेक भावों के कुलः इच्छित होते पडे जाने का वर्णन रहता है।

इस प्रकार ज्ञानन्वयकी ने रक्षावादि के विषय में कुछ भी विमानपूर्वक नहीं कहा है। किन्तु अभिनवगुप्त ने इन सब का व्याख्यान किया है।

असंख्यकृत्यार्थध्वनि में अर्थकार -

(ध्व० २।१६ में) ज्ञानन्वयकी - ध्वनि में रक्षाशिल्प अर्थकार का उप-पादन करते हुए कहते हैं - ध्वनि के अन्तर्गत वही अर्थकार माना गया है जिसका प्रयोग रक्षाशिल्प रूप से किया गया हो और जो बिना किसी कर्म के प्राप्त हो पाय।

किन्तु अभिनवगुप्त इस कारिका की व्याख्या अपने हाँ से करते हैं। सर्वप्रथम रक्षाशिल्प अर्थकारों के विषय में कहते हैं -

‘रक्षकत्वभावेन विभाव्यादिदृष्टान्तेन कुर्वीतन्मान्तरीयकस्यवाक्यावापयति स स्वावार्थकारो रक्षामार्थे नान्यः’।

ज्ञानन्वयकी तो रक्षाशिल्प अर्थकारों को ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत मान रहे हैं किन्तु अभिनवगुप्त रक्षाशिल्प अर्थकारों को रक्ष का मार्ग बता रहे हैं। ‘रक्ष’ तो ध्वनि काव्य का एक ही भाग है। अभिनवगुप्त ‘ध्वनि’ पद के स्थान पर ‘रक्ष’ पद का प्रयोग अविविधाधी सर्व में नहीं करता है कर लेते हैं, जो अनुपयुक्त है।

उसके बाद ‘तेन वीरापुत्रादिरर्थध्वनि’ से लेकर ‘इति सामान्येन वक्ष्यति’ तक अभिनव का व्याख्यान प्रस्तुत कारिका से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अभिनव गुप्त की इन पंक्तियों का सम्बन्ध ध्व० २।१५ से अवश्य था। जब इस कारिका का व्याख्यान पूरा हो गया सब वहाँ फिर उसी बात निष्प्रतीक करना, प्रश्न के समीप प्रतिकूल है।

असंख्यकृत्यार्थध्वनि -

उसके दो पैर हैं -

१- अव्यवस्थितपुच्छः.

२- अव्यवस्थितपुच्छः ।

अव्यवस्थितपुच्छः अयम् नैव व्यंग्यं कर्तुं दोषप्रकार के होती हैं - वस्तुव्यंग्य और अव्यवस्थितपुच्छः । कुछ लोगों का मत है कि आत्मव्यवस्थित अव्यवस्थितपुच्छः अयम् नैव व्यंग्यं कर्तुं दोषप्रकार के होती हैं, वस्तुव्यंग्य नहीं । उनके अनुसार वहाँ वस्तु का प्रकाशन होता है - वहाँ अव्यवस्थितपुच्छः ही होता है ।

वहाँ प्रश्न उठता है कि अयम् अव्यवस्थितपुच्छः वस्तुव्यंग्य को क्यों नहीं मानते ?

आत्मव्यवस्थित अव्यवस्थितपुच्छः को स्पष्ट स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि हमें किसी प्रकार की व्यापत्ति की सम्भावना नहीं किन्तु वस्तु-व्यंग्य को मान लेने पर स्पष्ट विषयक अनेक विवृतिव्यपत्ति उपस्थित होने की सम्भावना है । अतः वह दवे स्वर में इस प्रकार कहते हैं -

‘वस्मादव्यवस्थितं न वस्तुमात्रं’ इत्यादि ।

अयम् अव्यवस्थितपुच्छः अयम् नैव व्यंग्यं कर्तुं दोषप्रकार के होती हैं । किन्तु वहाँ भी उक्त होती है कि यदि आत्मव्यवस्थित अव्यवस्थितपुच्छः के साथ वस्तु व्यंग्य भी स्वीकृत या तो ‘वस्मादव्यवस्थितं’ के साथ ‘व’ या ‘वयि’ कुछ उगाते । किन्तु आत्मव्यवस्थित को तो केवल अव्यवस्थित-व्यंग्य ही अव्यवस्थितपुच्छः में स्वीकृत है ।

आत्मव्यवस्थित के परस्पर व्यापत्ति ने अव्यवस्थितपुच्छः अयम् नैव व्यंग्यं कर्तुं दोषप्रकार के होती हैं ।

१- व्यापत्तिः स्यादव्यवस्थितः अव्यवस्थितपुच्छः प्रकाशः ।

व्यवस्थितपुच्छः अव्यवस्थितपुच्छः स्यादव्यवस्थितपुच्छः स्यादव्यवस्थितपुच्छः ॥ अ० २।२२

वस्मादव्यवस्थितं न वस्तुमात्रं वस्मिन् काव्ये अव्यवस्थितपुच्छः प्रकाशः स्यादव्यवस्थितपुच्छः अयम् नैव व्यंग्यं कर्तुं दोषप्रकार के होती हैं । वस्तुव्यंग्य न अव्यवस्थितपुच्छः प्रकाशनाने स्पष्टः । अ० पु० २३५

२- वस्तुव्यवस्थितपुच्छः अव्यवस्थितपुच्छः प्रकाशः स्यादव्यवस्थितपुच्छः स्यादव्यवस्थितपुच्छः ॥ अ० पु० २३५

किन्तु उन्हें केवल प्राकरणिक तर्क ही अभिव्यक्त स्वीकार्य है। अप्राकरणिक नहीं।
अप्राकरणिक को तो वह 'प्रकाशमान' स्वीकार करते हैं। और कहीं यह बात प्रकट
न हो कि - वाक्य अन्वय तर्क का अभिव्यक्त करने वाला है स्पष्टि करते हैं -
अप्राकरणिक अन्वितर के उन्मूलन द्वारा प्रकाशित होने पर अप्राकरणिक और
प्राकरणिक तर्क में उपमानोपमेयभाव की उत्पत्ति करनी चाहिए।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आनन्दकवी के मत में 'अन्वितर -
मुमुक्षुत्व' इत्यादि में 'महाकाष्ठ' के प्रीत्यकाष्ठ विषयक को प्राकरणिक तर्क निरूप
रहा है वह अभिव्यक्त है। और जो दूसरा तर्क माना जा रहा है वह प्रकाशमान
(अव्यक्तमान) है।

अर्थवत्तुपुनरुत्पत्तिव्युत्पत्तिव्युत्पत्ति -

आनन्दकवी ने इसका उदाहरण कुमारव्यव (६।२५४) से दिया है -^२

एवं वाचिनि देवयौ पारयौ पितुरवौमुनी ।

तीतात्मकप्राणि गणवामास पावीती ॥

यहां वाच्यार्थ विवक्षित है तथा वहीं वाच्यार्थ संतुष्ट्युत्पत्तिव्युत्पत्ति की प्रतीति
करता है। जब तर्क वाक्य तर्क का बोध होता है कि पावीती की अन्वितर गणना
करने लगे तो तर्क पूर्व प्रत्यय का स्मरण आता है कि मनकी पावीती ने त्रिंश की
के लिए तपस्या की थी। अतः जब नारद की द्वारा उक्त कर विवाह के सम्वेष्ट
को पुनः कर पितृ के लीन में बैठी हुई पावीती की मुक्त नीचे करके हाथ में स्थित
अन्वितरगणना 'उन्वामास' के कारण करने लगे। यहां उन्वामास रूप वस्तुव्युत्पत्ति
है। वाक्य-तर्क के अन्वितर है अन्वितर - उन्वा रूप व्यभिचारिभाव अभिव्यक्त
हो रहा है। इस प्रकार व्युत्पत्ति-तर्क की प्रतीति में पुनः के संतुष्टित होने के कारण
यहां 'अर्थवत्तुपुनरुत्पत्तिव्युत्पत्तिव्युत्पत्ति' है।

यहां पर यह उक्त हो सकती है कि - जब व्यभिचारिभाव प्रमाण रूप
से व्यक्त होता है तब वह नाव्युत्पत्ति का स्मरण होता है। और नाव्युत्पत्ति को
अन्वितरगणना व्युत्पत्ति के अन्तर्गत माना गया है। परन्तु यहां पर व्यभिचारिभाव
प्रमाण रूप से व्यक्त हो रहा है, फिर भी इसे अन्वितरगणना कहा गया है। इसका
कारण है ?

छोपन का व्यवधानपूर्वक अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थल पर छेद का तथित्व भी अस्वीकृत नहीं। इसी अभिप्राय का विवेकानन्दवर्मा के ही सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है -

आनन्दवर्मा ने (अध० २।३ में) नाभ की गणना अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ के अन्तर्गत की है किन्तु यहाँ पर अभिवारिणाभ के पुनः प्रकाशित होने के कारण इसे अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ अर्थ का विषय नहीं मानते इसीलिए अभिप्राय करते हैं कि यद्यपि इस भाषादि सर्व प्रतीयमान ही होती हैं, वाच्य नहीं। तथापि स्व- (रक्षावादि) अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ का विषय नहीं होते, क्योंकि अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ ही होते हैं।^१ जैसे यहाँ पर - पाक्षी के उच्चारण अभिवारिणाभ की प्रीति में। यदि अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ गणना तथा अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ अनुभावों द्वारा उच्चारण नाभ की कटिति प्रीति हो जाती, तब तो यह अक्षर अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ के कारण नाभव्यर्थ का विषय बन जाता। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, क्योंकि अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ गणना तथा अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ आवश्यक नहीं है केवल उच्चारण के ही अनुभाव नहीं हैं। वरन् अभिप्राय का अर्थ है कि ये - अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ गणना तथा अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ तो कुमारियों में उच्चारण से अतिरिक्त कारणान्तर में भी हो सकते हैं। अतः इनके द्वारा उच्चारण की कटिति प्रीति नहीं होती। अतः पाक्षी के द्वारा अनु को पर रूप में प्रकाश करने हेतु की गई तपस्या तथा नारदपुत्र विवाहादि प्रसंग के ज्ञान के अन्तर ही उच्चारण वाले अर्थ का ज्ञान होता है। इस व्यवधान के कारण ही यहाँ अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ है।^२

उच्चारण रूप अभिवारिणाभ के पञ्चोपनिषद् के अन्तर ही इस की प्रीति

१- (१) यद्यपि रक्षावादिर्था अभिप्राय एव भवति न वाच्यः कदापिदपि, तथापि न सर्वोऽक्षरव्युत्पत्त्यर्थ विषयः (छो० पृ० २४८)

(२) यो रक्षादिर्थाः स रक्षाप्रसंगे अभिवारिणाभ न तत्प्रसंगः एव सः। अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ हि तस्य कदापि न भवति। तथा वाच्यव्युत्पत्त्यर्थानुस्मान्प्रत्ययैवैवैति वक्ष्यते।

२- छा० छो० पृ० २४६ - २४७ । (छो० पृ० १७४)

३- रक्षाव्युत्पत्त्यर्थ द्वारा एव अभिवारिणाभके पञ्चोपनिषद् माने जातीति तदपेक्षायाः- अक्षरव्युत्पत्त्यर्थ/उच्चारणपेक्षायाः तु सत्र अक्षरव्युत्पत्त्यर्थम् । (छो० पृ० २४०)

होती है। अतः उज्वा तथा रस प्रतीति के मध्य तो कम उचित न होने के कारण रस की दृष्टि से हमें भी अल्पप्रमत्ता मानी जा सकती है, ऐसा ठोकरा का मत है किन्तु कमप्रमत्तता, अप्रमत्तता तथा उज्वा का मध्यवर्ती कम संभव है। मूल्य एकारण उज्वा में विद्यमान नहीं पाता (अर्थात् मूल्य को केवल ज्ञानन्व नहीं मिलता केवल अल्पप्रमत्तता में उज्वा की प्रतीति से होता) वरन् पूर्व कृतान्त का स्मरण करना पड़ता है तब उज्वा भाव की प्रतीति होती है।

महो पर बभिनगुप्त स्पष्ट रूप से उज्वा भाव रूप वस्तुव्यंग्य कहते हैं -

‘समयैकतयुग्मस्य द्वितीयो वस्तुमात्रस्य व्यङ्गीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः’^१

अर्थात् ज्ञानन्वयकी ने उज्वा भाव की स्पष्ट उद्घों में वस्तुव्यंग्य नहीं कहा है। ज्ञानन्वयकी केवल ज्ञान ही कहते हैं -

(१) अत्र हि लीलाकमलप्रमत्ततां उपलब्धीकृतस्वरूपं उज्ज्वलपारं विनोदयान्तरं व्यभिचारिभावकताप्राप्तं प्रकाशयति।

(२) इह तु सामर्थ्यादिष्वव्यभिचारिमुक्तं रसप्रतीतिः।^२

अर्थैकतयुग्मस्य अनुस्वानोक्त व्यंग्य के दो -

अर्थैकतयुग्मवानुस्वानोक्त व्यंग्य ध्वनि में दो व्यङ्ग्य कथे कहा गया है उसके दो प्रकार हैं --

१- कवि की अथवा कविनिबद्धता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न

२- स्वतःस्पष्टी

ज्ञानन्वयकी ने इनके दो प्रकार स्थिर किए। किन्तु बभिनगुप्त ने कविकृत और कविनिबद्धताकृत प्रौढ़ उक्ति को पुष्प पुष्प मान कर इनके तीन प्रकार कर दिए हैं।

उपलब्ध दो भागों में विभक्त व्यङ्ग्य कथे पुनः पर और वाक्य की दो विभाक्त रेखाओं में विभक्त हो जाते हैं। एक प्रकार इनके चार वेद हो जाते हैं।

१- ली० पृ० २४०

२- ध्व० पृ० २४८

३- ध्व० पृ० २४६

४- ध्व० २४१ और उसकी दृष्टि पृ० २४४

५- तैत्तिरीयों के दो वेद निबन्ध (ली० पृ० २४४) ६- ५० ध्व० २४१ की दृष्टि।

अर्थवत्पुद्गल के अङ्कार व्यंग्य की दृष्टि से दो भेद करते हैं । वे दोनों ही व्यंग्य भेद पर निर्भीक हैं । इनका एक व्यंग्य होता है - वस्तु और दूसरा अङ्कार^१ । इस प्रकार अर्थवत्पुद्गल के दो भेद और बने -

१- वस्तु प्रकार्य अङ्कार व्यंग्य

२- अङ्कार प्रकार्य अङ्कार व्यंग्य

आनन्दवर्मी अङ्कारप्रकार्य अङ्कार व्यंग्य के प्रश्न में कहते हैं -

‘सत्त्वैवादिभूतकारकातिष्ठबोलीनां प्रकाशमानत्वं प्रवर्तितमित्यङ्कारान्तर-
स्याङ्कारान्तरे व्यंग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ।’

इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं -

‘अङ्कारान्तरस्येति । यत्राङ्कारोऽप्यङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणाङ्कारो ध्वन्यत इति भिन्नविधमवभाष्यमिति वात्स्येणाङ्कारान्तरस्यो वृत्तिभूता प्रसूतौ न तु प्रसूतोपयोगी, न ह्यङ्कारेणाङ्कारो ध्वन्यत इति प्रसूतमवः, अर्थवत्पुद्गलै ध्वनौ वस्तुवत्वाङ्कारोऽपि व्यंग्य इत्येतावताः प्रसूतत्वात् ।’ इत्यादि ।

आनन्दवर्मी ने तो वस्तुप्रकार्य अङ्कार व्यंग्य और अङ्कारप्रकार्य अङ्कार व्यंग्य को पुष्प पुष्प माना है - कैसा कभी ऊपर कहा जा चुका है । और ‘अङ्कारप्रकार्य अङ्कार व्यंग्य’ के प्रश्न में कहते हैं कि अङ्कारान्तर का अङ्कारान्तर में व्यंग्य होना यत्नप्रतिपाद्य नहीं है । किन्तु अभिनवगुप्त ‘अङ्कारप्रकार्य अङ्कार व्यंग्य’ के साथ ‘वस्तुप्रकार्य अङ्कार व्यंग्य’ को भिन्न करते हैं और उसमें अवभाष्य बोध बता रहे हैं । जो सर्वथा अर्थात्त है । आनन्दवर्मी का सिद्धान्त सर्वथा सरल एवं सजु है । उसमें कहीं भी उत्कर्ष या अस्पष्टता नहीं । किन्तु अभिनवगुप्त, आनन्दवर्मी के सीधे सरल सिद्धान्त को खाना बखि उलफा देते हैं कि सामारण अध्येता आनन्द-वर्मी के सिद्धान्त को गूँथ कर उन्हीं की बातों में उलफा रह जाता है ।

१- (१) अमित्येव व्यंग्यतायामपि, अङ्काराणां द्वयी मतिः - कदापि वस्तुमात्रेण व्यंग्यत्वं कदापि अङ्कारेण । (ध्व० पृ० २७६)

(२) ध्व० पृ० २१२६ और २१३० की दृष्टि भी ।

२- ध्व० पृ० २५८

३- उ० पृ० २५८

४- ध्व० पृ० की टिप्पणी संख्या १ ।

उपस्थित अनुस्वानोपसर्गव्यंघ्र्य ध्वनि^{के} के अतिरिक्त 'अनुस्वानोपस-
र्गव्यंघ्र्य ध्वनि' कभी कभी प्रबन्ध में भी नाशित होता है ।^१ किन्तु अमिनकमुक्त
प्रबन्ध में स्फोटाद्य रसादि की ही व्यंजना मानते हैं ।^२

प्रबन्ध के व्यंजकत्व का निबन्धन -

आनन्दवर्षीन का मत है कि प्रबन्ध में विवक्षितान्धपरवाच्यध्वनि के दोनों
ही नेद - अलङ्कारकृतव्यंघ्र्य और अलङ्कारकृतव्यंघ्र्य (वा अनुस्वानोपसर्गव्यंघ्र्य) नाशित
होते हैं । सर्वप्रथम अलङ्कारकृतव्यंघ्र्यध्वनि का चोत्तन बताते हुए कहते हैं -

उदात्तानामलङ्कारकृतव्यंघ्र्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादी
प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव । (ध्व० पृ० ३२८)

इस अलङ्कारकृतव्यंघ्र्यध्वनि का निबन्धन, प्रबन्ध में किस प्रकार करना
चाहिए - इसका प्रतिपादन तृतीय अधोत में १०वीं कारिका से लेकर १४वीं
कारिका तक किया गया है ।

तदनन्तर , प्रबन्धों में, विवक्षितान्धपरवाच्यध्वनि का दुहरा प्रमेद भी
नाशित होता है - इसका प्रतिपादन करते हैं -

विवक्षितान्धपरवाच्यध्वनि के अनुरणनरूपव्यंघ्र्यध्वनि के जो दो प्रमेद
हैं - उच्चशक्तिपूठक और अर्धशक्तिपूठक वह भी किन्हीं प्रबन्धों में चोत्तित होते
हैं । जैसे - मधुमक्षिकाज में पांचवन्ध की उक्तियों में क्यवा जैसे- विषमवाण-
ठीठा में, कामदेव के सत्वर के स्यामन के प्रसंग में । और जैसे - महाभारत में
मुकुटोमायुसंवाय आदि प्रसंग में ।^५

१- अनुस्वानोपसर्गात्मापि प्रमेदो य उदाहृतः ।

ध्वनैरस्य प्रबन्धेषु नास्तीति केचुचित् ॥ ध्व० ३१२५

२- प्रबन्धेन क्वापि अनुरणनरूपव्यंघ्र्यो ध्वनिः साक्षाद्व्यज्यते य तु रसादिध्वनौ
परिवर्त्यतीति । उ० पृ० ३४५

३- ध्व० पृ० ३२८

४- अस्य विवक्षितान्धपरवाच्यस्य ध्वनौ अनुरणनरूपव्यंघ्र्योऽपि यः प्रमेद उदाहृतो
त्रिप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केचुचिदयोतते । ध्व० पृ० ३४५

५- ध्व० पृ० ३४५ - ३४६ ।

उपस्थापित पंक्तियों में प्रतिपादित - प्रश्नों में अनुत्पत्तीपर्याय्य ध्वनि के चोतन की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं -

‘प्रश्न में न केवल साक्षात् रसव्यंग्य होता है बल्कि परम्परा से भी रसव्यंग्य होता है, - यही प्रवर्द्धित करने के लिए, ‘अनुत्पत्तीपर्याय्य ध्वनि प्रमेय - य उदाहृतः’ इत्यादि तृतीय उपाधि में १५ वीं कारिका का उपक्रम किया गया है। और वृत्ति नाम और कारिका नाम की संज्ञा लगाने का निर्देश करते हैं - कि ३१२५ में प्रश्नों में संक्षेपक्रम व्यंग्यध्वनि के चोतन की बात कही गई है, उसकी ध्व० ३१२ में कथित -- ‘चोत्पत्तीऽसंक्षेपक्रमः कथयितुं’ से संज्ञा है। और वृत्तिनाम के ‘वत्स - विवक्षितात्पर्याय्य..... प्रश्नान्तेषु केचुचिद्व्योतते’ में निम्न अर्थ है -- ‘रसादिध्वनैः प्रकृतस्य भावो व्यङ्ग्यतयेति हेतुः’। इस प्रकार अभिनव गुप्त ने कारिका और वृत्ति दोनों की संज्ञा लगाने का निर्देश किया है।

तदनन्तर अपने कथन का सार बताते हैं कि - ‘बात यह कही गई - प्रश्न से कहीं अनुत्पत्तीपर्याय्य ध्वनि साक्षात् व्यङ्ग्य होती है, वह रसादि में पर्यवर्तित होती है।’ और, क्योंकि ध्व० ३१२५ कारिका के पूर्व ध्व० ३१२४ में असंक्षेपक्रम-व्यंग्यध्वनि का विवेकन किया गया है तथा ध्व० ३१२५ के बाद ध्व० ३१२६ में भी असंक्षेपक्रमव्यंग्यध्वनि का विवेकन किया गया है। अतः अभिनवगुप्त की यह अर्थगत उन रसा है कि केवल बीच (ध्व० ३१२५) में संक्षेपक्रमव्यंग्य का विवेकन हो गया ? इसी पर यह कहते हैं -

यदि स्पष्ट रूप से व्याख्यान किया जाय तो पूर्वोक्त संक्षेपक्रम-विषयक ग्रन्थ के बीच में यह संक्षेपक्रमविषयक ग्रन्थ अवश्य होगा और पांचव्या

१- न केवल प्रश्नान्तेन साक्षात् व्यंग्यो रसो यावत्पारम्पर्येणापीति वक्ष्यितुमुपक्रमो
स्मिेति । अनुत्पत्तीपर्याय्यः - उच्चप्रतिमुक्तोऽप्युक्तिमुत्तरव, यो ध्वनेः प्रमेय
उदाहृतः सः केचुचित्प्रश्नान्तेषु निमित्तभूतेषु व्यङ्ग्येषु कतु व्यङ्ग्यतया स्थितः सन्।
वक्ष्येति रसादिध्वनैः प्रकृतस्य भावो व्यङ्ग्यतयेति हेतुः । वृत्तिप्रश्नोऽप्येवमेव
योज्यः । अथ वानुत्पत्तीपर्याय्यः उदाहरित प्रमेय उदाहृतो यः प्रश्नान्तेषु भावो वक्ष्यते।
‘चोत्पत्तीऽसंक्षेपक्रमः कथयितुं’ इत्युत्तररत्नोक्तं कारिकाप्रत्ययोः संज्ञा ।
इत्युक्तं भवति - प्रश्नान्तेन कदापिदनुत्पत्तीपर्याय्यो ध्वनिः साक्षात् व्यङ्ग्यतो स
तु रसादिध्वनौ पर्यवर्ततीति । - लो० पृ० ३४५

की उक्ति आदि का नीरस्तव कहा जाने लगा ।^१

इसके बाद अभिनवगुप्त - 'कठं स्थित्वा' इत्यादि श्लोक में किसे जानन्व-
यकी ने संतुल्यक्रमव्यंग्य में व्यतिथिमुक्त ने के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है, उसमें
ज्ञान्त रस बताते हैं ।

क्रीडा -

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त व्याख्या में कुछ तथ्य अवश्य हैं -

१- प्रथम में न केवल साक्षात् कस्तूर वरन् परम्परा से रसव्यंग्य की बात ।

२- प्रथम में कहीं अपुराणनरमव्यंग्य के साक्षात् व्यंजित होने पर रसादि में
उसका पर्यवसान ।

३- 'कठं स्थित्वा' इत्यादि श्लोक में - किसे जानन्वयकी ने संतुल्यक्रमव्यंग्य में
व्यतिथिमुक्त ने के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है, उसमें अभिनवगुप्त का ज्ञान्त रस
निर्दिष्ट ।

४- पुनरितर सम्बन्ध में अतुल्यक्रमविषयक विवेचन के मध्य संतुल्यक्रमव्यंग्य के विवेचन
की उत्पत्ति ।

उपर्युक्त चारों तथ्यों का विश्लेषण -

१- अभिनवगुप्त ने जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात सुनायी है, वह उनकी
अपनी नहीं सुन है । किन्तु परम्परा से रसव्यंग्य की बात सुन लटकी है । क्योंकि
रसक्रीडिति में कृत् संज्ञित नहीं होता, इसीलिए इसमें अतुल्यक्रमव्यंग्य माना
गया है । और इसी कारण जानन्वयकी ने रसव्यंग्य की असंतुल्यक्रम व्यंग्यध्वनि
के जन्मनी कहा है। यदि रसक्रीडिति में विरुद्ध हो गया, उसमें कृत् संज्ञित हो
गया, तब फिर वह कैसे असंतुल्यक्रमव्यंग्यध्वनि हो जाए ना । इसीलिए जानन्व-
यकी ने ध्वनि के नेत्र प्रमेयों का विभाजन स्पष्ट रूप से कर दिया है ।

१- यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते तदा मुन्यस्य पुनरितरस्यातुल्यक्रमविषयस्य मध्ये
क्रमोऽप्यसंज्ञतः स्यात्, नीरस्तवं च पवित्रव्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्युक्तम् ।

छा० पु० ४४५

२- स चाभिप्रायी व्यक्तः ज्ञान्तरसः एव परिनिष्ठिततां प्राप्नोति । छा० पु० ४४७

- संक्षेपव्यंग्य के अन्तर्गत - रसादिव्यंग्य और संक्षेपव्यंग्य के अन्तर्गत - केवल वस्तु और अङ्गार व्यंग्य को कहा है । अतः संक्षेपव्यंग्य के अन्तर्गत परम्परा से रसव्यंग्य की बात कैसे खिड़ होनी ? यह एक बटिठ प्रश्न है ।

सम्मतः अभिनवगुप्त ने जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात सुनायी है, उसके मुँह में पूर्ण प्रतिपादित - एवं वादिनी देवकी स्तयादि उदाहरण हैं। जिसे आनन्दवर्मी ने संक्षेपव्यंग्यव्यंग्य के लिए उदाहरण किया है उसने उम्मा रूप वस्तुव्यंग्य है किन्तु अभिनवगुप्त उसमें भी अपने अंग से रसप्रतीति की बात करते हैं- 'रसस्त्वत्रापि द्रुत एव व्यभिचारिरूपेण पर्यालोच्यमाने प्राप्तीति । तदपेक्षा-याऽऽनन्दवृत्तौ, उम्मापेक्षाया तु तत्र उच्यते' ।

यहाँ पर एक तर्क अवश्य है कि आनन्दवर्मी ने संक्षेपव्यंग्य के उपरान्त उदाहरण में स्तना अवश्य कहा है -

‘इह तु सामर्थ्यापि च व्यभिचारिभूतेन रसप्रतीतिः’^१

किन्तु अभिनवगुप्त की भाँति दूर बाकर या परम्परा से रसप्रतीति की बात नहीं करते । यह अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है ।

२. प्रबन्ध में कहीं अनुरणकरूपव्यंग्य साक्षात् व्यङ्गित हो, तो उसका रसादि में पर्यवसान हो जाता है - यह अभिनवगुप्त का मत है । आनन्दवर्मी का ऐसा आग्रह नहीं है । यदि आनन्दवर्मी को रसादि में पर्यवसान की बात अभीष्ट होती, तो जब प्रबन्ध में अनुरणकरूपव्यंग्यव्यंग्य का विवेचन कर रहे थे तब इस तर्क का भी प्रतिपादन करते । किन्तु आनन्दवर्मी ने ऐसा नहीं कहा है । अतः रस में पर्यवसान की बात अभिनवगुप्त की ही सूझ है । वस्तुतः ऊपर जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात कही गई है और रस में पर्यवसान की बात मूलतः एक ही है। केवल इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है ।

सम्मतः अभिनवगुप्त ने जो रस में पर्यवसान की बात कही है उसके मुँह में यह तर्क ही कि - प्रबन्ध में कोई न कोई एक रस प्रधान होता है । और सब का पर्यवसान उस वही रस में ही होता है । यह तर्क सत्य अवश्य है किन्तु साय ही यह भी विचारणीय है कि क्या प्रबन्ध में जो भी सब निबद्ध किया जाय उसका पर्यवसान वही रस में ही ? क्या यह नहीं हो सकता कि निबद्धपत्र में केवल

१. अ. प्र. २४८.

२. अ. प्र. २५०.

वस्तु या अलंकारव्यंग्य स्वतन्त्र हों ?

अभिनवगुप्त के अनुसार रस में पर्यवसान की बात मान लेने पर तो अलंकार-
व्यंग्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही उभासता ही जाता है । और इस प्रकार तो
यह सबैव रस में ही पर्यवसित होने के कारण अलंकारव्यंग्यव्यति का ही अनुपाती
बना रहता ।

३. 'अलं' स्थित्वा इत्यादि श्लोक में अभिनवगुप्त ने शान्त रस का निर्देश
किया है । किन्तु आनन्दवर्धन ने इसे अनुस्वानोक्तव्यंग्यतत्त्व के व्यक्तिमूढक के
लिए उद्धृत किया है । और यह प्रमत्तप्रकाशवस्तुः सम्भव्यव्यक्तिमूढक वस्तु व्यंग्य
का स्वतः है । क्योंकि पूरा प्रकरण बाध्य रूप में तो प्रस्तुत करता है शास्त्रीय
ज्ञान को, किन्तु उससे व्यंग्य ही रहा है दोनों प्रती (मूढ और भ्रूणाढ) का
वफा स्वरूप । मूढ और भ्रूणाढ की जो उक्तियाँ यहाँ उपनिबद्ध हैं वे स्वतः और
बिना कल्पना के ही इस रूप में सिद्ध तथा सम्भव हैं । इससे जो व्यंग्य व्यक्त हो
रहा है , वह भी एक वस्तुत्व मात्र है, अलंकार रूप नहीं है । इस प्रकार यहाँ
पूरा प्रकरण स्वतः सम्भवी व्यंग्य प्रस्तुत करता है और उससे वस्तुव्यंग्य ही रहा है।
अतः यहाँ मूढ और भ्रूणाढ का स्वरूप , प्रमत्त से प्रकाशित, ठीक सिद्ध व्यंग्य से
व्यक्त हो रहा है । अतः महाभारत का यह पूरा प्रकरण प्रमत्तप्रकाशवस्तुः -
सम्भव्यव्यक्तिमूढक वस्तु व्यंग्य का स्वतः है । किन्तु अभिनवगुप्त इसमें भी शान्त
रस ढूँढते हैं । आचार्य मम्मट ने भी इस उदाहरण को उद्धृत किया है यद्यपि
उन्होंने इसमें शान्तरस का निर्देश नहीं किया है ।

अभिनवगुप्त ने रस में पर्यवसान वाले अपनी तथ्य की पुष्टि के लिए ही
इस उदाहरण में शान्तरस बताया है । क्योंकि महाभारत में कभी रस - शान्त
है । अतः अभिनवगुप्त 'अलं स्थित्वा' इत्यादि का पर्यवसान शान्त रस में देखते हैं।

४. अभिनवगुप्त ने जो - पूर्वोक्त सम्भव्य से अलंकारविषयक विवेचन के
मध्य अलंकारव्यंग्य के विवेचन की अंतर्गत की बात उठायी है - वह व्युत्क्रम
ही जाने के कारण ठीक भी है । आनन्दवर्धन चाहते तो प्रमत्त में अलंकारव्यंग्य
के बोधन का उल्लेख अलंकारव्यंग्य के पूर्व या पश्चात् कर सकते थे । किन्तु ,

यदि ब्रह्मन्धवर्गी ने संतत्यक्रम का विवेकन अंत्यक्रमध्वंश के बीच में कर भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि अभिनवगुप्त संतत्यक्रम का भी परीक्षण (अंत्यक्रम की भांति) रसध्वंश में ही मानने लगे। यह तो अभिनवगुप्त अपने मत की ब्रह्मन्धवर्गी के सिद्धान्त पर बलात् आरोपित कर रहे हैं।

प्रथम में रसाधिव्यंजक के अन्य हेतुओं के विवेकन के प्रश्न में ब्रह्मन्धवर्गी कहते हैं -

प्रथम में रसाधिव्यंजक होने में अन्य मुख्य कारण है - मुख, प्रतिमुख, कर्ण, अवयव निर्वहण नामक सन्धियों और उपसर्ग बाधों उनके अंगों का रसाधिव्यक्ति की अपेक्षा से जोड़ना। यथा - 'रत्नावली' नाटिका में।

अभिनवगुप्त, ब्रह्मन्धवर्गी की उपर्युक्त संकितियों की व्याख्या के प्रश्न में और मुख्य विस्तार करते हुए काव्य के प्रयोजन का उल्लेख करने लगे - कि काव्य के माध्यम से कर्तृत्व कर्म, कर्म, काम और मोक्ष का जो पारंपरिक मुख्य फल है रसाधिव्यक्ति इसकी प्राप्ति भी होती है और कर्तृत्व कर्मों का उपदेश भी सरल और सरल रीति से हो जाता है। स्पष्ट कहते हैं -

‘यथा रसस्तुर्जीवाय व्युत्पत्तिनान्तरीकविनावाधिर्योगप्रसादीपक इत्येवं रसोचितविनावाधुनिकान्ते रसास्वाद्य वैश्वकमेव स्वरसभाविन्धां व्युत्पत्ती प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा य रसस्तदेव नाट्यं नाट्यमेव केव हृत्पल्लवमुवाच्यते।’^२

इसके बाद ‘व्युत्पत्ति’ और ‘फल’ का उदाहरण करने लगे। कर्ता के ब्रह्मन्धवर्गी उदाहरणों की पांच अवस्थाओं - स्वरूप, स्वरूपान्ति, निर्वृत्त, निर्वृत्तप्रतिपत्ता, निर्वृत्तप्रतिपत्ता वाचकवाक्येन पुनरुक्तकथनन्तता - को बताते हुए सन्धि और सन्धियों के ये प्रमेयों का विस्तार प्रतिपादन किया।

यहां एक तथ्य अवश्य है कि ब्रह्मन्धवर्गी तो केवल प्रथम में रसाधिव्यक्ति की अपेक्षा से सन्धि और सन्धियों को जोड़ने की बात बता रहे हैं, किन्तु अभिनवगुप्त अनेक अन्तर्-चर्चाओं को भी इसी प्रश्न में प्रतिपादित करने लगे - जो प्रसक्त ब्रह्मन्धवर्गी को स्पष्ट करने में तिज्जात्र भी उपयोगी नहीं है। यह तो अभिनवगुप्त का स्वभाव है कि स्वयं-स्वयं पर तबिक हा भी कबल पाकर अप्रासंगिक बात कह अवश्य देते हैं, चाहे उसका उस प्रश्न में कोई उपयोग न हो।

सुनिर्वाणनकारकभाषादि से रस बोधन-

अ० ३।२६ में ज्ञानम्बवर्दी ने सुनिर्वाणनकारकभाषादि से अलङ्कार-
व्यंग्य के बोधन की बात कही है ।

सुनिर्वाणनकारकभाषादि कारकप्रतिपत्तिः ।

कृतकित्तादेशेन बोधोऽलङ्कारः कथम् ॥

अलङ्कारो ध्वनेरुत्पत्त्या रसादिः सुनिर्वाणनकारकप्रतिपत्तिः सध्वन्य-
विशेषः कारकप्रतिपत्तिः कृतकित्तादेशेन बोधोऽलङ्कारः कथमेवेति । अलङ्कारान्वितातो-
पसर्गादिभिः प्रसूतोरभिप्रेत्यमानो पुरंको ।

अभिप्रेत्यमानो बोधन में इस कारिका की व्याख्या करते हैं -

यसं रिचत्करोतवनन्तरं सवृत्तिं बुध्यमानो । सुवादिभिः बोऽनुस्वानोक्तो
मासौ वनप्रतिपत्तिरूपः अस्यापि सुवादिभिर्व्यक्तिव्यानुस्वानोक्तस्यालङ्कारव्यंग्यो
बोध्यः । कथमिति कथमिति पूर्वकारिका सह संगीत्य संगतिरिति । सर्वत्र
हि सुवादीनामभिप्रायविशेषाभिप्रेत्यमानोऽपि । उवाचगुणो ह त्वभिप्रेत्यतोऽभिप्रायो
यथास्वं विभावादिरूपतादारेण रसादीन्व्याप्तिः ।

बोधन के उपर्युक्त अंश में निम्नलिखित तथ्य अवश्य हैं -

- (१) सुवादि से जो कत्ता के अभिप्राय से अनुस्वानलङ्कार व्यंग्य भाषित होता
है उसका पुनः अलङ्कारव्यंग्य रूप से ध्योतन ।
- (२) कारिका में प्रसूत 'कथम्' को लेकर पूर्व कारिका से संगति दिखाना ।
- (३) साक्षात् और परम्परा से रसव्यंग्य की बात ।

१. सुवादि द्वारा, कत्ता के अभिप्राय से अनुस्वानलङ्कार व्यंग्य भाषित
होता है ^{उसका पुनः अलङ्कारव्यंग्य रूप से ध्योतन} - यह अभिप्रेत्यमान का मत है । क्योंकि ज्ञानम्बवर्दी ने अ० ३।२६ में
सुवादि का अलङ्कारबोधन सङ्गतः प्रतिपादित किया है । इसके पूर्व कारिका
(अ० ३।२५ में, पूर्वार्थ में अनुस्वानोक्त(अलङ्कारव्यंग्य) व्यंग्य के बोधन की बात कही

नहीं है। अतः अभिनवगुप्त पूर्व कारिका के साथ संति बैठाते हुए - बुवादि में संतप्यक्रमव्यंघ्य कह रहे हैं और फिर उस बुवादि संतप्यक्रमव्यंघ्य का असंतप्यक्रमव्यंघ्यत्व बता रहे हैं।

‘बुवादिभिः योऽनुस्वानोपमां वाच्यो कश्चमिष्युवादिभ्यः अस्यापि बुवादिभिर्व्यतिस्वानुस्वानोपमात्स्योऽसंतप्यक्रमव्यंघ्यो बोध्यः।’

यहां अभिनवगुप्त ने - ‘बुवादि संतप्यक्रम का असंतप्यक्रमव्यंघ्यत्व’ बो बताया है - यह प्रस्तुत प्रश्न को और अधिक उत्तर देती हैं।

अभिनवगुप्त ने कारिका में प्रयुक्त ‘कवचित्’ को ठेकर पूर्व कारिका से संति बिछाई है यह कवस्ती की सींवातानी मात्र है। क्योंकि ध्व० ३१२६ का पूर्व की कारिका ध्व० ३१२५ से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ध्व० ३१२६ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त टीका में कहते हैं -

‘स्तपुक्तं भवति - वणादिभिः प्रवृत्तान्तेः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभावादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिर्व्यंजनाद्वारेण परम्परयेति तत्र बन्धन्येतत्परम्परया व्यंजकत्वं प्रवृत्तादादापुक्तम्।’

यहां अभिनवगुप्त ने जो साक्षात् और परम्परा से रसव्यंघ्य की बात कही है वह अभिनवगुप्त की अपनी धुन है। ज्ञानन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहीं भी साक्षात् और परम्परा से रसव्यंघ्य की बात नहीं कही है। रसप्रीति साक्षात् नहीं होती। यह तो अवलम्बित होती है। और परम्परा से रसप्रीति नहीं होती, उसमें प्रीति इतनी शीघ्रा से होती है कि क्रम उत्पन्न नहीं होता। उहीलिए इसे असंतप्यक्रम के अन्तर्गत रखा गया है। यदि क्रम अवलम्बित हो जाय, रसप्रीति में विरम्य हो जाय तो वह संतप्यक्रमव्यंघ्य का विषय हो जाता है। जैसे ‘स्वं वादिनी देवयनी’ में।

वर्णों का रस चोदन -

ध्व० ३१३ और ३१४ में ज्ञानम्बवर्णी वर्णों के रस चोदन का उपायन करते हुए कहते हैं -

उच्च रेफ के साथ संयोग और कभी बार प्रसूत उच्चार कुंठार रस के विरोधी होते हैं अतः वर्ण रस को प्रभावित करने वाले नहीं होते हैं, किन्तु जब वे ही उच्च रेफ बादि वीमल रस में निवेशित किए जाते हैं तब वे रस को दीप्त करते हैं अतः वर्ण रस के चोदन होते हैं।

ज्ञानम्बवर्णी के मत को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

अपि विभावानुभाव अभिवारि का संयोग ही रसास्वाद में कारण होता है तथापि विभावानुभाव में प्रसूत विशिष्ट वर्णों से रसास्वाद होता है। इस प्रकार वर्णों की अपेक्षा न रहने वाले, स्वभाव मात्र द्वारा माध्व मूढ कथा परम स्वभाव वाले वर्ण रसास्वाद में सहायक होते हैं। वर्णों की सहायिका के अभिमान के लिए ही वर्ण रस में निमित्त समझी है।

अपि अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि रसामिव्यक्ति में विभावानुभाव का संयोग होता है और वर्ण रसामिव्यक्ति में सहायक मात्र होते हैं।

संयन्त्रा का रसामिव्यक्तत्व -

माधुर्यादि गुणों के बाध्य से, संयन्त्रा के रसामिव्यक्तत्व के प्रश्न में ज्ञानम्बवर्णी कहते हैं -

रस बादि को बाध्यव्यंश मान लेने पर कोई निश्चित संयन्त्रा गुणों का बाध्य नहीं होती है। इसलिए किसी संयन्त्रा निश्चित नहीं है ऐसे उच्च ही व्यंशविशेष से अनुक्त ही कर गुणों के बाध्य हैं।

उपनिक्त मत को न मानने वाले पूर्वपक्षी का मत है कि माधुर्य के विषय में उच्च प्रकार का बाध्य तो ठीक है किन्तु वीर्य का निश्चित संयन्त्रा है रसित उच्चों का बाध्यत्व कैसे सम्भव है ? क्योंकि उच्चाचा संयन्त्रा की वीर्य का बाध्य नहीं बन सकती।

विद्वान्त्वक्की कक्षा है - रौद्र बादि को प्रकाशित करने वाली काव्य की दीप्ति 'वीक्ष्' है । वह 'वीक्ष्' यदि अस्मादा संवटना में भी हो तो कोई शोक नहीं । उसमें बहुतव्य द्वारा जैसे कोई अकारणत्व नहीं । अतः पुण्यों के निम्न संवटना से रहित , अर्थों के बाध होने से कोई शक्ति नहीं ।

अन्वयात्मक के उपर्युक्त अर्थ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त जीवन में कहते हैं -

'कथं तु पुनः - वणपिद्व्यंघ्येऽप्यौघादि रौद्रादिस्वभावैः वणपिदानामेका-
किं स्वस्तीन्वकीपि न ताहमुन्मीलति तावदावस्तानि संवटनाभिधानि न कृतानीति
शानान्धैर्वायं पूर्ववत् इति ।

अभिनवगुप्त ने 'कथं तु पुनः' कह कर अपना मत रखा है और उसे पूर्ववत् कहा है । आनन्दवर्मी का मत है - 'जिसकी संवटना निम्न नहीं है ऐसे अर्थ ही अर्थव्यक्ति के अनुगत होकर पुण्यों के बाध होते हैं । आनन्दवर्मी के मत की अभिनवगुप्त अपने अर्थ से व्याख्या करते हैं । अभिनवगुप्त की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त, आनन्दवर्मी के विद्वान्त्व को उस प्रकार प्रहण नहीं करते हैं कि प्रकार आनन्दवर्मी उसे कहना चाह रहे हैं । अभिनवगुप्त जीवन में कहते हैं -- 'रौद्रादि स्वभाव वीक्ष् के वण' पदव्यंघ्य होने पर भी जैसे वण-
पदों का अपना अर्थ भी तब तक उन्मीलित नहीं होता जब तक वे वणपिद्वं संवटना से अक्षिप्त नहीं किए जाते ।

आनन्दवर्मी का यह अभिप्राय नहीं है । आनन्दवर्मी ने तो स्वयं संवटना में ही वणपिद्व के व्यंजकत्व की बात कही है, किन्तु 'अनियत संवटना' कहा है । अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि अंगार में अस्मादा संवटना ही हो और रौद्र बादि में दीर्घ अस्मादा संवटना । प्रायः इसके विपरीत स्थिति भी देखी जाती है । इसीलिए 'अनियत संवटना' पद का प्रयोग आनन्दवर्मी ने किया है ।

संवटना के नियमन में तत्तु वस्तु वाच्यता वीक्षित्य के प्रसंग में आनन्दवर्मी कहते हैं -

‘वाक्य’- ध्वनि वाक्य के प्राणमूल तत्त्व-‘रस’ का अंग जल्दा ‘रसाभास’ का अंग हो सकता है, अग्निनेयार्थ जल्दा अनग्निनेयार्थ उत्पन्न प्रकृति के वाक्चित्त जल्दा उसके स्तर के वाक्चित्त, बहुत प्रकार का हो सकता है।

उस पर अभिनवगुप्त टोचन में कहते हैं -

‘वाक्यमिति ध्वन्यात्मा ध्वनित्वमावो यो रसस्तस्यानं व्यङ्ग्यमित्यर्थः ।
अग्निनेयो वाक्चित्तवाशयैराभिमुखं वाक्चित्कारणं नैवोऽर्थो व्यङ्ग्यो ध्वनि-
त्वमावो यस्य तदग्निनेयार्थं वाक्यं, स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते ।’

ध्वन्यालोक में ‘ध्वन्यात्वरसानं’ में प्रयुक्त ‘वात्म’ पद का अभिनवगुप्त ‘स्वभाव’ अर्थ कर रहे हैं और ध्वनि एवं रस को स्वमान रहे हैं। किन्तु ज्ञानन्दवकी को यह अर्थ कभी नहीं है। ज्ञानन्दवर्णन में के अनुसार यहाँ ‘वात्म’ पद का अर्थ ‘प्राण’ है।

तात्पर्यवृत्ति -

व्यङ्ग्यत्व की स्थापना के प्रसंग में ज्ञानन्दवकी ने वाक्य-व्यङ्ग्य के पदार्थ-वाक्यार्थ व्यापकता का उल्लेख किया है। किन्तु ज्ञानन्दवकी ने पदार्थ वाक्यार्थ का विवेचन करते हुए कहीं भी तात्पर्यवृत्ति का नाम नहीं दिया है। किन्तु अभिनवगुप्त ‘टोचन’ में उपर्युक्त प्रसंग के प्रारम्भ में, प्रथम रूप में कहते हैं-
‘नन्वेवं ना मुद्रावृत्तिस्तथापि तात्पर्यवृत्तिर्न विच्छेदतीत्याहुः न वेति।’
इत्यादि।

वस्तुतः तात्पर्यवृत्ति की स्थापना अभिनवगुप्त की ही श्रुति है। ज्ञानन्दवकी केवल तीन वृत्तियों को मानते हैं - वाक्यत्व, गुणवृत्ति और व्यङ्ग्यत्व। उन्होंने तात्पर्यवृत्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। किन्तु अभिनवगुप्त ने प्रथम और तृतीय उचोच में तात्पर्यवृत्ति का विवेचन किया है। ध्व० १।४ के उदाहरण ‘नमः शिवाय’ को कट व्याकृत करने के प्रसंग में पदार्थों के परस्पर अन्वय की प्रतिपत्ति कराने के लिए तात्पर्यवृत्ति को मान रहे हैं -

(१) न चाप्रतिपत्त्येऽन्वये विरोधोऽस्तीति: प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिवाञ्छितत्वात्
तस्याः पदार्थप्रतिपत्तिरनुपपत्तीनामा विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यवृत्त्येवान्वय-
प्रतिपत्तिः ।

- (२) द्वितीय भाष्यकः इत्यत्र द्वितीयकस्यानिविष्टतात्पर्यवृत्तिरुपपत्तिरित्यव-
वाचकोऽन्वयान्तरमपि वातात्पर्यवृत्तिरित्यव्यतिरिक्तता तावत् द्वितीयक वृत्ति -
स्तथाप्यविपरीकरणनिपुणा उक्तानामिमाना अनुसृतवति ।
- (३) तस्मादपि वातात्पर्यवृत्तौ वा व्यतिरिक्तव्युत्पत्तौऽपि व्यापारो ध्वननवीतन-
ध्वननप्रत्यायनात्मकमपि द्वितीयकव्यवृत्तिरिति तात्पर्यवृत्तिः ।
- (४) ततो विशेषरूपे वाक्यादे तात्पर्यवृत्तिः परस्परव्यतिरेकः ।
- (५) तेन ध्वननवीतन वाक्यात्मकवृत्तिरिति वाक्यवृत्तिः । तदन्वयानुपपत्तिरुक्तवाक्या-
वृत्तिरिति तात्पर्यवृत्तिः । मुद्रावर्तनायादिप्रत्ययवृत्तिरिति तात्पर्यवृत्तिरिति उक्ताना-
वृत्तिः । तद्वृत्तिरिति ध्वननवीतनवाक्यात्मकवृत्तिरिति तात्पर्यवृत्तिः । तद्वृत्तिरिति ध्वननवीतन-
वृत्तिरिति तात्पर्यवृत्तिः । तद्वृत्तिरिति ध्वननवीतनवाक्यात्मकवृत्तिरिति तात्पर्यवृत्तिः ।

उपयुक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बभिनकुश 'तात्पर्य-
वृत्ति' को द्वितीय कदा निवेशित मान रहे हैं । कुमारिष्ठ मद्र - बभिनकुश-
न्यववादी हैं, वे कर्मों के अन्तिम कर्म को ध्वनन के लिए तात्पर्यवृत्ति को मानते हैं।
'तात्पर्य' को वृत्ति उक्त वेने वांछे व्यक्तमद्र हैं , जो वाक्यव्यवस्था के परवर्ती हैं ।
आतः तात्पर्यवृत्ति को बभिनकुश ने व्यक्तमद्र से लेकर यहाँ रखा है आतः प्रस्तुत
प्रश्न में व्याप्ति काव्यमोत्र में 'तात्पर्यवृत्ति' को कल्पना - बभिनकुश की अपनी
कृष्ण है । बभिनकुश से ही प्रभावित होकर वाक्यार्थ मध्य ने अपने मध्य
काव्यप्रकाश में - 'तात्पर्यवृत्तिऽपि कैवृत्ति' कहा है ।

संज्ञातः कुछ ठीक यह मानने को तैयार नहीं हों कि - काव्यशास्त्र
तात्पर्यवृत्तिरिति की कृष्ण बभिनकुश की अपनी है । वह तो बभिनकुश-
वादी बीनाईकों द्वारा प्रकाश की गयी है । उस स्थिति में तबना तो मानना

१-डी० पृ० ५८-५९

२- वही पृ० ६२

३- वही पृ० ५६

४- वही पृ० ६२-६३

५- काव्यप्रकाश २।६ पृ० ३५

ही पड़ेगा कि अभिव्युक्त ने तात्पर्यशक्ति को भीवाचकों से लेकर आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में जोड़ा है । आनन्दवर्धन तात्पर्यशक्ति को नहीं मानते । आनन्दवर्धन केवल तीन मुख्य व्यापारों के पक्ष में हैं - १- वाक्यत्व, २- गुणवृत्ति, ३- व्यंजनत्व । किन्तु अभिव्युक्त दूसरे स्थान पर तात्पर्यशक्ति को रखते हैं और पशुर्व क्ताभिव्युक्ती व्यंजना-व्यापार को माना है । काः कहां तक मुख्य व्यापारों का प्रश्न है अभिव्युक्त आनन्दवर्धन से भेद रखते हैं ।

हान्तरस-

कभी वाचार्थ बाठ रसों को निष्पत्ता रूप से स्वीकार करते हैं किन्तु नवें हान्त रस के विवेचन में विद्वानों में मतभेद है । किन्तु आनन्दवर्धन और अभिव्युक्त हान्त रस को भी स्वीकार करते हैं । आनन्दवर्धन के पूर्व भी हान्त रस कुछ वाचार्थों द्वारा स्वीकार किया गया है किन्तु उसे पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुंचाने का केवल अभिव्युक्त को ही है ।

अभिव्युक्त के पूर्वकी वाचार्थ किन्तु हान्त रस का उल्लेख किया है वे हैं - उद्भूत, स्फुट और वाचार्थ आनन्दवर्धन किन्तु इन वाचार्थों ने हान्त रस का विवेचन उस रूप में नहीं किया, जिस रूप में वाचार्थ अभिव्युक्त ने । आनन्दवर्धन और अभिव्युक्त के हान्त रस का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट है कि अभिव्युक्त ने हान्त रस का स्वरूप आनन्दवर्धन से भिन्न रूप में माना है ।

१-(i) डा० मुकुन्द माधव जर्मा जी इस तथ्य से सहमत हैं -

'Ānanda does not conceive of the tātparyasakti. He conceives tātaparyā as the intention of the Speaker in respect of the meaning of the sentence. This tātparya is relegated even to the word and the meaning. Which are intent upon conveying the suggested sense. This tātparya is not conceived by Ānanda as a function of the words of the same status as that of abhidhā, lākṣanā or vyañjanā--The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics.' Page, 190 .

(ii) यहाँ अवश्य तथ्य यह है कि 'तात्पर्यशक्ति' वाक्य की शक्ति है । इसीलिए आनन्दवर्धन ने शब्द-शक्तियों के साथ उसका विवेचन नहीं किया है । इस तथ्य की ओर हेमचन्द्र का ध्यान था, इसीलिए उन्होंने भी शब्दशक्तियों के प्रसङ्ग में तात्पर्यशक्ति की चर्चा करना अप्रासंगिक समझ कर छोड़ दिया - 'अभिधानन्तरं च यद्यपि अन्यथाप्रतीतिनिमित्तं तात्पर्यशक्तिरप्यस्ति तद्विषयस्तात्पर्यलक्षणोऽर्थः तथापि ते वाक्यविषयविवेकिना नान्तेकतो-
क्रा.कु.शा. ६.१२.

२- बी रावकर् ने अपनी पुस्तक 'Number of Rasaa' में हान्त रस विषयक

विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया है ।

अभिनवगुप्त ने उद्यम की अपेक्षा अभिनवभारती के अष्ट अध्याय में इसका विवेक अधिक विस्तृत रूप में किया है। जिसका संक्षिप्त रूप उद्यम में रखा है।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध ज्ञान्त रस के विषय में प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कुछ ठीक ज्ञान्त रस को नहीं मानते। कुछ ठीकों का मत है कि ज्ञान्त रस ही ही तो नाटक में उसका अभिनय नहीं किया जा सकता। इसलिए काव्य में जो ही ज्ञान्त रस मान लिया जाए, नाटक में उसका मानना उचित नहीं है। जो ठीक ज्ञान्त रस को मानती हैं, उनमें इसके स्थायीभाव के विषय में मतभेद पाया जाता है। अभिनवभारतीकार ने ज्ञान्त रस विषयक इन विभिन्न वैचार्यों का विवेकन करके, ज्ञान्त में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है।

ज्ञान्त रस का स्थायीभाव-

जानन्दवर्मी से पूर्वकी आचार्यों में से, भारत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध ज्ञान्त रस प्रकरण के विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहना सम्भव है। उद्भट के काव्यालंकार सार संग्रह में ज्ञान्त रस का नामोल्लेख मात्र है। उसका स्थायीभाव नहीं बताया है, प्रतिहारचन्द्राच ने छन्दुषि में 'ज्ञ' को स्थायीभाव माना है। उसके बाद आचार्य रुद्र ने काव्यालंकार में ज्ञान्त का स्थायीभाव - सम्यग्ज्ञान माना है। नमिहाषु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रुद्र 'सम्यग्ज्ञान' को स्थायीभाव मानते हैं।

जानन्दवर्मी के पूर्व 'ज्ञ' और 'सम्यग्ज्ञान' को ज्ञान्त का स्थायीभाव कहा जा चुका है, या, जानन्दवर्मी ने 'तृष्णाक्षयसुख' रूप ज्ञान्त रस को माना है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही ज्ञान्त रस के स्थायीभाव के विषय में विद्वज्जन के मध्य मतभेद नहीं था। साथ ही ज्ञान्त रस की स्थिति के विषय में भी मतभेद था यह तो जानन्दवर्मी के 'प्रतीयते रस'² से भी उचित होता है।

१- सम्यग्ज्ञान प्रकृतिः ज्ञान्तो किन्तेश्वनायको भवति ।

सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापनमात् ॥

सम्यग्ज्ञानं स्थायीभावः

- नमिहाषु

2- 'ज्ञान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तत्त्वक्षणो रसः प्रतीयत रस' इत्यादि।

का: शान्त रस - शान्त होते हुए भी, विद्वान् के मध्य शान्त, अर्थात् त्रि-
विध का विषय बना हुआ हो। कुंभारादि रसों के रत्नादि स्थायीभाव
की भांति उसका कोई निश्चित स्थायीभाव नहीं था।

तुष्णादायकसुख -

आनन्दवर्धन के समय तक हम और अन्यज्ञान शान्त रस के स्थायी
भाव कह दिए गए थे। आनन्दवर्धन ने शान्त रस का स्थायीभाव 'तुष्णादाय-
कसुख' माना है। अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के तुष्णादायकसुख को 'निर्वै' रूप
मानते हैं। :-

‘तुष्णानां विषयाभिज्ञानाणां यः तायः क्वीतो निवृत्तिरपी निर्वैः’^१

वर्णकार प्रज्ञेय-

आनन्दवर्धन के समय भी कुछ लोग शान्त को पुष्क रस स्वीकार
करने के पक्ष में नहीं थे। 'शान्त' को वीर के अन्तर्गत ही मानते हैं। का:
आनन्दवर्धन शान्त को वीर से पुष्क करते हुए कहते हैं - 'वर्णकारप्रज्ञेय रूप शान्त
रस' होता है -

‘अस्य च शान्त वर्णकारप्रज्ञेयरूपतया स्थितीः’

लौचनकार 'वर्णकारप्रज्ञेय' रूप के लिए 'निवृत्ति' पद प्रयुक्त करते हैं।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुवर्ती हेमचन्द्र - आनन्दवर्धन के - 'तुष्णादाय-
क' को हम के समान कहते हैं -

‘तुष्णादायकरूपः समः स्थायिभावः सर्वेषां प्राप्तः शान्तो रसः’

सर्ववितवृत्तिप्रज्ञ -

कुछ लोग तुष्णादायकसुख को न मानकर, समस्त वितवृत्तियों के प्रज्ञ
को ही शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि समस्त
वितवृत्तियों के प्रज्ञ का अर्थ सभी वितवृत्तियों का विरोधी वितवृत्तिविरोध है।^२

१- टी० पु० ३६० - १

२- अन्ये तु सर्ववितवृत्तिप्रज्ञ एवास्य स्थायीति मन्यन्ते। तज्वास्तु, भावस्य
प्रज्ञप्रतिषेधकत्वे कैतवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात्। पर्युदासे तु
अस्मापका एवायम्। (टी० पु० ३६०)

निर्विधेय पितृवृत्ति -

कुछ ठीक वैध शास्त्र को मानते हुए कहते हैं - भाव क्या निमित्त बाकर शास्त्र से प्रकृत होता है, परन्तु निमित्त के अभाव होने पर शास्त्र में ही प्रतीत हो जाता है -

स्वं स्वं निमित्तमावाह्य शास्त्रमावः प्रकृति ।

अनुनिमित्तापायै तु शास्त्र स्व प्रतीक्ये ॥ १

इस प्रकार कतिपय आचार्य भारत के उद्देश्यशास्त्र के इस वाक्य को प्रमाणार्थ उपकृत करते हुए, सभी इस का सामान्य स्वभाव शास्त्र को कहते हुए 'अनुपवातविशेषान्तरपितृवृत्ति' को शास्त्र का स्थायीभाव कहते हैं ।

अभिनवगुप्त का मत है कि तुच्छाक्षय से 'अनुपवातविशेषान्तर-पितृवृत्ति' में तनिक सा अन्तर है । 'अनुपवातविशेषान्तरपितृवृत्ति' - तुच्छा का प्रारम्भ है और तुच्छाक्षय तुच्छा का प्रवर्धमान है । फिर भी अभिनवगुप्त इस पक्ष के लिए कहते हैं -

'स्तस्य नातीवास्त्यपताद् दृष्टम्' । किन्तु साथ ही प्रवर्धमान के प्रति ही उनका आग्रह है - 'युक्तस्य प्रवर्धं स्व तुच्छानाम्' ।

निर्वेद -

कतिपय विद्वान् 'निर्वेद' को ही शास्त्र एवं का स्थायीभाव मानते हुए कहते हैं - तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शास्त्र एवं का स्थायीभाव है । ऐसा कि आचार्य भारत अष्टम अध्याय में कहते हैं -

'तत्र निर्वेदो नाम वारिष्वृज्याध्यमानाधिसोपावृष्टश्रीकाऽवष्टक-
धियाऽवष्टकानादिभिः विभावैः उत्पद्यते' ।

१- ठी० पृ० ३६१

२- इति भरतवाक्यं पृष्टवन्तः ऊरिष्वामान्यस्वभावं शास्त्रमावताना
अनुपवातविशेषान्तरं पितृवृत्तिरूपं शास्त्रस्य स्थायीभावं मन्यन्ते । ठी० ३६१

३- ठी० पृ० ३६१

४- अभिज्ञा० - भाष्यभाट औरिष्टुह वीरीश भाग-२ पृ० ३५०

बाबाई मस्त निवेद के अनेक कारण दे रहे हैं, किन्तु उन सब में प्रमुख एवं बेचूत तत्त्वज्ञान है। किन्तु यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि निवेद की गणना तो बाबाई मस्त ने व्यभिचारिणियों में की है, जब यह केवल व्यभिचारिणाव, और स्वाधीनाव दोनों होता ? इसका जवाबान यह हो सकता है कि दारिद्र्य या कष्टका के विरोधादि से उत्पन्न निवेद व्यभिचारिणाव होता है। किन्तु तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निवेद स्वाधीनाव होता है। वैसा चारंगनेव ने संतीतारनाकर में कहा है -

स्वाधी स्वादिषयेभ्येव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि ।

कष्टानिष्टविरोधाच्चिकृत्तस्तु व्यभिचारिणी ॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निवेद, न केवल दारिद्र्यादि से उत्पन्न निवेद से बेचूत होता है, अपितु अन्य सभी स्वाधिनियों और व्यभिचारिणियों से उत्पन्न होता है। वैसा कि निवेद के प्रश्न में अभिनकुप्त करते हैं -

‘तत्त्वज्ञानकथं निवेदः स्वायुक्तारोपनकः । नावैपिद्वयविषयानुस्यूतो रथादिभ्यः यः परमः स्वाधिकीतः स एव हि स्वायुक्ताराणांनुपपन्नकः’ ।

और वही तत्त्वज्ञानोत्पन्न निवेद ज्ञान्त रक्षा स्वाधिन्याव और मोक्ष का साधन है। वही है मस्त मुनि ने व्यभिचारिणियों में उसकी सब से पहले स्थान दिया है। यदि तत्त्वज्ञानकथं निवेद, दारिद्र्य कथं निवेद से भिन्न और मोक्ष का साधन न होता तो मंगल की कामना करने वाले मस्तमुनि व्यभिचारिणियों के दारम्य में निवेद को नहीं रखते।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि निवेद तो अन्य रथों में व्यभिचारिणाव माना गया है और मस्तमुनि ने स्वयं भी व्यभिचारिणियों में ही उसकी गणना की है तब इसे स्वाधिन्याव कैसे कह सकते हैं ?

इसका जवाबान ‘निवेद’ समीक बाबाईका इस प्रकार देते हैं - एक रथ का स्वाधिन्याव दूसरे रथ में व्यभिचारिणाव हो सकता है, यह तथ्य की तो मस्त मुनि ने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है कि प्रभार रथ में जुगप्सा को व्यभिचारिणाव के रूप में अङ्कित नहीं करना चाहिए। अन्यथा जुगप्सा का शृङ्गार रस

१- अभि० पा० नायकाङ्क वीरिण्ड वीरीन्द्र मान-२ पृ० ३३४

में व्यापिकारिभाव के रूप में निर्वोध करना संभव नहीं होता। इसलिए निर्वोध को व्यापिकारिभाव और स्वाधिकार दोनों मानने में कोई हानि नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान कथ्य निर्वोध शान्त रस का स्वाधिकार है।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त बात का उल्लेख करते हैं, वे तत्त्वज्ञानकथ्य निर्वोध को शान्त-रस का स्वाधिकार नहीं मानते। क्योंकि ऐसा मानने पर ही स्वभाव तत्त्वज्ञान ही उसका कारण होता। और तत्त्वज्ञान वैराग्य का कारण या बीज है। उस वैराग्य के प्रकृत तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है। उसमें परम्परित कारण मानकर यदि विभावत्य व्यवहार किया जाएगा, तब उसमें अति-व्याप्ति दोष आएगा। अतः तत्त्वज्ञानकथ्य निर्वोध को स्वाधिकार नहीं मानना चाहिए।

दुसरा तर्क यह है कि अमल विषयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि रूप 'निर्वोध' ही वैराग्य का उपाण है। विरक्त पुरुष यह बतल करता है कि उसे तत्त्वज्ञान ही वाय। क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अतः पहले वैराग्य (निर्वोध) होता है, फिर तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञान से मोक्ष। न कि पहले तत्त्वज्ञान ही जाता है, उसके बाद वैराग्य या निर्वोध, और निर्वोध से मोक्ष। क्योंकि निर्वोध या वैराग्य-तत्त्वज्ञान का कारण होता है, कार्य नहीं। अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वोध' को शान्त रस का स्वाधिकार कहना संभव नहीं है।

शंकराचार्य ने भी कहा है कि 'वैराग्य' से ही मोक्ष नहीं मिलता। केवल जिस साधक को वैराग्य से तत्त्वज्ञान ही जाता है उसे ही मोक्ष मिलता है। और जिसे वैराग्य से तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ, वह प्रवृत्तिहीन अवस्था को प्राप्त होता है। क्योंकि शान्त में तत्त्वज्ञान से रहित केवल वैराग्य को 'प्रवृत्तिहीन' का कारण बताया है।

उस पर तत्त्वज्ञानकथ्य निर्वोध को ही शान्त रस का स्वाधिकार मानने वाला प्रतिक्रिया फिर उल्लेख करता है कि -

तत्त्वज्ञानी को सर्वत्र दुःख वैराग्य होता देखा जाता है। ऐसा कि प्राचिन मुनि ने योगदर्शन में कहा भी है। तत्त्वज्ञान ही जाने पर मुण्डों के प्रति जो वैराग्य

१- वैराग्यात् प्रवृत्तिहीनः - शांति कारिका ४५।

२- तत्परं पुरुषस्यातेर्मुणैर्वैराग्यम् - योगसूत्र १।२६ ।

का नाश होता है वह 'परं वैराग्य' कहलाता है । अतः तत्त्वज्ञान कथ्य निर्वेद वा वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं ज्ञान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं है ।

इस पर कहते हैं - 'यह ठीक है , किन्तु उस प्रकार का वैराग्य तो ज्ञान की चरम अवस्था है । और तत्त्वज्ञान की झुंझा द्वारा परिपोषित होने वाला तत्त्वज्ञान ही वह परं वैराग्य होता है । इसलिए निर्वेद स्थायिभाव नहीं है । बल्कि तत्त्वज्ञान ही ज्ञान्त रस का स्थायिभाव है' ।

आचार्य भट्ट ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में जो तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति की बात कही है , वह उन्होंने ज्ञान्त रस और स्थायिभाव की दृष्टि से नहीं कही है, बल्कि वह सामान्यतः व्यभिचारिभाव रूप निर्वेद को कहा है । और विरकाङ्ग एक प्रान्ति के कारण विमर्शपूर्णतादि की उपायैय बुद्धि को दूर करने के लिए ही निर्वेद के कारण को तत्त्वज्ञान कहा है । जैसे - 'युष्मा दुग्धोऽनंशान्' उत्पादि में मोक्ष के साधक निर्वेद के प्रति नहीं बल्कि लेद रूप निर्वेद के विभाव रूप में ही कहा है । अतः तत्त्वज्ञान कथ्य निर्वेद ही ज्ञान्त रस का स्थायिभाव मानना अनुचित है ।

इस पर तत्त्वज्ञानकथ्य निर्वेद को ही ज्ञान्त रस का स्थायिभाव मानने वाला फिर कहता है कि न्यायदर्शन में अथायपाद (गौतम मुनि) के 'दुःखव्यपप्रवृत्तिदोष-मिवैवाज्ञानानुभवाभावेतस्मन्तरापायायवर्णः' इस सूत्र के आधार पर तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण छिद् करने का यत्न किया गया है । (इस सूत्र का अर्थ है - तत्त्वज्ञान के पूर्व मिथ्याज्ञान का नाश होता है , उस मिथ्या ज्ञान के नाश होने से राम-देव आदि दोषों का स्वाद होता है । उसके बाद जब प्रवृत्ति अथवा कर्म-कर्म का नाश होता है और उसके बन्ध का नाश होने पर दुःख का नाश होता है ।) अतः तत्त्वज्ञान से ^{पूर्व} मिथ्याज्ञान नाश और उसके दोषों का नाश कहा है - इसी से तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण माना जा सकता है । क्योंकि

१- कसत्यैकं तापुषं तु वैराग्यं ज्ञानस्यैव परा हावता इति मुक्ताविमुक्तैकवक्ताम्य-
मस्मि। (वमिनवमार्त्ती) ।

मिथ्याज्ञान का नाश रूप तत्त्वज्ञान है और दोष नाश रूप वैराग्य है । अतः तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण मानना सर्वथा उचित ही है । इसलिए तत्त्वज्ञान अन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं आता ।

इनके अनुसार वैराग्य ही 'निर्वेद' है ।

इस पर विद्वान्तपक्षी कहता है कि वैराग्य और निर्वेद सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं । क्योंकि शोक प्रवास के प्रसार रूप चित्तवृत्ति विक्षेप का नाम निर्वेद है , यह नाश रूप है और वैराग्य तो रागादि का प्रवृत्त रूप है । अतः दोनों भिन्न हैं ।

कहा यदि वैराग्य को ही निर्वेद मान भी लिया जाय तो मिथ्याज्ञान के नाश से उत्पन्न उस दोषनाश रूप वैराग्य को मोक्ष रूप फल की छिद्र में अनुत्पत्तीकता क्यत्ति शक्यात् कारण नहीं माना जा सकता है ।

और दूसरा दोष यह आता है कि तत्त्वज्ञान से, निर्वेद की उत्पत्ति होती है ऐसा कहने पर 'अम' की ही दूसरी संज्ञा निर्वेद हो जाती है । अतः निर्वेद के स्थान पर अम को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानना चाहिए ।

यहाँ यह दोष हुआ कि अम और शान्त तो पर्याय हैं । इस पर कहते हैं कि जैसे हाथ को अपने समानार्थक हास्य का स्थायीभाव मानने में कोई बाधति नहीं है , उसी प्रकार अम को उसके समानार्थक शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई बाधति नहीं होनी चाहिए । अतः निर्वेद शान्त रस का स्थायिभाव नहीं बल्कि अम ही शान्त रस का स्थायिभाव है ।

रत्यादि बातों में से कोई भी शान्त रस का स्थायिभाव

कुछ लोगों का मत है कि विरहाण रत्यादि बात प्रकार की चित्तवृत्ति-विक्षेप (स्थायिभाव) , शान्त रस के स्थायिभाव समेक हो सकते हैं । क्यत्ति स्त्री पुरुषादि रूप विभावों से परिपोषित रति कदां शृंगार रस की जनक होती है वहाँ कव्यात्म कदां वादि जैसे विभावों से परिपोषित होकर वही रति शान्त रस की जनक हो जाती है । इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पक्षों को हुए विभावों के वभाव कृतादि रूप अन्य विभावों के द्वारा भिन्न प्रकार की अनुभूति के जनक भी हो सकते हैं । इसलिए उन बातों स्थायीभावों में से कोई एक शान्त रस में स्थायिभाव हो सकता है ।

ज्ञातः एव मत्त के सम्यक् आचार्यों के अनुसार रत्यादि बाठों स्वायिमावों का एक रूप अपने अपने मुख्य रस की अनुमति में काम आता है और दूसरा रूप मौदा विधि में उपयोगी होता है अपने एव मत्त के सम्यक् के लिए उन्होंने मत्त मुनि को भी रत्यादि के विविध स्वरूप का सम्यक् विद्वत् करने का यत्न किया है।

एव उपर्युक्त मत्त का सञ्चन करते हुए मुख्यकार कहते हैं कि रत्यादि बाठों रसों के स्वायिमाव को शान्तरस का स्वायिमाव मानने पर कभी रसि, कभी शोकादि को शान्त रस का स्वायिमाव होना होगा, ऐसा होने पर किसी एक के स्वायिमाव होने पर, दूसरे के स्वायिमावत्व का सञ्चन हो जाएगा। उपायों के भेद के कारण रसि शोकादि का शान्त रस में स्वायिमावत्व कहना अनुचित है। क्योंकि प्रत्येक पुराण में भिन्न भिन्न स्वायिमाव मानने पर, शान्त रस के भी अनन्त भेद होने लगे। एव दोष के निवारणार्थ यदि यह कहा जाय कि -

स्वायिमावों में भेद रहने पर भी, एक मौदा रूप कठ के होने पर, रस भिन्न ही रहें - तब तो वीर और रौद्र रस का भी एक मौदा रूप भिन्न कठ होने से उनका भी भेद हो जाएगा। जो ठीक नहीं। ज्ञातः रत्यादि बाठों में से कोई भी एक शान्त रस का स्वायिमाव हो सकता है यह मत्त असंगत है।

रत्यादि की समष्टि-शान्त-रस का स्वायिमाव-

इसके बाद एक दूसरा मत्त रहते हैं कि रत्यादि समस्त स्वायिमावों की समष्टि को शान्त रस का स्वायिमाव कह सकते हैं। जैसे ठण्डाई वादि पानक द्रव्यों का स्वाद मिश्र कर एक विविध वास्वाद को उत्पन्न करता है। वही प्रकार शान्त रस में रत्यादि समस्त स्वायिमाव पानक-रस-न्याय से मिलकर एक विविध प्रकार के शान्त रस के वास्वाद के जनक होते हैं।

एव मत्त का भी सञ्चन करते हुए मुख्यकार कहते हैं - कि रत्यादि विषयक अनेक विधिवृत्तियों का एक साथ होना सम्भव नहीं है तथा हास और क्रोध, वीर

१- न केतन्मुनेर्न सम्यक्ताम् । वाक्येव हि विशिष्टान् भावान् परिणयति रत्यादि
 सञ्ज्ञेन वदञ्ज्ञेन न तत्प्रकारेण वन्यान् संगृह्णीते, तावदेव तदवतिरिक्तातीक्ष्ण
 हेतुपक्षानां रत्यादीनामनुमानात्येव अपवर्गविषयत्वम् । अमि०भा० -६२९

और मवानक वादि वितवृत्तियों में एक दूसरे की विरोध होने से वह मत ठीक नहीं है ।

विद्वान्मता- तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मा-

उपर्युक्त कमल मतों का सम्बन्ध हो जाने पर अभिनवमुक्त अपने मत की स्थापना करते हुए कहते हैं - ज्ञान्तरस का स्थायीभाव, तत्त्वज्ञान है । वही मोक्ष का साधन है अतः तत्त्वज्ञान ही उसका स्थायी भाव है । और तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान का ही नाम है । और इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है । आत्मा का ज्ञान ज्येष्ठा आत्मसाक्षात्कार ज्येष्ठा तत्त्वज्ञान ही ज्ञान्तरस का स्थायीभाव है । इसके बाद पुनः अभिनवमुक्त कहते हैं - ज्ञान, आनन्द वादि विबुध कर्मों से युक्त और परिकल्पित, विषयीयमय वादि से रहित आत्मा ही ज्ञान्तरस का स्थायीभाव है ।

अन्य रसों में आत्मा का स्थायीभावकत्व नहीं होता क्योंकि अन्य रसों की स्थिति में उस प्रकार का आत्मासाक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं होता है जैसा ज्ञान्तरस की स्थिति में होता है । योगशास्त्र के अनुसार केवल समाधिभाव में आत्मा का साक्षात्कार होता है, समाधि की स्थिति को छोड़कर अन्य रसों में या व्युत्थानकाष्ठ में वृत्ति क्रुन्धित रूप में आत्मा का ज्ञान होता है । अतः रत्यादि के अनुभव काष्ठ में आत्मा के विबुध स्वरूप का मान नहीं होता है । इसलिए वहाँ 'आत्मा' को स्थायीभाव माना असम्भव है वा कल्पित । यदि वहाँ आत्मा का साक्षात्कार मान लिया जाय तो वह रत्यादि का पोषक न होकर विरोधी हो जायगा । अतः केवल ज्ञान्तरस में ही 'आत्मा' को स्थायीभाव माना गया है ।

रत्यादि के आस्वाद की अपेक्षा ज्ञान्तरस के आस्वाद के विरुद्ध होने के कारण उसकी पुष्कृ मणना की गई है । ठीक में आत्मा के स्वरूप की प्रतीति केवल ज्ञान्तरस में ही पुष्कृ रूप से होती है अर्थात् ठीक अनुभवों के काष्ठ में वितवृत्तियों का सारूप्य होने से विबुध आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती है ।

१- तेनात्मैव ज्ञानानन्दविबुधकर्मयोगी परिकल्पितविषयीयरहितोऽत्र स्थायी ।

† (अभिनवमार्त्ती पृ० ६२३ ।)

निर्विकल्प क्वापि काष्ठ में विबुध आत्मस्वरूप की अनुमति होती है, परन्तु व्युत्थान काष्ठ में (क्वापि से उठने पर) फिर वृत्ति आरम्भ क्वात् विषयवृत्तियों से क्लृप्त रूप में ही आत्मा की प्रतीति होती है । वृत्तिशून्य रूप में अज्ञ प्रतीति नहीं होती है, इसलिए स्थायीभाव के रूप में आत्मा की गणना अज्ञ नहीं की गई है । किन्तु शान्तरूप में आत्मा की पुष्क प्रतीति होती है । अतः शान्त रूप अज्ञ माना गया है ।

आत्मा को शान्तरूप का स्थायीभाव मानने वाले आचार्य तमिःकमुष्ण कहते हैं कि यदि उस 'आत्मा' का ज्ञान या निर्वेद शब्द से व्यपदेश किया जाय, तो कोई व्यापति नहीं । आत्मा का स्वरूप तत्त्वज्ञान या श्रुता रूप है । किन्तु वाच ही यह भी कहते हैं कि 'ज्ञान' या 'निर्वेद' वित्तवृत्ति मात्र है, अतः आत्मा ही शान्तरूप का स्थायीभाव है ।

१- यदि तु त्व एव ज्ञान उच्यते अपदिश्यते निर्वेद उच्यते वा तन्न कश्चिद् वाचः

(तमिःकभाष्यी पृ० ६२६)

२- यहाँ एक तत्त्व व्यपदेश है कि तमिःकमुष्ण आत्मा को शान्तरूप का स्थायीभाव कैसे कह रहे हैं ? क्योंकि किसी भी रूप का स्थायीभाव कोई भाव ही हो सकता है । आत्मा तो भाव नहीं है । यद्यपि वाच ही तमिःकमुष्ण बड़ी कुतूहल से यह भी कहते हैं कि - आत्मा को ज्ञान या निर्वेद से व्यपदेश करने से कोई हानि नहीं है । तथापि आत्मा को ज्ञान और निर्वेद के समानान्तर मानना उचित नहीं है ।

यदि तमिःकमुष्ण, आनन्दवर्मी के शान्तरूप के स्थायी भाव को ठीक से समझ लें तो प्रस्तुत स्थल पर कोई श्रुति नहीं रहती । आनन्दवर्मी ने 'तुच्छादायक' को शान्त का स्थायीभाव माना है । अतः समस्त तुच्छाद आत्मा के ही कारण होती हैं । निर्वेद उचित में, जिसमें आत्मतत्त्व ही नहीं होगा, उसमें तुच्छादों का व्याप होना ही । अतः तुच्छादों का मूल आत्मा है । तुच्छादों का ज्ञान भाव ही वाचा है तब आत्मा ही उच्य रह जाती है । इस आत्मा के प्रति जो कुतूहली भावना है, वही है शान्तरूप का स्थायीभाव । इसे चाहे आत्मरति कहें या आत्ममानन्द या आत्मसुख - इनमें से आत्मरति सर्वाधिक उचित होगा । यही आनन्दवर्मी के शब्दों में - 'तुच्छादायक' है । सुख का प्रयास रति भी है । अतः यदि तमिःकमुष्ण केवल आत्मा को स्थायीभाव कहने के स्थान पर आत्मरति को ही शान्तरूप का स्थायीभाव कह दें तो उनके ऊपर आक्षेप का कोई अवसर नहीं आता

अभिनवगुप्त ने शान्तरस का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है :-

ईश्वरानुगुह्यं वापि शान्तरस के 'विभाव' होते हैं, कम, भिन्न, अनुभाव और
तौक्तिक एवं अतौक्तिक वितवृत्तियों का अनुभाव 'व्यभिचारिभाव' है तत्त्वज्ञान रूप
'स्वादीभाव' शान्तरस कहलाता है ।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि बाठ रसों के अतिरिक्त नवां शान्तरस भी है ।
उसकी पूर्ण गणना न करने का कारण अभिनवगुप्त बताते हैं - शान्तरस सब
रसों में समान रूप से रहता है । सभी रस शान्त से उत्पन्न होते हैं और अन्त में
शान्त में ही उनका उदय होता है । सभी रसों का वास्वाय प्रायः शान्त के रूप
में ही होता है । अन्तर मात्र इतना है कि अन्य रसों की प्रमाणात् होने के
कारण शान्त अन्य वाचनार्थों में उपस्थित रहता है । किन्तु, सब रसों के मूल में
शान्त रस ही रहता है । इसके प्रमाणार्थ अभिनवगुप्त अपने गुरु भी उत्पत्तावार्थ
के प्रत्यभिज्ञापक्ष में एक श्लोक उद्धृत करते हैं -

उपष्टानामिह देवानां भृंगारादीन् प्रवर्जयेत् ।

मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥ इति

आः मोक्ष की प्राप्ति के कारण प्रवृत्त, तत्त्वज्ञान रूप हेतु से युक्त और
निःकैम्य रूप पक्ष से युक्त-शान्तरस को स्वीकार करना चाहिए ।

समीक्षा -

यहां एक तथ्य विशेष रूप से अवश्य है कि अभिनवगुप्त शान्तरस
को रसरास मान रहे हैं, तथा सभी रसों का उद्भव और उदय भी शान्तरस को
कहा रहे हैं । इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य है । शान्त रस का प्राधान्य प्रति-
पादित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

१- कम-अपेक्षा, कल्प, वास्तेय, प्रत्यर्थ, अपरिगुह ।

भिन्न- शीघ्र, अन्तरीय, तपस्, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान । योगसूत्र-२/३२-३३

२- अभिनवमासी पृ० ६१५-६३०

३- एवं एवं निमित्तमादाय शान्तापुत्पत्तौ रसः ।

पुरविनिर्दिष्टायां तु शान्त रस प्रतीयते ॥ -श्री० पृ० ३६१

- (१) मोक्षकालेन वायं परमपुरुषादीनि ह्यन्वात्स्वरूपेभ्यः प्रमाणतः^१
 (२) तत्र स्वीयानां हान्तप्राय स्वास्वादी^२

इस कथन के पीछे, अमिनवगुप्त के स्वभाव में निहित कुछ दार्शनिक प्रवृत्ति की प्रतिबिम्बित हो रही है। क्योंकि यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि अमिनवगुप्त शैव दर्शन के पूर्ववर्त्य आचार्य हैं। अतः उनके रस-सिद्धान्त का दार्शनिक भावों से प्रभावित होना समीचा स्वाभाविक ही है। उनके काव्यशास्त्रीय एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का मंडुक समन्वय 'रस स्वल्प विवेचन' में पूर्ण परिपक्वा अवस्था पर हुआ है। अमिनवगुप्त के अनुसार रस का अर्थ है - 'निर्विघ्न आत्म प्रीति' और यही हम की परिभाषा है। अतः प्रत्येक रस का क्याविधान हान्त में होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। अमिनवगुप्त का आनन्दवाद आत्मा की इस निर्विघ्न प्रीति को उच्च आनन्दरूप मानता है। वस्तुतः अमिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर, - 'भावाः विकारा रत्वाभाः हान्तस्तु प्रवृत्तिरिति'। इस पर विप्रतिपक्ष का कोई अस्काह ही नहीं रस बताता।

इसी प्रकार आचार्य अमिनवगुप्त हान्त रस को रसराज मानते हैं। उनके अनुसार मोक्ष रूप फल देने वाला हान्तरस जब रसों में प्रधान है। किन्तु रस की प्रधानता के विषय में आनन्दवर्मी और अमिनवगुप्त में वैमत्य दिखाई पड़ता है। क्योंकि अमिनवगुप्त जीवन में 'हान्त' को प्रधान रस मान रहे हैं। जब कि आनन्द-वर्मी ने 'भुंजार-रस' को प्रधान कहा है।

भुंजार रस में विरोध-अविरोध का निष्पण-

ध्व० २।३० में भुंजार विरह रस में उसके अंगों का स्पर्श प्रथित नहीं होता - इस तथ्य का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्मी कहते हैं -

१- उ० पृ० १७

२- अमिनवगुप्ती पृ० ६३५

३- भुंजाररसः..... स्वीरूपेभ्यः..... प्रधानतः - ध्व० पृ० ३६७

शृंगार के विरुद्ध रसों में, शृंगार के रसों का जो स्पर्ध है, वह न केवल अविरुद्ध
उपायों का जो होने पर अव्यभिचार रहता है, बल्कि शिष्यों को उन्मुख करने
के लिए अपना काव्य की शोभा के लिए, ^{उपनिबन्धित} किया जाने पर भी दूषित नहीं होता।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त कारिका में 'वा'पद का प्रयोग 'अप्य'
अर्थ में किया है। और दो तर्कों को पुनः-पुनः कहा है - (१) शिष्यों को
उन्मुख करने के लिए, अप्य (२) काव्य शोभा के लिए। इन दोनों को अलग-
अलग वृत्ति में स्पष्ट भी किया है -

(१) 'विनेयानुन्मुखीकृ' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'शृंगाररागैरनुमुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः कुर्वन् विनेयोपदेशान् ब्रूहन्ति।

उदाहारोपदेशक्या हि नाटकादिमोक्षी विनेयवन्ति ताकीव मुनिविरच-
तारिवा ।'

(२) 'काव्यशोभार्थ' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'किं न शृंगारस्य उच्छ्रयमनोहराधिरान्तवाचनं समावेष्टः काव्ये शोभा-
तिष्ठत्यं पुष्कलीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनी रवे शृंगारांगमावेष्टो
न विरोधी'।

किन्तु अभिनवगुप्त 'विनेयानुन्मुखीकृ' और 'काव्यशोभार्थ' को पुनः पुनः
न मान कर दोनों को मिठाकर इस प्रकार अर्थ करते हैं - शिष्यों को उन्मुख
करने के लिए जो काव्य की शोभा है इत्यादि। और 'वा'पद की व्याख्या
करते हुए कहते हैं -

'वागुच्छ्रयं वदन्तान्तरमुच्यते । तदेव व्यावष्टे - न केवमिति ।

वाग्व्यवष्टेयत्वात्त्वानम् । ----- विनेयानुन्मुखीकृ या काव्यशोभा तदयमपि
वा विरुद्धमावेष्टः न केवत् पूर्वोक्तिः प्रकारेः, न तु काव्यशोभा विनेयानुन्मुखी-
करणमन्तरेणास्ती, व्यवधानाव्यवधाने नापि उच्येते क्वान्येव्यवस्थाते ।' इति

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मन्तव्य को उस रूप में व्याकृत नहीं किया जिस अभिप्राय से आनन्दवर्धन ने उसे यहां रखा था । अतः अभिनव का ३।३० की लोचन व्याख्या आनन्दवर्धन के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करती । अभिनवगुप्त ने उसे अपनी ही माँक में कुछ अटपटे ढंग से प्रस्तुत किया है ।

कककु के अर्थान्तर प्रतीति के स्थल में गुणीभूतव्यंग्यत्व -

आनन्दवर्धन ने काकु का विवेचन ध्व०३।१८वीं कारिका में किया है ।
 आनन्दवर्धन काकु को ~~अविवक्षितसंज्ञक~~ गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत मानते हैं ।
 क्योंकि काकु से जो अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है , उसमें व्यंग्य अर्थ का
 गुणीभाव हो जाता है । और, यह सिद्धान्त है कि जो 'व्यंग्य' से विशिष्ट वाच्य
 का प्रधान रूप से अभिधान करने वाला काव्य गुणीभूतव्यंग्य है ।'

तदनन्तर, गुणीभाव को दिखाने के लिए शब्द की स्पष्टता को सिद्ध करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि ^२ अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु काकुमात्र ही नहीं है । वरन् शब्दशक्ति अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आदिप्राप्त काकु की सहायता से अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति कराती है । और वह अर्थ सामर्थ्य से प्राप्त होता है , इस लिए व्यंग्य रूप ही है । किन्तु जब उस व्यंग्य विशिष्ट वाच्य की प्रतीति, वाचकत्व के अनुगमन से होती है, तब उस प्रकार के व्यंग्य हर्ष का द्योतन करने वाले काव्य को गुणीभूत व्यंग्य कहा जाता है । इसका उदाहरण देते हैं -

‘स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः’।

वेणिसंहार का सूत्रधार कहता है 'घृतराष्ट्र पुत्र स्वस्थ हों'। इसे सुनकर भीमसेन क्रुद्ध होकर कहता है - 'मेरे जीते जी घृतराष्ट्र पुत्र स्वस्थ हो सकते हैं' ? भीमसेन की इस उक्ति से स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्थ नहीं देखना चाहता। उसके इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने पर्याप्त अत्याचार

१- अथान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।

सा व्यंग्यस्य गुणनिभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥ ध्व० ३।३८

२- दु० धव०पू० ४७७-४८० ।

किर हैं । किन्तु ये सब सर्व स्पष्टतः काबु स्वर से निकल रहे हैं । अतः यहाँ गुणीभूतव्यंग्य है ।

वाचस्पत्यकर्म ने शाकांश और निराकांश काबु का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु, अमिनकमुष्ठा ने नरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ठोपन में शाकांश और निराकांश काबु के दो भेद माने हैं । और वाचस्पत्यकर्म द्वारा उद्धृत उदाहरणों की व्याख्या के लिए शाकांश और निराकांश काबु का प्रयोग भी किया है ।

अमिनकमुष्ठा ठोपन में कहते हैं -

‘अन्ये त्वाबुः - व्यंग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्व-
मेवेति । तज्वाबु, काबुभूतौ सर्वत्र शब्दश्रुत्येन व्यंग्यस्योन्मीलितत्वापि गुणी-
भावात्, काबुर्हि शब्दस्यैव करिष्यन्तीतेन स्पृष्टं ‘यौर्ध्वं मक्षिः लोहम्’ इति
‘सन्मीत्रापि तापूतम्’ इतिवच्चर्चनैवानुमुहीतम् ।

यहाँ अमिनकमुष्ठा दो बातें कहना चाह रहे हैं -

(१) पहला तत्त्व यह है कि जो वाचार्थ यह मानते हैं कि काबु के व्यंग्य का गुणी-
भाव होने पर ही गुणीभूतव्यंग्य होता है अन्यथा व्यंग्य का गुणीभाव न होने
पर काबु में ध्वनित्व भी सम्भव है - यह मत ठीक नहीं ।

(२) दूसरा तत्त्व यह है कि ^{काक} केवल शब्द का ही अर्थ है ।

(१) यहाँ अमिनकमुष्ठा अन्ये, किन्तु के लिए कह रहे हैं ? उन्होंने किसी का नामो-
लौह नहीं किया है ^{सम्भवतः पूर्व के} वाचिपुत्रादि टीकाकारों का ही मत रहा होगा । वाचार्थ
वाचस्पत्यकर्म ने भी काबु का उल्लेख केवल मुष्कसि गुणीभूतव्यंग्य के ही अन्तर्गत
किया है ।

वाचार्थ यम्पट काबु को वाची व्यंजना के अन्तर्गत भी मानते हैं और
गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर्गत भी । ‘तथाभूतां दृष्ट्वा नृपस्यसि’ इत्यादि
उदाहरण को काबु के कारण पूर्व अव्यक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण माना है ।

समन्तर मुष्टि में लिखते हैं - 'यहां मेरे ऊपर रोष करना उचित नहीं है ।

कोरवों पर रोष करना उचित है, यह काटु से प्रकाशित होता है । यहां पर यह उंका नहीं करनी चाहिए कि वह काटु - वाक्य की विधि का काम है । इसलिये मुष्ठीमूलव्यांग्य काव्य है । क्योंकि, यहां प्रथमात्र में ही काटु की विमान्ति की जाती है । उल्लेख व्यांग्यार्थ बाधित नहीं होता ।

मुष्ठीमूलव्यांग्य के अन्तर्गत काव्यवाचिता का उदाहरण - 'मन्त्राणि कीरवर्ज-
कानि न कोपात्' दिया है ।

यहां उंका होती है कि वाचार्थ ज्ञानन्वयके ने भी मन्त्रवचनार्थ की ही तरह काटु की ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत बाधों व्यांग्य कहीं नहीं कहा ? केवल मुष्ठीमूलव्यांग्यकाव्य के ही अन्तर्गत माना ?

(२) यद्यपि ज्ञानन्वयके ने काटु का उल्लेख केवल मुष्ठीमूलव्यांग्य के ही अन्तर्गत किया है किन्तु उसे केवल उक्त का ही कर्म नहीं कहा है बल्कि उक्त व्यापार से उपाकृष्ट होकर भी अर्थव्यापक उक्त कहा है । किन्तु तमिस्रमुष्ट - काटु की उक्त का ही कर्म मानते हुए कहते हैं - 'काटुर्हि उक्तस्यैव करिष्यकर्मः' ।

ध्वनि-सम्बन्ध -

व्यांग्य कर्म के प्रदान और मुष्ठीभाव के कारण काव्य दो प्रकार होते हैं - ध्वनिकाव्य, और मुष्ठीमूलव्यांग्यकाव्य । किन्तु कभी-कभी वह ध्वनि अपने प्रमेदों से, मुष्ठीमूलव्यांग्य से और वाक्य अंकारों से संकर और संयुष्ट स्वरूपे व्यक्तित्व होने पर उक्त में बहुत प्रमेदों बाधा देता जाता है ।

यथा- ध्वनि अपने प्रमेद से संकीर्ण, और अपने प्रमेद से संयुष्ट, मुष्ठीमूलव्यांग्य से संकीर्ण, मुष्ठीमूलव्यांग्य से संयुष्ट, वाक्य अंकारान्तर से संकीर्ण, वाक्य अंकारान्तर से संयुष्ट, संयुष्ट अंकार से संकीर्ण और संयुष्ट अंकार से संयुष्ट-उक्त प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है ।

१- का०पु० पृ० ८४-८५

२- का०पु० पृ० २१०

३- उपाधेः काटुविशेषकतायकव्यापारोपाकृष्टोऽर्थव्यापकस्य इति व्यांग्य एव ।
ध्व० पृ० ४७६

४- उ० पृ० ४७८

५- ध्व०पु० ५०१

६- वही पृ० ५०४

यहां पर उन्हीं वेदों का उल्लेख करें , जिनमें अग्निवक्नुष ने कुछ नया समस्कार दिखाया होना ।

गुणीभूतव्यंग्यसंकीर्णत्व -

आनन्दवर्मी ने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण का उदाहरण दिया है -

क्तां पूतकृतानां क्षुब्धहरणौदीपनः सौमिनी ।

कुष्णाक्षौत्तरीयव्यपनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।

राजा दुःशास्नादेर्गुरुवृत्तस्यांगिरावस्य मित्रं

क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न कृषा दृष्टुमध्यागता स्वः ॥^१

यहां वाक्याभिहित अलङ्कारव्यंग्य की 'व्यंग्यविशिष्ट वाच्य' का अभिमान करने वाले पदों के साथ सम्मिश्रणता है । और वहीछिए गुणीभूतव्यंग्य के पदाभिहित होने में और ध्वनि के वाक्याभिहित होने में संकीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रेम की भांति विरोध नहीं है ।

अग्निवक्नुष ने इस पद्य में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण पर और भी अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है । और कहा है - दोनों उदाहरणों - 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदस्यः' इत्यादि में और 'क्तां पूतकृतानां' इत्यादि में , अनुग्राह्यानुग्राह्यता है, उन्वेष्योन्वेष्य है और एक व्यंग्यकानुप्रेक्ष्य है यथासम्भव योजना कर लेनी चाहिए ।

वाच्यार्थकार संकीर्णत्व-

ध्वनि का वाच्य अर्थकारों से जो मिश्रण होता है वह अलङ्कारव्यंग्य के उन उदाहरणों में तो बहुत ही स्पष्ट रूप से सुझ है जिनमें रस भी रहता है और अर्थकार भी । जैसे आनन्दवर्मी का निम्नलिखित पद्य -

१- ध्वनि पृ. ५०४

२- ध्वनि पृ. ५०५

३- वा अनुग्राह्यानुग्राह्यतावेन उन्वेष्योन्वेष्यकानुप्रेक्ष्येति यथासम्भवमुदाहरण-
इति बोध्या । ध्वनि पृ. ५०५

४- ध्वनि पृ. ५०५-५०६ ।

या व्यापारकती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां यवा
दृष्टिर्वा परिनिष्कृतावीविनयोन्मेषा य वैवशिवती ।

ते हे अथ्यवत्तम्य विवमनिष्ठं निर्वीज्यन्तो यव

मान्ता नैव य उज्ज्वलविज्ज्वल त्वन्मतिगुत्वं कुम् ॥^१

यहां विरोधात्मक है अत्यन्तिसंयुक्तवाच्य(नामक) ध्वनि है प्रमेय का संकर है ।

अभिनवगुप्त ने इस पद के प्रत्येक पद का सूत्र बन कर दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया है ।

वाच्यार्त्तकारसंयुक्तत्व-

वाच्यार्त्तकार की संयुक्ति पद की अपेक्षा से ही होती है । क्योंकि इसमें कुछ पद वाच्य वर्त्तकार युक्त होते हैं और कुछ ध्वनि प्रमेययुक्त । यवा -

वीवीकुम् पटु मवक्तं वृक्षिं वारसानां

प्रत्युम्बु स्फुटितकलामोदमैत्रीकथायः ।

यव स्त्रीणां हरति दुरतन्ताभिर्मानुषुः

विप्रावातः प्रिक्तम एव प्राप्तीवाटुकारः ॥

यहां 'मैत्री' पद में अविवक्षितवाच्य ध्वनि है । क्योंकि मैत्री पद तादा-
त्मिक पद है । उसका अर्थ है मित्रता । यह प्रेमान का अर्थ है । पवन कहें हैं ।
कतः यह अर्थ पवन में अव्यक्त होने के कारण उसे इस अर्थ की होड़ना पड़ता है
और मल्ल सम्पर्क रुपी दूसरा अर्थ अपनाता होता है । फलतः मैत्री पद
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का स्वतः है । दूसरे पवन की श्रुतः प्रिक्तम की
उपमा दे दी गई है । कतः यहां अन्य वर्त्तकार भी सम्भव हैं । यहां एक और
ध्वनि है दूसरी और वर्त्तकार हैं । उही कारण यह वाच्यार्त्तकार और ध्वनि

१- ध्व० पृ० ५००-५०६

२- तदर्थं दृष्टव्यं तौ० पृ० ५०८-५१०

३- ध्व० पृ० ५१०-५११

की संकुष्टि का स्थल है ।

अभिनवगुप्त ने इस पक्ष की अत्यन्त विस्तार से व्याख्या की है और इसमें उत्प्रेक्षा, सम्भावोक्ति, सम्पत्कोपमा को भी कुन से स्वीकार किया है ।

अभि संपुष्टालंकार भिन्न -

यथा-

बहिष्णवस्वोत्तरक्षिप्तु पक्षिस्तामाहसु पिवसेषु ।

सौख्य पदारिबनिवाणं जलिवं मोरवन्दानं ॥

‘छोवन’ के अनुसार इसकी संस्कृत भाषा दो प्रकार की होगी -

(१) अभिनव-प्रयोग-रक्षिषु पक्षिस्तामाहसु पिवसेषु ।

छोवो प्रवारितग्रीवाणं नर्तनं मयूरवन्दानाम् ॥

इन अभिनव के प्रयोग से बारह दिनों में इन पक्षि का सामाजिक का कार्य करते हैं तो मयूरों की टोहियों का शीवा केछा केछा कर नृत्य करना बड़ा ही सुहावना लगता है ।

(२) अभिनव-मयोप - रक्षिषु पक्षि-स्तामाहसु पिवसेषु ।

छोवो प्रवारितनीतानां नर्तनं मयूरवन्दानाम् ॥

नर-नर बादलों की नलुनडासट से मरी (अतएव) पक्षियों के छिए श्यामा रात्रि का कार्य कर रहे इन दिनों में मयूरों की टोहियों का बोर-बोर से नाकर नाचना बड़ा ही सुहावना लग रहा है ।

यहाँ पक्षियों पर सामाजिक का आरोप ‘स्पर्क’ को क्या रहा है तथा पक्षियों के छिए दिवसों का श्यामा रात्रि के समान वापरण करना उपमालंकार को । इसी प्रकार ‘निवाणं’ का - ‘ग्रीवा’ तथा ‘नीत’ - इन दो व्यों को दे रहा है, इसमें श्लेष है । तथा प्राकृत शब्दों - ‘बहिष्णव’ और ‘रक्षिषु’ में कुमलः अभिनव एवं अभिनव तथा रक्षिषु एवं रक्षिषु शब्द गुये हुए हैं ।

इसमें भी श्लेष है । इस कारण उनसे निकलते एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोप भी हो रहा है । फलतः इसमें एक रूपक की प्रतिष्ठा मिट रही है । इस प्रकार प्रस्तुत पद में उपमा भी है और रूपक भी है । वानस्पयकी इन दोनों अर्थकारों में परस्परनिरपेक्षता देखते हैं । काः वे इसे संयुष्ट का स्पष्ट स्वीकार करते हैं । इनसे मयूर और कर्कों का साम्य कुरणमय्य व्यंग्यार्थ के रूप में फुट हो रहा है और पोषण भी पा रहा है । फलतः यहाँ ध्वनि की संयुष्ट अर्थकारों से संयुष्ट मानना होना ।

अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत पद में संकीर्णातिंकारसंकीर्णत्व और संकीर्णातिंकारसंयुष्टत्व माना है क्योंकि लोचनकार के अनुसार यहाँ पक्षि सामासिक और पक्षि-श्यामासित-शब्दों को देने वाले पक्षिवानाशब्दु शब्द में उपमा और रूपक का सम्बन्ध है । इसी प्रकार इसी अर्थ को लेकर 'अक्षिणतपत्रोद' से जो अर्थ व्यक्त हो रहा है, वह इन दोनों के सम्बन्ध है संकीर्ण है । फलतः यह संकीर्णातिंकारसंकीर्ण ध्वनि का स्पष्ट है ।

तदनन्तर, अभिनवगुप्त संकीर्णातिंकारसंयुष्टत्व प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक बलवन्त एवं ठोका हुआ विवेचन करते हैं -

'अभिनवप्रयोगरक्षि' तथा 'अभिनवकपोटरक्षि' शब्दों का 'अक्षिणतपत्रोदरक्षि' शब्द से उद्भव हो रहा है तथा प्रसारितगीतानां एवं प्रसारितगीतानां का 'प्रसारि-अभिवाण' शब्द से उद्भव हो रहा है, इन दोनों अर्थों में संकीर्णता है, अनुमाह्या-नुमाह्य भाव नहीं । 'पक्षिवानाशब्दु' इस पद में संकीर्ण इन उपमा और रूपक से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का संकर एकत्रयंकानुप्राय है । इस प्रकार, संकीर्णातिंकार संयुष्ट और संकीर्ण से संकीर्ण है । अस्तु इन दोनों में से कोई भी स्वीकारना चाहिए ।

यहाँ 'कपोटरक्षि' वापि पद शब्दपरिवृत्त असम्भव है काः उन्हें शब्दशक्तिमूलक मानना होना ।

१- डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने यहाँ कपोतशक्ति अर्थकार सुझाया है । और कहा है - वस्तुतः यहाँ कपोतशक्ति अर्थकार है । मयूरवृन्द इस विशेषवाचक पद में श्लेष नहीं है । श्लेष सभी पदों में श्लेष है । फलतः अभिनव का मयूर-वृन्द पर आरोप प्रतीत होता है । ^{आनन्दवर्धन} पृ० २२५ ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि की स्थिति निश्चित भी रहती है । इस प्रकार ध्वनि के मेद-प्रमेद असंख्य हैं, गणनातीत हैं ।

ध्वनि मेद संख्या -

यहां तक ध्वनि के मेदों की संख्या का पुरन है ज्ञानन्दवर्मी केवल बताता कहते हैं =

एवं ध्वनेः प्रमेदाः प्रमेदमेदाश्च केन जनयन्ते ।

संख्यातु विद्वन्नात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥

किन्तु कश्चिन्नमुक्त बड़े ज्ञान से ध्वनि मेदों की गणना करते हुए लिखते हैं-
ध्वनि के अपने मेदों के साथ, गुणीकृतध्वन्य के साथ, अङ्गारों के साथ प्रकाशित होता है, यह तीन मेद हुए । अङ्गर के भी तीन प्रकार हैं - अनुग्राह्यानु-
ग्राह्य भाव से, सम्बेदात्मक होने से और सम्पदानुप्रवेश से । इस प्रकार बारह मेद हुए और पहले जो पैंतीस मेद कहे जा चुके हैं वे गुणीकृतध्वन्य के भी गानने चाहिए ।
वे पैंतीस अपने प्रमेद अङ्गार में भी, इस प्रकार एकस्तर मेद हुए । यहाँ तीन अङ्गर और संवृष्टि में गुणन करने पर २८४ मेद हुए । उनके साथ पैंतीस मुख्य मेदों का गुणन करने पर ७४२०^१ से अधिक होने । तथा अङ्गारों के ज्ञानन्त्य से ध्वनिमेद असंख्य हो जाता है ।

ज्ञानन्दवर्मी ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी ध्वनि मेद, प्रमेदों की कोई निश्चित संख्या का निवेश नहीं किया है ।

१- ध्व० ३१४४

२- लौक पु० ५०९-५०८

**जीवन व्याख्यान में आरंभ हुए नामक, नामक प्रकृति वाचार्थों के मत की
दृष्टि में रखी हुए विरहेषण**

वाचार्थ वाचन्यवर्ग ने प्रथम उद्योत की तृतीय कारिका में प्रतिज्ञा कर ली है कि - 'काव्यात्मक सप्तदशरात्र्याः ^{उत्तर} - वर्ष के वाच्यार्थ का विस्तृत विवेचन नहीं करेंगे, क्योंकि ^{उत्तर} उपमादि प्रसिद्ध प्रकारों का पूर्ववर्ती वाचार्थों ने बहुत व्याख्यान किया है। अतः उपमादिनुसार अर्थात् ध्वनि स्थापना के प्रसंग में उनका अनुसन्धान मात्र करेंगे'।

किन्तु, वाचार्थ वाचन्यवर्ग कहीं कहीं अवसर पाकर, पूर्व के वाचार्थों के ग्रन्थों से कौं प्रयोगों के साथ ^{उत्तर} उदाहरण उदाहरण हाट-हाट कर अपने व्याख्यान की प्रतीति ध्वनिकार के ही अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर प्रायः ध्वनिकार के मत की दृष्टि ही जाती है। किन्तु, कभी कभी ध्वनि-कार के मत की दृष्टि होने की अवस्था, उल्टे पूर्ववाचार्थों के कथन का मूल्य घट भी जाता है। तदर्थ नामक, उपपद, वाच्यतादि के कथन, जो जीवन में यत्र तत्र विकीर्ण हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए विरहेषण करें।

१. प्रथम उद्योत में ध्वनिविरोधी क्वाकवाद को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए वाचन्यवर्ग कहते हैं -

‘व्यक्त वाच्यत्वेऽनुप्रासादि और व्यक्तवाच्यत्वेऽनुप्रासादि हैं और संयोजना-र्थ नाम्नादि गुण हैं। इन गुणांतरों से अस्मिन् रखने वाली वृत्तियां और रीतियां हैं, जो किन्हीं वाचार्थों द्वारा उपमापरिभाषादि और वैदमी आदि नामों द्वारा कही गई हैं।’

१- सप्त वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकाररूपनादिविधिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्येः -

काव्यव्यक्तिवाचिविधिः ।

- ततो नैव प्राम्बो ॥

केवलमन्यो पुनर्विधीयमानमिति । ध्व० १॥१

२- ध्व० पृ० १५-२० ।

आनन्दवर्धन ने पूर्वोक्त के रूप में ज्ञाना की प्रतिपादित किया है, किन्तु अभिनवगुप्त यह भी ज्ञाना वाक्यो हैं कि वे वाचार्थ कोन हैं, किन्तुने गुणाङ्कार से अभिन्न उपनागरिकादि वृत्तियां और वेदनीं आदि रीतियां प्रतिपादित की हैं। अतः 'नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यवतिरिक्तत्वं किञ्च' इह छिद्वान्त को छिद कर इसकी पुष्टि हेतु कहते हैं - अनुप्रासादि से वृत्तियों के पुष्प न होने के कारण ही मायस ने वृत्तियों का पुष्प व्यवहार नहीं किया है।

उद्भटादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु, अनुप्रासादि से अभिन्न रूप में ही। तदर्थ अभिनव उद्भट के काव्याङ्कारसारसंग्रह का प्रमाण देते हैं -

उपपद्यंकाव्यासं तिवृष्णैतासु वृत्तिषु ।^१

पयिपुष्पानुप्रासमुदन्ति कवयः उवा ॥

नागरिका, उपनागरिका और ग्राम्या - इन तीनों वृत्तियों में तृतीया व्यंजनो के उपनिबन्धन द्वारा पुष्प-पुष्प अनुप्रास होते हैं। उवा यह वृत्ति नागरिका कहलाती है, जो पराज्य वर्णों से युक्त होने के कारण पराज्यानुप्रास होती है। मधुजा(स्निग्ध) वर्णों के अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका कहलाती है। इसे छछिता भी कहते हैं। मध्यमा संज्ञक तृतीया वृत्ति ग्राम्या कहलाती है, क्योंकि ग्राम्य वनिता की भांति यह भी तैदम्बविहीन होती है, उसमें न कुम्भारता ही होती है और न पराज्यता ही। मट्टोद्भट के अनुसार ग्राम्यावृत्ति की उद्भ जय में कोमला संज्ञा भी है। इस प्रकार पराज्यानुप्रास - नागरिका, मधुजानुप्रास- उपनागरिका और कोमलानुप्रास ग्राम्यावृत्ति होने के कारण ही वृत्तियों को अनुप्रास की जातियां ही कहा गया है। उपरिष्ठ ने अनुप्रास से पुष्प नहीं रखती।

इस प्रकार कवयि उद्भटादि वाचार्थों द्वारा वृत्तियों का विवेचन किया गया है किन्तु छीवनकार उद्भट के विवेचन को नमज्य मानते हुए, आनन्दवर्धन के-

१- उवा पृ० १६

२- काव्याङ्कारसारसंग्रह १।८

३- वृत्तिः उवा कोमलसंज्ञा च मट्टोद्भटोक्तं दक्षिता (वाचस्पत्या पृ० १८)

‘गताः कवणानोवरमिति’ इस अंश के अभिप्राय वे करते हैं - ‘उद्भट्टादि द्वारा वृत्तियों के प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक तर्क हृदयवश पर अस्वीर्ण नहीं होता’ - अभिनव के इस प्रकार कहने पर एक तो उद्भट्ट के व्याख्यान का महत्त्व घटता है। और दूसरा, यदि अन्त में अभिनव को उद्भट्ट के कथन को महत्त्वहीन ही करना था तब फिर उन्होंने क्यों वृत्तियों को अनुप्रास की बातियाँ छिद करने के लिए उद्भट्ट की ही उरण की ? कब अपने कथन की पुष्टि के लिए कोई बाधार्थ नहीं मिला तो उद्भट्ट के कथन को उद्धृत कर दिया, अपना प्रतीक छिद ही जाने पर अन्त में कह दिया - ‘वृत्तियों के प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक तर्क हृदयवश पर नहीं होता’।

यदि रेखा ही था तो आनन्दवर्धन के समान अभिनव भी ‘उद्भट्ट’ का नाम न लेते।

:२: इसी प्रकार ध्वनिविरोधी मातृवादि के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने किसी मातृवादी बाधार्थ का नामोल्लेख नहीं किया है। किन्तु अभिनवगुप्त यह शोक निकालते हैं कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में कौन से बाधार्थ हैं जो अनुस्यू वृत्ति का द्वारा काव्य में व्यवहार करते हैं और ध्वनिमार्ग का किंकि स्पर्श कर रहे हैं और। अभिनव ने इसके लिए मट्टोद्भट्ट और वामन के कथन को उद्धृत किया है।

‘ननु कैतदुक्तं ध्वनिगुणवृत्तिरित्याहंवाह..... मट्टोद्भट्ट वामनादिना । नामकैतौक्तं - शब्दार्थद्वयोपिधानायाः इति अभिवानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं मट्टोद्भट्टो वदाम् - ‘शब्दानामभिवानमभिव्याप्यारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च’ इति । वामनोऽपि ‘वापुश्याल्लक्षणा कौटिलिः’ इति ।

यहाँ पर अभिनवगुप्त अक्षरवादियों को ही मातृवादी^{भी} बना रहे हैं। आनन्दवर्धन की दृष्टि में न जाने कौन मातृवादी बाधार्थ थे। और फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से कह भी दिया है - ‘परिकल्प्यमुक्तम् - मातृमातृस्तमन्ये इति’। यहाँ पर अभिनव का स्पष्टतः आनन्दवर्धन पर स्वाभिमतारोप है।

१- श्लो० पु० ३१

२- श्लो० पु० ३२ ।

:३: कर्तारों में (जहाँ वाच्य वाचक भाव में) ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले कर्तारवाधियों को , ध्व० १/३ की पुष्टि में उतर देते हुए आनन्दवर्मी कहते हैं -

अर्थ- व्यंजक भाव पर साक्षि , ध्वनि का वाच्य-वाचक के वाक्यत्व हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । क्योंकि , जहाँ वाच्य एवं अपने को मुष्णित करके, व्यंग्यार्थ की प्रमानता अभिव्यक्त करता है - वह ध्वनि का विषय है । जहाँ तु व्यंग्यार्थ की प्रमानता होने पर ही ध्वनि होती है । कर्तारों में व्यंग्य के प्राधान्य का अभाव होता है । अतः प्रमानता वाच्य की ही होती है। उनमें व्यंग्य एवं का कोई महत्त्व नहीं होता । अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता । इस तथ्य की पुष्टि के लिए - समाधोक्ति, आरोप, अनुक्तनिमित्त-विशेषोक्ति, कथोक्ति, व्यङ्ग्युक्ति, दीपक, संकराकर्तारवादि ऐसे कर्तारों का विवेचन किया गया है - जहाँ व्यंग्य एवं रहते हुए भी प्रमानता वाच्य की रहती है । आनन्दवर्मी ने इन कर्तारों का उदाहरण नहीं दिया है , क्योंकि उन्होंने पहले (ध्व० १/३ में) ही निश्चय कर लिया है कि 'उपमादि कर्तारों का अन्य वाच्यार्थों ने बहुत व्याख्यान किया है । अतः उनका प्रतिपादन नहीं उ करेंगे ।
उपयोगानुसार उनका अनुवदन मात्र कर देंगे । किन्तु केवल अभिव्यक्त ने 'बाधोक्त' में बार-बार कर्तारों का उदाहरण और उदाहरण पूर्वकी वाच्यार्थों के मूल्हों से देकर अपने 'उपम' को सम्पन्न किया है । उसी जीवन के स्वरूप में भी अभिवृद्धि हो गई है ।

:३ क: आनन्दवर्मी ने कई प्रथम समाधोक्ति का उदाहरण दिया है -

उपोढरानेण विहीतारकं तथा गृहीतं उक्षिप्ता निशामुक्तम् ।

यथा समस्तं तिमिराङ्गुलं तथाऽपुरो पि रागाद्वनज्जिं न उक्षितम् ॥

इसमें व्यंग्य से अनुक्त वाच्य ही प्रधान रूप से प्रतीत हो रहा है , और जहाँ निश्चय और उक्ति ही मुख्य वाक्यार्थ हैं । प्रधान वाक्यार्थ - निशामुक्ति, पर ही नायक नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है । अतः वह ध्वनि का विषय नहीं है - वह आनन्दवर्मी का अभिप्राय है ।

अभिनवगुप्त ब्रह्मन्वयकी के मन्त्रार्थ का स्पष्टीकरण करते हुए सर्व प्रथम 'उपोढरानेण' को गुणीकृतव्यंग्य का स्पष्ट कता रहे हैं और फिर व्यान्तर बताते हुए नामह के समासोक्ति के उदाहरण को उद्धृत करते हैं -

यत्रोक्तं नम्यतेऽन्योऽवस्तत्त्वमानेर्विशेषणैः

वा समासोक्तिरुचिता संक्षिप्तापीया तुतः ॥^१

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत है अतिरिक्त अन्य अर्थात् अप्रस्तुत एवं समान विशेषणों से प्रतीत होता है, उसे विद्वान् ठीक संक्षिप्तापीय होने से समासोक्ति कहते हैं।

अभिनव द्वारा उद्धृत, नामह के इस उदाहरण में, ब्रह्मन्वयकी द्वारा कथित - 'व्यवहार समारोप' की बात नहीं है। कतः अभिनव द्वारा उद्धृत, नामह के रूप में ब्रह्मन्वयकी का सम्पूर्ण अभिप्राय अभिव्यक्त नहीं होता। नामह, उद्भूत दण्डी और बाभन में से किसी ने भी व्यवहार समारोप की बात स्पष्टतः नहीं कही है। दण्डी ने कुछ विस्तृत बता करके की है किन्तु उनके भी अधिक व्यवस्थित विवेचन 'अङ्कारसर्वस्वर' आचार्य शङ्कर ने जो ब्रह्मन्वयकी के परकी हैं किया है। सम्भवतः 'व्यवहार समारोप' की प्रेरणा शङ्कर को ब्रह्मन्वयकी से ही मिली हो।

अभिनवगुप्त, ब्रह्मन्वयकी के मतानुसार उपोढरानेण की व्याख्या करते हैं - यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं है, क्योंकि व्यंग्यार्थ (नायक नायिका का व्यवहार) श्रृंगार रस के विभाव रूप में वर्णित - इन भिन्ना और शक्ति को ही अङ्कित करते हुए, स्वयं अङ्काररूप ही रस जाता है। इस प्रकार विभावक्य वाच्यार्थ- विज्ञाशक्ति द्वारा ही वाक्य की प्रतीति हो रही है।

१- नामह २, ७६

२- (१) अथुना विषणविच्छिन्नवाक्येणाङ्कारद्वयमुच्यते । तत्रादौ विशेषण-
साम्बावष्टम्येन समासोक्तिमाह-(अङ्कारसर्वस्व- पृ० १४०)

(२) विशेषणसाम्बादि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते ।
अवच्छेदकत्वाच्च व्यवहारसमारोपो न तु रूपसमारोपः । रूपसमारोपे
त्ववच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपकफित्वाद्वयमेव । (वही पृ० १४१-१४२)

इसके अनन्तर अभिनवगुप्त 'यस्तु व्यापष्टे' द्वारा अपने किसी पूर्ववर्ती व्याख्याता के मत में दोष-दर्शन करते हुए कहते हैं - 'तथा' अर्थात् निश्चया-यस्य कृत्यम् है और क्योंकि अनेक रात्रि में कृत्य नहीं हो सकता, अतः इस निश्चय-वृत्ति उक्तों द्वारा नायक-नायिका व्यवहार यहाँ उत्प्रेक्षित या कल्पित होने के कारण वाच्यार्थ रूप है, व्यंग्य नहीं। और इसीलिए, यह समावृत्ति है। उस व्याख्याता ने कृत्यांश के 'व्यंग्येनानुक्तम्' पर ध्यान नहीं दिया है।

और, उस पूर्ववर्ती व्याख्या के अनुसार 'व्यंग्येनानुक्तम्' की उपेक्षा करके नायक-नायिका के व्यवहार को अभिप्रेय मानने पर एक दूसरा दोष अभिनवगुप्त यह भी बताते हैं कि - यहाँ एकदेशविवर्तिरूपक होना, समावृत्ति नहीं। क्योंकि अभिप्रेय रूप से नायक-नायिका का कर्म करने पर 'तिमिराङ्ग' पद में तिमिर रूप अङ्ग इस प्रकार रूपक समावृत्ति करना मजेता, जो एकदेशविवर्ति रूपक होना। क्योंकि फिर तिमिराङ्ग पद में दो कर्म चन्द्रश्मियों से किञ्चित् अङ्कार और दूसरा कर्म नवीला वन के योग्य नील वर्ण की बोझी - यह दोनों कर्म नहीं हो सकेंगे। फिर उसमें समावृत्ति नहीं हो सकेगी। जैसे - 'रावणेश्वरीज्यन्त शरदेव वरौ-नुषाः' में तुल्य विशेषणों के अभाव के कारण, समावृत्ति नहीं है। एकदेश-विवर्तिरूपक है।

अभिनव 'समावृत्ति' के पक्ष की पुष्टि के लिए कहते हैं कि समावृत्ति के उदाहरण में अर्थात् व्यापार के निराकरण के लिए 'नभ्यो' पद प्रयुक्त है। अतः यहाँ नायक-नायिका पक्ष को अभिप्रेय मानना युक्ति संगत नहीं। अतः नायिका का नायक के प्रति जो व्यवहार है वह निश्चय में समारोपित किया गया और नायिका के प्रति नायक का व्यवहार वृत्ति में समारोपित है। अतः 'समारोपितनायिकानायकव्यवहारोः' इस कृत्यांश में नायिका और नायक में एकत्रेण (समावृत्ति) का प्रश्न ही नहीं उठता। (अपि व्याकरण के 'पुनानु-स्मिन्' नियम के अनुसार एकत्रेण हो सकता था।)

यह सत्य है कि यहाँ एकत्रेण नियम की उपेक्षा से समावृत्ति का जो

शौन्यत्व का पड़ा है उसे अभिनव की तत्वाभिव्यक्तिद्वारा पुनः पुष्टि ही पकड़ सकी है ।
 अब कि पंडितराय काव्याय इस स्थल पर स्थापित हो गए, उन्होंने वहां लक्ष्य
 कह ही दिया है ।

किन्तु प्रस्तुत स्थल पर आनन्दवर्मा द्वारा कथित कृत्यत्व की पुष्टि में रखी
 हुए - 'यस्तु व्यङ्ग्यत्वे' से लेकर 'नैकैवपुनः' तक का उचित व्याख्यान व्यर्थ का
 विस्तार मात्र प्रतीत होता है । क्योंकि वहां पर आनन्दवर्मा केवल अर्थकार का
 प्रकाश केवल 'अर्थानुक्त वाच्य की ही प्रमाण प्रतीति' दिखाने के लिए प्रारम्भ
 किया है । न कि अर्थकार विषयक विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु । किन्तु
 अभिनवमुखा यह सोच कर कि उनकी अपनी बात भी कहीं अक्षिप्त न रह जाय, वहां
 तनिक भी अक्षय्य मिलता है, अपनी बात कह देते हैं । और जब उसकी संति नहीं
 मिलती, तो प्रायः 'इत्युक्तवान्तरेण बहुधा' कह कर अपने व्याख्यान की जाने
 बढ़ाते हैं ।

३ खः वाच्य अर्थकार के प्रकाश में भी आनन्दवर्मा केवल इतना ही कहते हैं - शब्दों-
 पाठ्य, विशेष अभिवान की इच्छा है, जो प्रतिज्ञेय रूप वाच्य है, वही वाच्यार्थ
 व्यङ्ग्यविशेष की व्यंक्ति करता हुआ, मुख्यवाच्य शरीर है । और प्राधान्यतः
 वाच्यार्थ वाच्योक्ति की सामर्थ्य है ही जाना जाता है । अतः व्यङ्ग्यविशेष का
 वाच्यत्व करने वाले, वाच्यार्थ का ही वाक्यत्वोक्त के कारण प्राधान्य होता है ।

वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा वाक्यत्वोक्त के ही आधार पर
 होती है ।

उसकी पुष्टि हेतु आनन्दवर्मा उदाहरण देते हैं -

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्वरः ।

अहो वैवर्तिः कीदृक्वापि न समानमः ॥

यहां नायक-नायिका के असमानविषयक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी
 वाच्यार्थका ही वाक्यत्वोक्त होने के कारण, उही का प्राधान्य है । आनन्दवर्मा
 इसके अतिरिक्त इन पद्यों पर विचार नहीं करते कि उक्त उदाहरण में समासोक्ति

है अथवा वासोप कर्तार ।

किन्तु, अभिनवगुप्त बड़े विधिविधानपूर्वक इन प्रश्नों पर विचार करते हैं - कि अनुरागवती उन्म्या में वामन के अभिप्राय से वासोप है और मामह के अभिप्राय से समावोक्ति, इसी कारण मृन्मकार ने व्युक्ति दोनों - वासोप और समावोक्ति का एक ही उदाहरण दे दिया है ।

इसके लिए मामह और वामन के मृन्मों से वासोप का उदाहरण और उदाहरण भी देते हैं । मामह के काव्यालंकार से वासोप का उदाहरण कवेन के वाच्य ; वासोप के दो मैत्री - (१) वदन्माणाविषयवासोप और (२) उक्तविषय-वासोप में से प्रथम का उदाहरण 'अहं त्वां यदि नैतोय' इत्यादि मामह के काव्यालंकार से दिया है किन्तु दूसरे मैत्री का उदाहरण मामह से नहीं लिया, वरन् वह अभिनव का स्वरचित पद्य - यो योः किं किमिच्छन् एव पतितास्त्वं वाम्ब' इत्यादि हैं । इसके बाद अभिनव, वामन के काव्यालंकाररूप से भी वासोप का उदाहरण और उदाहरण अपने व्याख्यान में उतार लेते हैं । किन्तु 'रेन्दु - यनुः पाण्डुपयोधरेण' इत्यादि उदाहरण, जिसे वामन ने 'उपमास्वासोपः' के लिए उद्धृत किया है, उसमें अभिनवगुप्त समावोक्ति बताते हुए कहते हैं -

'इत्येवमिच्छन्विच्छित्तनायुक्तान्तरमुपमानमादिशतमपि वाच्यार्थीवाचकरोती-
त्येवमा तु समावोक्तिरेव ।

वस्तुतः प्रस्तुत प्रश्न में आनन्दवर्मी के अभिप्राय को 'वाक्यव्यङ्ग्यनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' को दृष्टि में रखते हुए, यहाँ पर मामह और वामन के वासोप-कर्तार का उदाहरण और उदाहरण देने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं और वामन के 'वासोप' के उदाहरण में समावोक्ति है या कोई अन्य

१- वामनाभिप्रायेणावमासोपः, मामहाभिप्रायेण तु समावोक्तिरित्यमुमाश्रयं कृत्ये
गृहीत्वा समावोक्त्यासोपयोः युक्त्येवमेकमेवोदाहरणं अन्तरदुग्धकृत् । लो०पू०
१११

२- ३, मामह- काव्यालंकार - २।६८, २।६९

३- लो० पू० ११२

४- वा०पू० ४.३.२७.

५- लो० पू० ११३-११४

७ - लो० पू० ११४

अलंकार - इन समस्याओं को कलने का अवसर भी नहीं। किन्तु, तन्मित्रगुण इन विभिन्न तथ्यों के उदाहरणों में व्यस्त हैं। 'अमुरागवती सम्भवा' इत्यादि में वामन के अनुसार 'बासोप' है और मामह के अनुसार 'स्मासोक्ति' - इतना ही कहते हैं, तथापि निष्कर्ष रूप में उनके अनुसार कौन अलंकार है यह न बता कर, वानन्दवर्मा के मन्तव्य को भी अपने अनुसार मोड़ते हुए कहते हैं - मुख्यकार ने यहाँ दोनों अलंकारों का एक ही उदाहरण दिया है। और अन्त में, यह भी कहते हैं - 'यहाँ चाहे बासोप ही या स्मासोक्ति, इससे कौन क्या प्रयोजन। हमारा साध्य तो अलंकारों में व्यंग्यार्थ का वाक्यार्थ के प्रति गुणीभाव स्थापना है।'^१

उपर्युक्त उंग दे तर्क करने पर, मामह और वामन के कलन को ठोकर में रखने का क्या महत्त्व रह गया, और दूसरे जब तन्मित्रगुण को यह पछीमांति ज्ञात है कि यहाँ क्या 'साध्य' है, तब भी वह व्यर्थ की क्लान्तर क्या करके अपने व्याख्यान की उलझा देते हैं। और जब उनका व्याख्यान बहुत अधिक उलझने लगता है या बहुत क्लान्तर क्या होने लगती है, तब अन्त में प्रायः 'इत्यलंकारानां' या 'एषाणि समासोक्तिर्वा इत्युक्तं आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्' और नः साध्यमित्यत्राक्षेपोऽत्र मुख्येऽस्मदनुकमिनिर्दिष्टः - इस प्रकार कह कर वानन्दवर्मा के मन्तव्य को एक पंक्ति में स्पष्ट कर, अपने व्याख्यान में गति लाते हैं।

३ गः अ० १।१३ की वृत्ति में वानन्दवर्मा 'बासोप' निबन्ध के आधार पर वाक्य और व्यंग्य में से किसी एक के प्राधान्य के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं - किसी प्राधान्येन प्रीति होती है उसी के नाम से उसे अभिहित किया जाता है। जैसे, दीपक अमनुति आदि में व्यंग्यत्वेन उपमा की प्रीति होने पर भी प्रधानतया उसकी विवक्षा न होने के कारण, उसे 'उपमा' संज्ञा से अभिहित नहीं किया जाता।

यहाँ पर तन्मित्रगुण मामह के काव्यालंकार २।२५ से 'दीपक' अलंकार का उदाहरण देते हैं -

‘आदिनव्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिच्छते’

उसका उदाहरण देते हैं -

‘मणिः छाणोलीहः समरविजयी हेतिवलिः’

और वन्त में केवल इतना कहते हैं -

‘एत्यत्र दीपनशून्यैव वाक्यम्’

कब अग्निशून्य नामक के काव्यालंकार २।२५ से ही दीपक का उदाहरण दे रहे थे, तब वहाँ काव्यालंकार २।२६ की यह पंक्ति भी कब देते हैं -

‘अग्निं कुर्वीत्यग्निस्तथास्वाग्नीपनात्’

इस पंक्ति से आनन्दवर्धन के - ‘प्राधान्येन विवक्षितत्वात् तथा व्यपदेशः’ के अग्निप्राय की किंचिद् पुष्टि हो जाती ।

३८: इसी प्रकार अपन्हुति के विषय में भी अग्निशून्य नामक के काव्यालंकार २।२६ से अपन्हुति के उदाहरण की प्रथम पंक्ति - ‘अपन्हुतिरनीष्टा च किंचिदन्तर्गतोक्ता’ - देकर कहते हैं - ‘तत्रापन्हुत्येव शोभा’ और उदाहरण देते हैं -

‘नयं विरोति मुञ्जाडी नयेन मुखरा मुमुः ।

अपान्हुत्यमाणस्य अपन्हुत्युक्तौ व्यनिः ॥ २।२७

अग्निशून्य कब उदाहरण देते हैं तो, न जाने क्यों पूर्वोक्ती वाच्यार्थों के शून्यों से एक पंक्ति उतार लेते हैं और दूसरी पंक्ति होड़ देते हैं । यदि दूसरी पंक्ति व्यर्थ होती तो उसे होड़ देते । किन्तु, कब उस पंक्ति से आनन्दवर्धन के मन्थव्य की पुष्टि होती है तब भी उस उपयोगी पंक्ति की उपेक्षा करते हैं । वास्तव में तो शोभन व्याख्यान उन्होंने आनन्दवर्धन के ‘बाडोक’ के स्पष्टीकरण के लिए किया है । तथापि अक्सर पाकर वे अवान्तर जहाँ कर अपनी बात स्पष्ट कर देते हैं, किन्तु आनन्दवर्धन के कव्य को होड़ देते हैं । उदाहरणार्थ दीपक अलंकार के प्रसंग में ^{इसे देखा जा सकता है।} इसी प्रकार अपन्हुति के प्रसङ्ग में भी अग्निशून्य नामक के काव्यालंकार से अपन्हुति अलंकार का अपूर्ण उदाहरण उद्धृत करते हैं । नामक ने स्पष्ट रूप से अपन्हुति के व्यपदेश का कारण बताते हुए अपन्हुति का उदाहरण उस प्रकार दिया है -

अपन्हुतिरनीष्टा च किंचिदन्तर्गतोक्ता ।

मुञ्जाडिनिश्वापस्थाः क्रिस्तौ वापिवा यथा ॥ २।२८

किन्तु अग्निशून्य मात्र पहली पंक्ति ही उद्धृत करते हैं । और केवल इतना कहते हैं - ‘तत्रापन्हुत्येव शोभा’ । किन्तु यहाँ पर काव्यालंकार २।२९ की दूसरी पंक्ति का भी महत्व है क्योंकि प्रस्तुत स्वयं पर - आनन्दवर्धन का मन्तव्य है - ‘प्राधान्येन

विवक्षा अनुसार अङ्कारों का व्युत्पन्न होता है । 'उपमा' का यहाँ प्राधान्य न होने के कारण इनकी उपमा संज्ञा नहीं है । पुनः दीपक और अग्न्युत्पत्ति का प्राधान्य है, अतः दीपक और अग्न्युत्पत्ति संज्ञा है ।

३३. इसके बाद आत्मन्वयकी अनुकृतिमिता विशेषीति^१ का उदाहरण देते हैं - 'वायुस्यैऽपि सहायैः' इत्यादि । ऐसा कृत होता है कि आत्मन्वयकी ने यह उदाहरण उद्घट्ट वे किया, मानक वे नहीं । क्योंकि मानक ने ही विशेषीति का उदाण दिया है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है, और न ही उद्घट्टने विशेषीति के प्रकारों का विवेचन किया है, वन कि उद्घट्ट 'काव्याङ्कारसारसंग्रह' में विशेषीति का स्पष्ट उदाण देते हुए उसके दो भेद बताते हैं -

१- उक्तनिमित्त^२,

२- अनुकृतिमिता

इन दोनों में से अनुकृतिमिता में व्यंग्य का सम्भाव होने के कारण आत्मन्वयकी ने इसका उल्लेख किया है ।

किन्तु, अभिन्त्युक्त अपने 'उपमा' में उद्घट्ट का विशेषीति अङ्कार का उदाण न देकर, मानक का ही विशेषीति अङ्कार का उदाण देते हैं -

एकैकस्व विभवे वा गुणान्तरसंस्थितिः ।

विशेषप्रमाणावाही विशेषीतिमिता यथा ॥ ३।२३

तथा विशेषीति के वे तीन प्रकार स्थिर करते हैं - अभिन्त्युक्तनिमित्त, उक्तनिमित्त और अनुकृतिमिता । यद्यपि मानक ने इन प्रकारों का उल्लेख नहीं किया है ।

इसके बाद वे उदाहरण देते हैं -

१- पृ० पु० ११७

२- अस्याप्यपि कृतीनां कठानुत्पत्तिव्यक्तम् ।

विशेषस्याभिन्त्युक्तस्य विशेषीतिरुच्यते ॥ का० अ० वा० अ० ५।४ (५५)

३- दक्षिण निमित्तेन निमित्तावस्थेन च ।

तस्य कस्यां हिता तस्यै पुरस्ते उल्लिख्यतः ॥ वही ५।५(५६)

४- उ० पु० ११६-११७ ।

य एकस्त्रीणि क्वसि कान्ति कुमुतायुः ।

वस्तापि तनुं यस्य सम्पुता न पुनं वलम् ॥

यह उदाहरण सामान्य ने मध्य 'विशेषाति कर्तार' के लिए उद्धृत किया है, किन्तु अभिनवगुप्त इसमें कठिणकथ 'अपिस्त्वनिमित्ताविशेषाति' बताते हैं, और कहते हैं, इसमें व्यंग्य का सम्भाव नहीं है। इसी प्रकार उक्त निमित्ताविशेषाति में भी वस्तु के स्वरूपमात्र में कर्तार का पर्यवसान हो जाने के कारण, इसमें भी व्यंग्य के सम्भाव की उम्मा नहीं करनी चाहिए। अभिनवगुप्त द्वारा दिया गया इसका उदाहरण दृष्टव्य है -

कूरि एव दम्पतीऽपि शक्तिरान्यो को को ।

नमोऽस्त्ववादीययि तस्मै कुमुतमन्वने ॥

यहां पर शक्तिमान कामदेव का हेतु 'आवादीय' उक्त है।

विशेषाति के तृतीय प्रकार - 'अनुक्त निमित्ताविशेषाति' को वानन्वयकी ने व्यंग्य के सम्भाव के कारण प्रस्तुत किया है। और इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

बाहूतोऽपि उवाचैः बोधित्युक्त्वा किमुक्तनिद्रोऽपि ।

मन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ॥

इसके अन्तर वानन्वयकी प्रति मान में कहते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण में प्रकरण के आन्तर्य है व्यंग्य की किंचिद् प्रतीति हो जाती है। किन्तु इस प्रतीति से कोई वाक्यता नहीं जाती। अतः यहां व्यंग्य का प्राधान्य नहीं है।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त उदाहरण का व्याख्यान करते हुए कहते हैं - 'यहां मट्टोद्भट के अनुसार - न उठने का कारण, नीच है'।

'कुछ रक्षकों' ने यह निमित्त कल्पित किया है कि - 'ममन की अपेक्षा स्वयं को प्रिया-स्वात्म का उत्तम उपाय समझकर पथिक निद्रात्मन के विचार से थिड़हा पड़ा है' - रक्षकों द्वारा दिए गए इस निमित्त को आलंकारियों ने वास्तव हेतु

१- ठी० पृ० ११६

२- वही पृ० ११७

३- वही

४- अभिनवगुप्त ने 'रक्षिकैः' द्वारा सम्भवतः सुव्यवर्णनकार 'मट्टनायक' या किसी अन्य आचार्य पर कटाक्ष किया है।

नहीं स्वीकार किया, बल्कि अभिव्यञ्जकानि निमित्त - (स्वप्न में कान्तास्मान्न की वाता अन्ना हीतकृत् कष्ट) से अर्जुन विशेषोक्ति - (संशयं नैव शिथिलयति) में ही यहां कर्त्तकार है। अन्यथा यहां विशेषोक्ति कर्त्तकार ही नहीं होना। -
 ज्ञाना कष्ट कर अभिव्यञ्जक कहते हैं : ज्ञानम्बवर्धन ने यहां - 'न तु तत्प्रतीतिनिमित्तं काव्यिज्जलवनिष्पत्ति' - कष्ट कृत्यांश को उद्भूत और रक्षित दोनों के अभिप्राय से लिखा है।

यदि ज्ञानम्बवर्धन ने उद्भूत और रक्षितों के अभिप्राय से कृत्यांश को लिखा होता, तो ज्ञानम्बवर्धन निःसन्देह उद्भूत और रक्षितों का उल्लेख कर देते, क्या कि प्रायः अनेक स्थलों पर ज्ञानम्बवर्धन ने किया है। यहां पर कोई ही अभिव्यञ्जक कुछ भी अभिप्राय निकातें, किन्तु ज्ञानम्बवर्धन के ज्ञाना यहां प्रस्तुत मुख्य प्रतिपाद विषय है - 'अनुक्त-निमित्तं विशेषोक्ति' आदि कर्त्तकारों में व्यंग्यार्थ के रसों पर भी, उसके वाग्यार्थ का ही वास्तवोक्त होने के कारण, व्यंग्य का अप्रमाण कहा कर वाग्य का प्राधान्य प्रतिपादित करना। और, यदि वह मान भी लिखा जाए कि ज्ञानम्बवर्धन ने उद्भूत और रक्षितों के अभिप्राय से बुधिमानी लिखा है, तब अभिव्यञ्जक अपने जीवन में क्यों मापक का ही उदाहरण देते हैं ? उद्भूत का क्यों नहीं देते ?

सम्पत्तः अभिव्यञ्जक के ज्ञाना उस समय मापक के काव्याकर्त्तार पर उद्भूत विरहित 'मापक-विवरण' रहा ही - जिसमें - 'बाह्यतोऽपि' इत्यादि उदाहरण उद्भूत ने दिया ही और उही आधार पर अभिव्य ने मापक के अनुसार विशेषोक्ति का उदाहरण देकर, 'बाह्यतोऽपि' की व्याख्या की ही।

अ-चः पर्यायोक्त कर्त्तकार के प्रसंग में ज्ञानम्बवर्धन कहते हैं - 'यदि पर्यायोक्त में व्यंग्य की प्रमान्येन प्रतीति होती, तब ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता, न कि ध्वनि का पर्यायोक्त कर्त्तकार में। क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र व्यापक है और ध्वनि अंती भी है। और, पुरुषजगत् का नाम्नं मुंकाहे इत्यादि पर्यायोक्त का मापक ने ही उदाहरण दिया है उसमें वाग्यार्थ का उपसर्गनीमाय विवक्षित न होने के कारण व्यंग्य का प्राधान्य नहीं होना पड़ता।'

वानस्पतिकेन कृतं ही कर्तव्यं । किन्तु अभिनवगुप्त पुत्रिमान की ३५५ की तीन बार पंक्तियों की विलुप्त व्याख्या करते हैं । सर्वप्रथम उद्घट के 'काव्यालंकारधार-
लंघन' से पर्यायोक्त का उदाहरण इस प्रकार उद्धृत करते हैं -

‘पर्यायोक्तं यन्मतेन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाक्यवाक्यवृत्तिभ्यां ह्युच्येतावन्मात्मना ॥’

उदाहरणार्थ -

उज्ज्वलपुष्पेभ्यस्तु पुनस्तपसाग्निः ।

रामस्यानेन क्षुब्धता वैशिता कविज्ञता ॥

इसमें नीच का प्रभाव, मार्गव कर्त्तृ पराधुराम के प्रभाव की अभिवृद्धि करने वाला है - यह व्यंग्य प्रतीत होता है । फिर भी इस व्यंग्य से वाक्यार्थ - ‘वैशिता कविज्ञता’ वाक्यार्थ ही वर्जित हो रहा है ।

तदनन्तर, उक्त उद्घट के पर्यायोक्त के उदाहरण में बार बार ‘प्रकारेणाभि-
धीयते’ और ‘अवन्मात्मना’ का विरुद्धार्थ इस प्रकार करते हैं -

‘पर्यायेण प्रकारान्तरेणावन्मात्मना व्यंग्येनोक्तमितं कथमभिधीयते तदभि-
धीयमानमुक्तमेव उत्पद्योक्तमित्यभिधीयते इति उदाहरणम्, पर्यायोक्तमिति
उक्त्यपत्तम्, अलंकारत्वं चामात्मन्युदाहरणं वेति सर्वं युज्यते ।’

इस स्थल पर उद्घट की मानने वाले यह कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने पक्ष की पुष्टि हेतु इस प्रकार का व्याख्यान किया है । साथ ही इस प्रकार की उक्ति भी कर सकते हैं कि जब ‘अवन्मात्मना’ है तब ‘प्रकारेणाभिधीयते’ का ‘प्रतीयते’ यह सर्व कहीं नहीं किया गया ? किन्तु इसके पूर्व ही अभिनवगुप्त कहते हैं -

‘यदि त्वभिधीयते इत्यस्य कृताव्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रयान्तयेति,
उदाहरणं च ‘कम यन्मिदं’ इत्यादि । तदालंकारत्वेन ह्येव सम्पन्नात्मनायां
परिचयानात् । तथा चालंकारमप्येव न जाना न कार्या ।’

१- टी० पु० ११७

२- का०ख०सा० सं० ४।६

३- टी० पु० ११८

४- वही

अर्थात् यदि 'अभिधीयते' का प्रधानतया 'प्रीतिके' अर्थ करेंगे तब 'पर्यायोक्त' की गणना अलंकारों में न होगी । उसका 'वात्मा' में पर्यवसान ही वास्त्वा ।

यहां तक तत्पू अन्वय है कि ज्ञानान्वयकी तो व्यंग्य के प्राधान्य के अन्तर पर पर्यायोक्त अलंकार का 'ध्वनि' में अन्तर्भाव होता रहे हैं ।

किन्तु, अभिनवगुप्त 'ध्वनि' पद के स्थान पर 'वात्मा' पद का प्रयोग करते हुए 'ध्वनि' में पर्यवसान के स्थान पर 'वात्मा' में पर्यवसान कहते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त यहां 'वात्मा' पद का प्रयोग 'ध्वनि' पद के पर्याय के रूप में कर रहे हैं । या फिर 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के आधार पर अभिनवगुप्त ऐसा प्रयोग कर रहे हैं । यदि अभिनवगुप्त का यहां 'वात्मा' पद से अभिप्राय स्वभाव या प्रकार से है, तब तो ठीक है, किन्तु यदि 'वात्मा' पद का अर्थ 'व्यक्तिगत या प्राणतत्त्व' से है, तब तो ध्वनि काव्य का वात्मा-व्यंग्य अर्थ है उस व्यंग्यार्थ में पर्यवसान की बात कैसे बैठेगी ?

अतः विचार है अभिनवगुप्त यहां पर 'वात्मा' पद का प्रयोग ध्वनि के पर्यायिक में कर रहे हैं ।

३ उः आलोच्य अलंकार के प्रसंग में, दृष्टान्त रूप से अल्पवृत्ति और दीपक अलंकार का विवेकन ही जुका है । किन्तु, अभिनवगुप्त पुनः प्रतिपादन हेतु उपस्थित करते हैं -

..... उदेत्कनपुरणाद्य मृन्मल्लमृदां योवयितुं पुनरप्युक्तम्^२

अर्थात् ज्ञानान्वयकी ने 'अनाद्योक्ति', 'आलोच्य', 'अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति', 'पर्यायोक्त', 'अल्पवृत्ति', 'दीपक', 'अंशालंकारादि' - सब कुछ से अलंकारों को गिनाया था, किन्तु प्रतीयमान अर्थ अस्फुट प्रतीति होने के कारण उन्हें ध्वनि का विषय नहीं माना गया । अलंकारों के सब रूप में व्युत्पन्न हो जाने के कारण ही अभिनवगुप्त कहते हैं-

मृन्म में आर पर्वों की संमति बैठाने के लिए ज्ञानान्वयकी ने पुनः प्रकारान्तर से यहां दीपक और अल्पवृत्ति का उल्लेख करते हुए व्यंग्य के अप्राधान्य के कारण उनमें ध्वनि

१- (१) वात्मावायां पर्यवसानात् - ठी० पृ० ११८

(२) वात्मान्वयनवादिवात्मानेवादी आलंकारस्यादित्यर्थः - ठी० पृ० ११८

२- ठी० पृ० १२०

३- वही पृ० १०८

का निराकरण किया है । -

प्रस्तुत स्थल पर अभिनवगुप्त का इतना कहना ही पर्याप्त था । किन्तु, इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त अपने व्याख्यान में उद्घुष्ट के नामक विवरण में कथित 'दीपक उलंकार का सर्वत्र उपमा है अन्विता न होने का' विवेचन करने लगे । यद्यपि इस विषय में 'अभिनव' का उद्घुष्ट के इस भा में साध्य नहीं है, अभिनवगुप्त स्वयं कहते हैं -

‘यसु विवरणकृत् - दीपकस्य सर्वत्रोक्तान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरण-
प्रत्येय विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्तारं कुप्रतिरोधं च ।’^१

इसके लिए वे दो उदाहरण भी देते हैं -

(१) मदी कस्यति प्रीतिं शान्तिं मानमङ्गम् ।

च प्रियाङ्गमौत्कृष्टां शासक्यां मनसः शुक्म् ॥^२

यहाँ यद्यपि पूर्व-पूर्व है उत्तरीतर (मद् से प्रीति) उत्पन्न हो रहा है तथापि उनमें परस्पर उपमानोक्त्यभाव कल्पित किया जा सकता है । क्योंकि, यह कोई नियम नहीं है कि - कृमिक वस्तुओं में उपमानोक्त्यभाव नहीं होता ।

(२) राम इव वरुणोऽमृष्यारम इव रघुरवोऽपि रघुजुतः ।

अथ इव विडोपर्वहस्तिनं रामस्य कीर्तिरियम् ॥

इस उदाहरण में भी परस्पर राम और वरुण इत्यादि में, कम होते हुए भी उपमानोक्त्येव भाव ही है । अतः कृमिकता अन्वया अनुप्राकरणीयता से उपमा अवलम्ब होती है - यह कहना ठीक नहीं । इतना कहने के अनन्तर अभिनव कहते हैं -

‘इत्यर्थं सर्वधीयोदानुक्तनि ।’^३

यद्यपि अभिनवगुप्त को यह ज्ञात है कि नामक विवरणकार उद्घुष्ट के विरुद्ध उपर्युक्त दो व्याख्यान किया गया है । उसका प्रस्तुत स्थल पर कोई उपयोग नहीं है । तथापि अभिनवगुप्त ने उसका विवेचन करके व्यर्थ का विस्तारभाव किया है ।

३ ज. संकराच्छंकर -

संकर अछंकार के प्रयोग में भी आनन्दवर्धन अपने पूर्व-निरणय के अनुसार उसके पैरों को नहीं गिनाते किन्तु अभिनवगुप्त अपने स्वभावानुसार बाबाय उद्भट का अनुकरण करते हुए संकराच्छंकार के पैरों को गिनाते हुए अपने व्याख्यान को सम्पन्न करते हैं -

सर्वप्रथम अन्वेष संकर का उद्घाटन उन्होंने उपस्थित किया है -

किञ्चाच्छंक्रिणील्लेखे क्वं तद्वृत्त्यसम्भवे ।

एकस्य च गृहे न्यायबोधानामावे च संकरः ॥^१

बाबाय उद्भट ने अपने 'काव्याच्छंकारसंग्रह' में अन्वेष-संकर का उद्घाटन इसी प्रकार दिया है, अन्तर केवल इतना है कि 'किञ्चाच्छंक्रिणील्लेखे' के स्थान पर उद्भट ने - 'क्षेत्राच्छंक्रिणील्लेखे' कहा है ।

इसका उदाहरण अभिनवगुप्त का स्वरचित यह है -

उत्तिरनाशितहरशिवशक्ता शिवसुन्दरानर्पितारियम् ।

गगनकटस्थसम्पन्नसुपाकारा कृता विभिन्ना ॥ इति

उन्होंने 'उडी एवं कर्न यस्या वा उत्तिरना' ऐसा उदाहरण करने से स्पष्ट और 'उत्तिरन् कर्न यस्याः' - यह उदाहरण मानने से उपमा होती है ।

किन्तु दोनों का एक साथ होना असम्भव है, अतः उपमा और स्पष्ट दोनों में से क्या माना जाए - इसका कोई निष्ठाविक प्रमाण न होने के कारण यहाँ तत्पूछ अन्वेष संकर अछंकार है । इसके बाद अभिनवगुप्त अपने पदा के साथ अन्वेष संकर की संज्ञा बैठाने के लिए कहते हैं -

कब कब निरणय हो नहीं है कि कौन अछंकार वाच्य है और कौन अछंकार अवाच्य तब उन्हें ध्वनि की सम्भावना क्या की जाय ।

१- छी० पृ० १२१

२- क्षेत्राच्छंक्रिणील्लेखे क्वं तद्वृत्त्यसम्भवे । एकस्य च गृहे न्यायबोधानामावे च संकरः
काव्याच्छंकार (६२) पृ० ३८५

३- छी० पृ० १२१

४- वही

संकर का जो दूसरा प्रकार - रक्वाक्यानुप्रास है, उसमें उच्चारण और व्यंजितारों की एक साथ होता होती है। यथा -

‘स्मर स्मरमिव प्रियं रम्यते यमाङ्गिनात् । इति में स्मर-स्मर पदावृत्ति है यमक रूप उच्चारण और ‘स्मरमिव’ में यमा व्यंजितार का रक्वाक्यानुप्रास संकर है। यहाँ भी प्रतीयमान की संका का व्यवहार नहीं।

संकर के तृतीय प्रकार में - यहाँ एक ही वाक्यांश में जोड़ व्यंजितार हों, यहाँ भी दोनों में वाक्य रूप साम्य होने से, व्यंग्य की सम्पादना नहीं हो सकती। यथा -

तुल्योदयावसानात्वावगतेऽस्तं प्रति मास्वति ।

वासाय वासरः कलान्तो विक्रितीय तमोगुहाम् ॥ इति

इस पद को मानस ने अपने काव्याङ्कार ३१४८ में उत्प्रेक्षाकथन के लिए उद्धृत किया है किन्तु अभिनवगुप्त इसे ‘संकराङ्कार’ के तृतीय प्रकार के उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

उक्त पद में स्वाभि-विपत्ति के समय समुचित प्रामाण्य के लिए प्रयत्नशील कुलीन पुत्र का रूपण ‘तमोगुहाम्’ पद में स्थित रक्वदेशविपत्ति रूपक कर रहा है। इसके अतिरिक्त ‘इव’ शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा भी है। किन्तु यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों के समान रूप से वाक्य होने के कारण, दोनों में से किसी को व्यंग्य कहा ही नहीं जा सकता।

कुछ लोग संकर के उपर्युक्त दूसरे और तीसरे प्रकार को अलग-अलग नहीं मानते। किन्तु अभिनवगुप्त उन दोनों का विवेक करने के बाद उनका उदाहरण देते हैं -

उच्चारणार्थसंकरा वाक्य एकत्र वर्तितः ।

संकररक्वाक्यानुप्रासादापिधीयते ॥

यह उदाहरण भी अभिनवगुप्त ने उद्धृत से ही लिया है। यद्यपि दोनों में किंचिद् पाठभेद है। उद्धृत के ‘एकत्र मासिनः’ के स्थान पर अभिनव ने ‘एकत्र-वर्तितः’ कहा है।

१- टी० पृ० १२२ ।

२- उच्चारणार्थसंकरा वाक्य एकत्र मासिनः। संकररक्वाक्यानुप्रासादापिधीयते ॥ इति काव्याङ्कार ११-१२(६३) पृ० ३८८-३८९ ।

इसके बाद संस्काराङ्गार का कथुर्ब प्रकार अनुग्राह्यानुग्राह्यभाव कही है -

यहां अङ्गारों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राह्यभाव (अर्थात् अपनी विशिष्ट-
शक्तियों में परस्परवैशिष्ट्य) ही यहाँ वह के होता है । यथा-

प्रवातनीतोत्पत्तिविशेषमयीरविप्रेक्षितमावकाश्या ।

तथा गृहीतं नु मुनांनान्यस्ततो गृहीतं नु मुनांनानिः ॥

यहाँ मुनांनानाओं की दृष्टि के ज्ञान पाक्षी की दृष्टि है - यह ज्ञान
अर्थात् अर्थ है, तथापि वह 'उपमा' अन्वेषाङ्गार रूप वाच्य की ही उत्पन्न कर
अनुगृहीत करती है । अतः उपमा स्वयं गृणीकृत ही जाती है, क्योंकि उसका
परिचयान अन्वेष की दृष्टि में ही ही रहा है । इसके लिए उद्घट के 'काव्याङ्गार-
वारंश' के 'अनुग्राह्यानुग्राह्य' का उदाहरण उद्धृत करते हैं -

यहाँ जो अङ्गार परस्पर उपकारक भाव से स्थित हों, उन्हें स्वातंत्र्य रूप से
आत्मज्ञान न हों, यहाँ भी (अंशानुभावात्) संकर होता है ।

ज्ञानम्बवकी द्वारा कथित - 'संस्काराङ्गारेऽपि' पर अभिनवमुखा ने संस्काराङ्गार
का — स्वयं में ही अस्तित्व उनके उदाहरण और उदाहरण सभी प्रस्तुत कर दिया
है । ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवमुखा, ज्ञानम्बवकी द्वारा छोड़े गए रिक्त र
स्थानों की पूर्ति कर रहे हैं ।

अभिनवमुखा ने 'तदाह-संस्काराङ्गार' इत्यादि से लेकर तत्र कथमेकस्य 'प्राधान्यं
पीरकृत्' तक का जो व्याख्यान है, वह ज्ञानम्बवकी के अभिप्राय की बहुत ही
सटीक एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है ।

ज्ञानम्बवकी ने कम से संस्काराङ्गार के में ही नहीं कहा है । सर्वप्रथम 'यदा-
अङ्गारोऽङ्गारान्तरावकाश्यानुग्राह्यानुग्राह्य' द्वारा अनुग्राह्यानुग्राह्य भाव को कहा है ।
'अङ्गारद्वयसम्भावनायां नु वाच्यव्यंशयोः क्व प्राधान्यम्' द्वारा अन्वेष संकर को
और 'अथ वाच्योपसर्गमात्रेण व्यंशस्य तत्रावस्थानम्' इत्यादि द्वारा अनुग्राह्या-
नुग्राह्य भाव के दूसरे पक्ष को कहा है । ज्ञानम्बवकी के इस अभिप्राय की समीक्षा

१- परस्परौपकारेण यदाङ्गारयः स्थिताः । स्वातंत्र्येणात्मज्ञानं नो ज्ञानं हीऽपि-
संकरः । काव्याङ्गारः १३(४४) पृ० २५०

२- ही० पृ० १२२

३- वही पृ० १२३-१२४ ।

वाच्यारण्यः समझना कठिन होता है, किन्तु अभिनवगुप्त की दृष्टिकोशिका
ज्ञानम्बवर्दीन के मन्तव्य की इस स्थिति पर लगाने में एकदम हुई है ।

२५: अप्रस्तुतप्रशंसा -

अप्रस्तुतप्रशंसा के विवेचन के अवसर पर अभिनवगुप्त इसका
उदाहरण देते हैं -

अधिकारावपेक्षस्य वस्तुनोऽन्वयस्य वा स्तुतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिशीलिता ॥

इसकी प्रथम पंक्ति तो मामूळ और उद्भट की ही पदावली में इसी रूप में
अभिनव ने रख दी है, किन्तु दूसरी पंक्ति में अभिनवगुप्त ने किंचिद् परिवर्तन
किया है । टीपणकार के 'त्रिविधा परिशीलिता' के स्थान पर मामूळ के अनुसार
'यैव कथ्यते यथा' है । और उद्भट के अनुसार 'प्रस्तुतापानुबन्धिनी' है ।
अभिनवगुप्त ने इस परिभाषा में ज्ञानम्बवर्दीन के अभिप्राय को भी जोड़ने का
प्रयत्न करते हुए - 'त्रिविधा परिशीलिता' कहा है । ज्ञानम्बवर्दीन के पूर्वोक्ति वाच्यार्थों
में है किन्ती ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा के मैदों का उल्लेख नहीं किया । ज्ञानम्बवर्दीन के
समस्त वाच्यार्थ मुन्तक ने अप्रस्तुतप्रशंसा की ओर ध्यान करते हुए कहा था - 'जहां
वाच्य का सहारा लेकर जयवा कार्यकारण नाव आदि अन्य सम्बन्धों का सहारा
लेकर प्रस्तुत के सौन्दर्य को प्रकाशित करने वाला अप्रस्तुतपरक वर्णन किया गया
हो - वहां यह अलंकार होता है' । किन्तु, ज्ञानम्बवर्दीन ही पहले वाच्यार्थ हैं ,
जिन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा को नए रूप में प्रस्तुत किया । ज्ञानम्बवर्दीन ने अप्रस्तुतप्रशंसा
के मैदों की निश्चित ^{सरम्भा} नहीं बताई है । किन्तु अभिनवगुप्त ने उनके व्याख्यान के
आधार पर इसके तीन मैदों को निकालकर , मामूळ के द्वारा दिए गए -

१- अधिकारावपेक्षस्य वस्तुनोऽन्वयस्य वा स्तुतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसेति सा यैव कथ्यते यथा ॥ मामूळ काव्यालंकार ३।२६ पृ० ७८

२- अधिकारावपेक्षस्य वस्तुनोऽन्वयस्य वा स्तुतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसेवं प्रस्तुतापानुबन्धिनी ॥ उद्भट काव्यालंकारसारसंग्रह ८(५६)
पृ० ३८०

अप्रस्तुतप्रसंगा के उदाहरण में संशोधन करते - 'त्रिविधा परिकीर्तिता' अपनी ओर है
बौद्ध विद्या और उसके तीन प्रकार इस प्रकार प्रकार -

१- सामान्यविशेषभावात्

२- निमित्तनिमित्तिभावात्

३- सादृश्यात्

अभिप्राय है इन तीनों का उदाहरण विवेचन करते हुए आपन्धवर्गीय के अन्तर्गत
को निम्नप्रकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

१- सामान्यविशेषभावात् -

यह दो प्रकार का होता है -

(१) एक तो यह है, कि सामान्य अप्रस्तुत होता है और वाच्य द्वारा कहा
जाता है , तथा उसके प्रस्तुत विशेष का आशय (व्यंग्य) होता है । यथा-

अहो संसारनेधुष्यमहो दौरात्स्वभावात् ।

अहो निजनीचिह्नस्य दुरन्ता मतयो विवेः ॥

यहाँ 'सर्वत्र वैय का ही प्राधान्य है' - यह अप्रस्तुत सामान्य अर्थ प्रतिपाद्य
होकर किसी निमित्त द्वारा प्रस्तुत विशेष का आशय कर रहा है ।

(२) और, यहाँ विशेष अप्रस्तुत वाच्य होकर, प्रस्तुत सामान्य का आशय
(व्यंग्य) करता है । यहाँ सामान्यविशेषभाव का द्वितीय प्रकार होता है । यथा-

स्तवस्य मुखात्किमेतत्स्वच्छिनीयते कर्णं वाच्यते

यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स कः श्रुत्यन्वदस्मादपि ।

कुंत्त्यप्रभुप्रियाप्रविष्ठयिन्वादीयमाने हने-

स्तत्रोद्गीय मतो हरेत्पनुदिनं निद्राति नान्तः कुवा ॥

यहाँ 'अनुक्ति स्वाम में महत्त्व की सम्भावना रूप' प्रस्तुत सामान्य रूप व्यंग्य है,
तथा 'कविन्दु में मुक्तामणित्व सम्भावना रूप' - अप्रस्तुत विशेषरूप वाच्य है ।
यहाँ सामान्य और विशेष का अप्राधान्य होने पर भी कोई विरोध नहीं क्योंकि
सामान्यविशेष का व्यापकव्याप्य सम्बन्ध होता है ।

२- निमित्तनिमित्तिभावानु -

इसके दो दो प्रकार हैं -

(१) कभी अप्रस्तुत कारण वाच्य होकर प्रस्तुत रूप कार्य का वादीय (व्यंग्य) करता है । यथा-

ये बान्धवभ्युदये प्रीतिं नीजकान्ति व्यस्यन्तु व ।

ते बान्धवास्ते बुद्धवो लोकः स्वाधीनरोऽपरः ॥

यहां अप्रस्तुत बुद्धवान्धवकृपा निमित्तकृपेण वाच्य होकर नैमित्तिक रूप प्रस्तुत - बुद्ध बान्धव के श्रेयस्वन्तव को व्यक्त कर रहा है ।

यहां कार्यक्य व्यंग्य की प्रीति होने पर भी , कारणरूप वाच्य ही प्रधान है, क्योंकि वह वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ रूप कार्य का अनुप्राणक है । अतः यहां व्यंग्य और व्यंक का समुपान्य है ।

(२) कभी कार्यक्य अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा , कारण रूप प्रस्तुत का वादीय होता है । यथा -

वर्णं अपारिवातं कौस्तुभच्छिरशिर्षं महामहस्य उरम् ।

कुमरामि महणपुरवो कुम्हवन्दं व हरकहापम्भारम् ॥

यहां पर बान्धवान् के कौस्तुभशिर और उनकी है रक्ति हरि के वदास्वत वादि के स्मरण रूप अप्रस्तुत कार्य (नैमित्तिक) के वर्णन द्वारा , निमित्तप्रस्तुत प्रस्तुत उनकी कुम्हविक्षा, चिरवीक्षा, व्यवहारकुलता वादि को उनके मन्त्रिक्य में उपादेय हैं - को व्यक्त कर रहा है ।

यहां पर भी उपर्युक्त उदाहरण की भांति वाच्य और व्यंग्य का सम-
प्रधान्य है, क्योंकि व्यंग्यार्थ स्वयं तो प्रधान था ही , वाच्य को भी पुनर
बना रहा है ।

१- केवल व्यंग्यार्थ की प्रीति ही जाने मात्र वे ही ध्वनि नहीं होती , परन्तु व्यंग्यार्थ के प्रधान्य के साथ वाच्यार्थ का गुणीभाव भी होना चाहिए । किन्तु यहां वाच्यार्थ - अप्रस्तुत निमित्त, प्रीयमान प्रस्तुत नैमित्तिक को अनुप्राणक होने के कारण गुणीभूत न होकर प्रधान ही रहा है । इस प्रकार यहां व्यंग्य और व्यंक का समुपान्य है ।

१- शाक्य्याम् -

हमके भी दो प्रकार हैं -

(१) कभी अप्रस्तुत वाक्य है समत्कार होता है , और प्रस्तुत व्यंग्य वाक्य का मुखापेक्षी होता है । क्या- क्षमिन्मनुष्य के मुँह में-पुराण का यह रहस्य -

प्राणा येन सर्वाणिस्तव ब्रह्मार्थेन त्वमुत्थापितः

सन्धौ वसन्धिरं लिखतौऽपि विवर्धयस्ते वसन्धिरपि

तस्यास्य स्निग्धमात्रेण कथन् प्राणपहारिणां

प्रातः कृष्णकारिणां पुरि परं केताव हीतायवे ॥

यहां यद्यपि सापुरय के द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य कृत्य पुस्तक का आशेष ही रहा है, तथापि यहां अप्रस्तुत बाष्पकर्म केताकृतान्त में ही सम्यक्कार है ।

(२) वस्तुतः के वर्णन की कमी, बाणिज्यमय वस्तुतः के अधिक वास्तवपूर्ण होने पर, यह वस्तु अर्थ का उदाहरण हो जाता। यथा-

मायद्रास कठान्वयस्य कृत्यान्वयस्य. यन्मार्गम्

मंतीमिषिषिषिषिषिरात्मकं पुनश्चायं संश्लेष्यते ।

॥ त्र्याम्बाह कर्तुं सतः सद्गुरुम्यन्वयत्सुःशिषिस्तौ ॥

मन्वेऽमुष्य कदात्मता स्तुतिपत्रं त्वत्प्राप्त्यभावेनात् ॥

यहां अनेकाने वस्तुमादि उपरान्त वाच्य के वचन की अपेक्षा वाच्यमाना उपरान्त में अधिक बलवत्तर है, क्योंकि वस्तुमान्य ठीक यह वे भी अधिक पायी हैं - यह वस्तु-मान्य है ।

यह वाक्य की जैसा व्यंग्य का प्राधान्य होना, तब ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाना, अन्वया यह अनुसूतप्रसंग अङ्कार ही रहेगा ।

अध० १।१३ की वृत्तिमान में समाप्तोक्ति, तादात्म्य, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अल्पवृत्ति, दीर्घ, संकर - इतने अङ्कारों को बिनाया था । तामन्व-
कमी ने इन समस्त अङ्कारों का विवेचन करने के बीच बाद , अपस्तुतप्रसङ्ग को
भी जोड़ा है । किन्तु , अमित्रवृत्ति ने अङ्कारों की संख्या में अमित्रवृत्ति की तथा
व्यावस्तुति और नावाङ्कार-इन दो अन्य अङ्कारों को भी जोड़ दिया ।

व्यभिचारात् , जैसे कभी एक कभी अंतराहों का उदाहण देते बाए हैं, जैसे

‘व्याकस्तुति’ का उदाण नहीं देते केवल उदाहरण देते हैं -

त्रिं कृतान्तीः परगुणतैः किन्तु मार्गं समर्थ-

स्तुष्टिं स्वातुं प्रकृतिमुक्तौ वाशिष्ठात्स्वभावः ।

नैवे नैवे विपणिषु तथा वत्सरे पानलोच्छा-

मुन्मतेव प्रसति नक्तौ वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

यहां राधा की प्रकृति रूप को व्यंग्यार्थ निकल रहा है, उसी वाक्यार्थ की कर्तृत्व हो रहा है ।

इसके बाद बभिस ने एक और व्याकस्तुति का उदाहरण दिया है -

‘वाचीन्माय फितामही तव नही....’ इत्यादि को सम्भवतः उनके किसी पूर्ववर्ती वाचार्थ का है या किसी पूर्ववर्ती व्यंग्यालोक के टीकाकार का । बभिस ने इसमें काव्यत्व हीन बताया है और उस उदाहरण की अपेक्षा भी की है ।

तदनन्तर बभिस रुद्र के अनुसार मावालंकार का उदाण और उदाहरण देते हैं । रुद्र ने मावालंकार के दो प्रकार बताए हैं । बभिस ने, रुद्र के उन दोनों प्रकारों में से १. प्रसन्नप्रतिबन्ध के टीकाकार का । बभिस ने इस उदाहरण । और टीका में उस प्रकार कहा -

यस्य विकारः प्रसन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन ।

नम्यति सममिष्टाय तत्प्रतिबन्धं च मायी सी ॥

इसकी व्याख्या करते हुए बभिस कहते हैं -

‘यस्य चित्तवृत्तिविवेचस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिविकारोऽप्रतिबन्धो निवृत्तः^४
प्रसन्नं चित्तवृत्तिविवेचरूपसमिष्टाय येन हेतुना नम्यति च हेतुविवेचोपयोग्यत्वादि-
उदाहरोऽयौ मावालंकारः’ ।

कहा-

१- रुद्र काव्यालंकार पृ० ८२-८३

२- टी० पृ० १२६-१३०

३- टीका में- ‘प्रसन्नप्रतिबन्धस्तु’ पाठ मिलता है, किन्तु रुद्र के काव्यालंकार में ‘प्रसन्नप्रतिबन्धेन’ पाठ है ।

४- ‘वृत्तिबन्धो निवृत्तः’ के स्थान पर ‘वृत्तिबन्धो निवृत्तः’ पाठ अधिक उपयुक्त है ।

वानन्दवर्धन ने रसादि-वर्णन के प्रसंग में जो प्रयोक्तार को उदाहरणार्थ रखा है उस पर आक्षेप करते हुए ^{अभिनवगुप्त} कहते हैं क्योंकि मामह के अनुसार - 'गुरु, देवता, नृप एवं पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन प्रयोक्तार है' अतः उनके अनुसार प्रेयोऽङ्कार का विग्रह इस प्रकार होगा-

‘तत्र प्रेयानङ्कारो यत्र स प्रयोक्तारोऽङ्करणीय इत्येतः’

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में प्रयोऽङ्कार के मुख्य वाक्यार्थ होने के कारण वह वर्णन नहीं बल्कि स्वयं अङ्करणीय है। इसलिये यहां पर वर्णन का वाक्यार्थ ठीक नहीं है।

किन्तु, उद्भट के मतानुसार इसका वाक्यमेव करके व्याख्यान करते हैं अतः उनके अनुसार यहां रसवद्-वर्णन का विषय भी है और प्रयोक्तार का भी है। यह तात्पर्य 'अपि' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है। अतः यहां रसादि वर्णन से रसवत्, प्रेयः, ऊर्ध्वस्त्रि और समाहित वर्णन उपलब्ध हो रहे हैं।

5: वानन्दवर्धन (ध्व० ३।३६ में) कहते हैं वाक्याङ्कारों में व्यंग्याह का अनुगमन होने पर अतिशय शोभा आ जाती है। जैसे - दीपक, समाशोक्ति आदि वर्णनों में प्रायः व्यंग्य अङ्कारान्तर और वस्तुवन्तर का स्पर्श करने वाले देते जाते हैं। क्योंकि सभी वर्णनों में अतिशयोक्ति गर्भिता हो सकती है, और महाकवियों द्वारा योजित होने पर तो निश्चय ही उसमें तत्पूर्व शोभा आ जाती है।^४ ऐसा मामह ने भी अतिशयोक्ति के उदाहरण में कहा है -

देखा सर्वैष कथोक्तिरनयाथो विभाव्यते ।

कनोऽस्यां कविना कार्यः कोऽङ्कारोऽनयाविना ॥

१- संस्कृत जी० पृ० १६२

२- 'न त्वङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्' - वही पृ० १६२

३- जहां भी रसादि शब्द का प्रयोग है उससे रस के साथ माद, तदामास तथा पाकशान्त्यादि गृहीत होते हैं। ये रसादि किसी के अंग के रूप में होने पर कुमलः रसवत्, प्रेयः, ऊर्ध्वस्त्रि और समाहित वर्णन कहलाते हैं।

४- ध्व० पृ० ३६४ - ४६५

५- मामह - वाक्याङ्कार २।८५

अभिनवगुप्त, वानन्दवर्धन द्वारा कथित- सभी कर्त्तारों में अतिशयोक्ति गमती पर, और उसकी पुष्टि हेतु उद्धृत मामह के कथन पर शंका करते हुए कहते हैं -

‘नन्वतिशयोक्तिः सर्वाङ्कारेषु व्यङ्ग्यतान्तरात्मिका इति यदुक्तं तत्कथम् ? यतो मामहोऽतिशयोक्तिं सर्वाङ्कारसामान्यरूपामवादीत् । न च सामान्यं उच्चाद्विषयः प्रतीतेः पृथग्भूततया पश्चात्तन्त्रेण वकास्तीति कथमस्य व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह-मामहेनेति मामहेनापि यदुक्तं तत्रायमेवाप्योऽकन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः ।’

अर्थात् अतिशयोक्ति सभी कर्त्तारों में व्यङ्ग्यरूप से अन्तर्हीन रहती है - यह पता कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि मामह अतिशयोक्ति को सभी कर्त्तारों का सामान्य रूप कहते हैं । सामान्य उच्च से विशेष की प्रतीति नहीं होती । अतः इसका सम्बन्ध व्यङ्ग्यत्व कैसे होगा ? - इतना कहने के बाद अभिनवगुप्त इसका एक समाधान देते हैं-

मामह ने जो कहा है, वहां यह समझना चाहिए कि यह दूर से सम्बन्ध है, इसका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है ।

प्रस्तुत स्थल पर दूर से सम्बन्ध वाली बात वस्तुतः अस्पष्ट है । और मामह के कथन में जो शंका अभिनवगुप्त ने उठाई है उसका समाधान भी नहीं किया है ।

6. संघटना- वानन्दवर्धन - ‘गुणाश्रित संघटना’ मानते हैं । अभिनवगुप्त मट्टोद्घमट के निम्न कथन को - उद्धृत करते हुए कहते हैं -

‘वाच्यभूतानिति । संघटनाया क्मा गुणा इति मट्टोद्घमटावयः, क्माश्च वक्ष्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः’

इस प्रकार मट्टोद्घमट के कथन से यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वानन्दवर्धन और मट्टोद्घमट में गुणाश्रित संघटना के विषय में मतभेद है ।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वानन्दवर्धन ने अपनी प्रतिज्ञा अनुसार पूर्ववर्ती वाच्यार्थों द्वारा प्रतिपादित काव्य के वाच्य-भाग का विस्तृत विवेचन नहीं किया है । उपयोगानुसार उनका अनुवचन-मात्र किया है । किन्तु वाच्यार्थ अभिनवगुप्त ने

अवसर पाकर सभी का विस्तृत विवेचन किया है । ध्वन्यालोक के व्याख्यान के प्रसंग में अभिनवगुप्त का यह प्रयत्न निःसन्देह स्तुत्य है । इस से प्रतीत होता है कि उनके हृदय में पूर्ववर्ती वाचार्थों के प्रति आस्था है । इसीलिए अवसर जाने पर उनका स्मरण अवश्य कर श्रेय है । किन्तु जब वे पूर्ववर्ती वाचार्थों के अङ्गारों के उदाहण का विश्लेषण करते हुए उसमें दोषदर्शन कराने लगते हैं , तब वह व्यर्थ का विस्तार मात्र प्रतीत होता है ।

-----:०:-----

कारिका और वृत्तिमान

ध्वन्यालोक के कारिका भाग एवं वृत्तिमान के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा एक ही, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार के विद्वानों के दो बत हो जाते हैं -

- (१) पहले वह जो कारिका और वृत्तिमान के कर्ता को भिन्न मानते हैं। तथा
- (२) दूसरे, वह जो कारिका और वृत्तिमान के कर्ता को अभिन्न मानते हैं।

भिन्नकृतत्व विषयक समस्या का प्रारम्भ सर्वप्रथम डा० व्यूहठर ने 'कश्मीर-रिपोर्ट' में किया था। तदनन्तर, महामहोपाध्याय श्री बी०बी० काणो ने अपने सुप्रसिद्ध अलंकार-शास्त्र के इतिहास में भिन्नकृतत्व की समस्या उठाई और अनेक प्रमाणों के आधार पर भिन्नकृतत्व के पक्ष को उपस्थापित किया। इस भिन्नकृतत्व के समर्थक आचार्यों में डा० सुनीलकुमार ठे, प्रो० शिवप्रसाद मट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान हैं।

इसके विपरीत, कारिकामात्र एवं वृत्तिमान के लिए अभिन्नकृतत्व के समर्थक विद्वानों का एक दूसरा बत भी था। जिसमें महामहोपाध्याय कुम्भस्वामी शास्त्री, डा० सातकरी मुन्शी, डा० जंगरू, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डा० कृष्णमूर्ति आदि विद्वान हैं।

उपरोक्त विवेक से यह स्पष्ट है कि कारिकामात्र और वृत्तिमान के भिन्नकृतत्व एवं अभिन्नकृतत्व विषयक पूरे विद्वानों के मध्य बहुवर्ति विषय रहा है। अतः इस विषय में कुछ भी कहना निश्चयेन ही होगा। तथापि लोक के मूल्यांकन के प्रसंग में इस तथ्य पर भी कुछ कहना अनिवार्य है।

१- "From Abhinavagupta's tika it appears that verses

(कारिका) are the composition of some older writer,

whose name is not given, but it is remarkable that

they contain no **अलंकार** (पृ० ६५ श्री विष्णुपाद मट्टाचार्य के ध्वन्यालोक पर introduction से उद्धृत)।

(१) भिन्नकृतित्व -

भिन्नकृतित्व विषयक समस्या के स्रोत का मूल वाचार्थ अभिनव-
मुखा का 'ठोक' ही है । अभिनवमुखा स्थल-स्थल पर कारिकाकार और वृत्तिकार
का पुष्प-पुष्प निर्देश करते हैं । इसके प्रमाणार्थ 'ठोक' के भिन्नभित्ति स्थल
दृष्टव्य हैं -

१- ध्वन्यालोक के तीन प्रकार के ध्वनि विरोधी कहे गए हैं - अभाववादी,
अन्तर्भाववादी एवं अनिर्वचनीयतावादी । इनमें से प्रथम उद्योत में प्रथम दो का
विवेचन तो मिलता है किन्तु तृतीय का विरूपण केवल वृत्ति में मिलता है । इस
असंगति और वृत्ति पर प्रथम उद्योत में ठोक में अभिनवमुखा लिखते हैं -

‘एवं त्रिप्रकारमभाववादं, मत्तन्तुतकृतां च निराकृतां वृत्तान्तीयत्कमेतन्मध्ये
निराकृतमेव । अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्थां न कृते । वृत्तिकृत
निराकृतमपि प्रमेयस्यैवपूरणाय कण्ठेन तत्पदामनूय निराकरोति ।’

तदनन्तर प्रथम उद्योत के अन्त में कहते हैं -

‘तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यउदात्तमेव कारिकाकारेण कृतम् । द्वितीयोद्योते
कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषउदात्तं च विदधन्नुवाचमुक्तेन मूलविभागं द्विविधं
सूचितवान् । तदाश्रयानुसारेण तु वृत्तिकृतोद्योते मूलविभागमवोक्तं ‘स च द्विविधः’
इति ।’^१

२- ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में ध्वनि भेदों का विवेचन किया गया है,
किन्तु प्रथम उद्योत में भी ध्वनि के सामान्यतः दो भेद बताया दिए गए थे -
अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्वयपरवाच्य । अतः द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ
में उस पूर्वोक्तित्व प्रश्न का स्मरण दिलाते हुए कहा गया है -

‘एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्वयपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः ।
तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रमेयप्रतिपादनायेदमुच्यते -’

१- उ० पृ० १६२-१६३

२- वही पृ० १६३ ।

अथान्तर संनिमित्तमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं दिवा मत्तम् ॥^१

इस पर अभिनवगुप्त लिखते हैं -

- (१) वृत्तिकारः संतिमुच्यतेस्य कुवाणि उपक्रमो स्वमित्यादि ।
- (२) प्रकाशित इति मया वृत्तिकारेण क्लृप्ति भावः ।
- (३) न केतन्मयोत्पन्नमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणैत्याह तत्रेति । तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते । यन्निमित्तं वीक्ष्यमिति सम्बन्धः ।
- (४) यदिवा तत्रेति पूर्वोक्तः, तत्र प्रकाशयते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षित-
वाच्यस्य यः प्रमेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते ।
- (५) तदवान्तरमेवप्रतिपादनदारेणैव चानुवाददारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रमेदः
विवक्षितान्वयपरवाच्यात् प्रमिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते, भवति मुक्तो
द्विमेवत्वं कारिकाकारस्यापि सम्प्रत्ययेति भावः ।

३- द्वितीय उच्यते में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्वयपरवाच्य नामक उभयध्वनि
मेदों को ध्वन्याभासों से पुनर् करके, अन्त में वह कारिका लिखी -

यतः,

सर्वेष्वेव प्रमेदेषु स्फुटत्वेनावभासम् ।

यद् व्यंग्यस्याभिप्रेतस्य तत् पूर्णं ध्वनिउत्पादणम् ॥^२

अन्तिम कारिका की संगति जानने के लिए वृत्तिकार ने 'यत्' पद का प्रयोग
किया । इस 'यतः' पर जीवनकार लिखते हैं -

‘उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदामासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदति इत्यपि-
प्रायेण वृत्तिकारप्रकारं ददाति यत् इति ।’

४. तृतीय उच्यते के प्रारम्भ में कहा गया है -

एवं व्यंग्यमुत्तेनैव ध्वनेः प्रकाशिते उपमेदे स्वरूपे पुनर्व्यंग्यमुत्तेनैतत्प्रकाशयते^५

१- ध्व० पु० १६५

२- उ० पु० १६५-१६६

३- ध्व० पु० २८६

४- उ० पु० २८६

५- ध्व० पु० २८८-२८९

पर
इस प्रकार अभिनवगुप्त आवृत्ति करते हैं -

‘यस्तु व्यावष्टे - व्यंग्यानां वस्तुचङ्काररसानां मुखेन इति स एवं प्रष्टव्यः स्तब्ध-
तात् त्रिमेवत्वं न कारिकाकारेण कृतम्, वृत्तिकारेण तु दक्षितम्, न वेदानीं वृत्ति-
कारो मेवप्रकटनं करोति, ततश्च इदं कृतमिदं प्रियत इति कर्तुमिदं का संतिः ? न
वैतायता सकलप्राक्तनगुण्यसंतिः कृता भवति ।’

५- व्यङ्ग्यों के पैरों का प्रतिपादन करते हुए कारिका में कहा गया है -

‘उ च रेफ संयोगयुक्तं अनेकं दृकारं शृंगार के विरोधी होते हैं किन्तु वे ही
वीर्यत्वादि के लिए अनुकूल होते हैं ।’^२

इसमें पहले उभाव दिखलाया गया है और पीछे सद्भाव । वृत्तिमाग में कहा
गया है -

कारिकाओं के द्वारा - अन्वय व्यतिरेक प्रस्तुत करते हुए वर्णों की व्यङ्ग्यता
का विवेचन किया गया है ।

यहां ‘अन्वय’ का उल्लेख पहले किया गया और ‘व्यतिरेक’ का बाद में । अन्वय=
सद्भाव और व्यतिरेक= उभाव है । इस प्रकार ‘कारिका’ का ‘वृत्ति’ में उलट गया । —
इस पर अभिनव गुप्त लिखते हैं -

‘कारिकाकारेण पूर्व व्यतिरेकः उक्तः पश्चादन्वयः वृत्तिकारेण तु.....
अन्वयः पूर्वमुपातः’ ।^४

६- कारिका में कहा गया कि ‘रस वादि के आधार पर बनाया गया काव्य
अनन्तता को प्राप्त हो जाता है’ फिर लिखा गया ‘मधुमास में वृद्धों के समान
वृष्टपूर्व अर्थ भी नवीन प्रतीत होने लगते हैं’ । ^{रस परिपूर्य के कारण} ~~रसपरिपूर्य के कारण~~ । इन दोनों के
बीच सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि दूसरा वक्तव्य प्रथम
वक्तव्य के समर्थ के लिए है । इस पर लोचनकार ने लिखा -

‘यद्यप्ययमिन्त्यमात्रे हेतुवृत्तिकारेणोक्तः, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः’^५

१- लो० पृ० २८६-२८०

२- ध्व० ३१३ और ३१४ पृ० ३०३

३- वही पृ० ३०३

४- लो० पृ० ३०४

५- लो० पृ०

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त कथनों को देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि कारिका और वृत्ति में भिन्नकृतृत्व की समस्या का वाधान करने का सम्पूर्ण दायित्व अभिनवगुप्त पर ही है। साथ ही, भिन्नकृतृत्व स्वीकार करने पर दोनों मातृहो के गुण्य नाम एवं कर्ता नाम विनयक जनों के अलग-अलग समस्याओं का उद्भव होता है। अतः भिन्नकृतृत्व वादा पक्का ठीक नहीं है।

२. भिन्नकृतृत्व -

भिन्नकृतृत्व वादा पक्का ठीक है। वस्तुतः कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न नहीं होते। क्योंकि -

अभिनवगुप्त ने सङ्ख्यानानामानन्दो मनसि कृतां प्रतिष्ठा^१ की व्याख्या करते हुए 'आनन्द' का अर्थ तो आनन्दवर्धन किया किन्तु सङ्ख्य का अर्थ तन्नामक कोई व्यक्ति नहीं किया, फलपुत्र यही कहा कि इस गुण्य के रचयिता (आनन्दवर्धन) सङ्ख्यवक्त्रकर्त्ता हैं क्योंकि उनका मन वृत्तिस्वरूप है। अभिनवगुप्त ने यहाँ आनन्दवर्धन को ही गुण्यकृत कहा है। यह तथ्य उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है -

(१) 'आनन्द इति च गुण्यकृतौ नाम । तेन च आनन्दवर्धनाचार्य स्तब्धस्त्रदारेण सङ्ख्यवक्त्रवैष्णु प्रतिष्ठां मञ्जुत्विति भावः'^२

(२) 'तथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधस्य मनः, सङ्ख्यवक्त्रकर्त्तृत्वयं गुण्यकृत इति वाक्य'^३

इससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन को ही सङ्ख्य कह रहे हैं।

यदि आनन्दवर्धन वृत्तिमान के रचयिता हैं तो ऐसी कौनसी क्वाबट थी जो उन्होंने 'सङ्ख्य' शब्द की व्याख्या में यह स्पष्ट नहीं किया कि यह कारिकाकार का नाम है।

वस्तुतः कारिकाकार एवं वृत्तिकार अभिन्न हैं फिर भी अभिनवगुप्त उन्हें भिन्न मान रहे हैं। सम्भवतः अभिनवगुप्त चाहते हैं कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार पूर्ण रूप से एक-दूसरे का देह न हों। अभिनवगुप्त के देह जानते हुए भी वेद करने को देने के बावजूद हैं।

यदि ध्वन्यालोक ग्रन्थ दूसरे आचार्य का बनाया हुआ होता तो आनन्दवर्मा अपने ऊपर सम्पूर्ण ग्रन्थ का श्रेय क्यों लेते ? आनन्दवर्मा स्वयं कहते हैं -

उत्पादकतत्त्ववक्तृभिर्प्रयुक्त-

कल्पं मनसु परिपन्थयिष्यां यदासीत् ।

तच्चाकारोत्सृज्यदयोदयतामतेतो

आनन्दवर्मा इति प्रकृतमिदम् ॥^१

यदि मुकुन्दग्रन्थ आनन्दवर्मा का न होता तो आनन्दवर्मा उसके विषय में कुछ न कुछ अवश्य खोज करते। एक आचार्य के पक्ष में इस प्रकार दोनों भागों-कारिका और वृत्ति में वेद मानना खीसा बन्ध्या है।

वस्तुतः उस समय की यह शैली ही थी। वासन ने स्वयं कुछ लिखा और उस पर वृत्ति लिखी। उसी प्रकार आनन्दवर्मा ने भी कारिका और वृत्ति लिखी अतः यहाँ विप्रतिपत्ति का तर्क भी अवकाश नहीं।

निष्कर्ष यह है कि ध्वन्यालोक की कारिकाओं के रचयिता और उसकी वृत्ति के रचयिता वे अभिन्न हैं। वेद की विज्ञा अभिनवगुप्त की देन है।

निष्कर्ष -

ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में उद्बोधन का अध्ययन करने पर निम्नलिखित स्तम्भ तथ्य सामने आते हैं :-

१. विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द का अर्थ अभिनवगुप्त अपने अनुसार करते हैं।

२. व्यंग्यार्थ के त्रिविध भेद- वस्तु, अलंकार एवं रस को व्यंग्य का भेद न कह कर ध्वनि का भेद मानते हैं ।
३. ध्वनि के पांच अर्थ करते हैं - व्यंग्य अर्थ, वाचकशब्द वाच्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और अनुदाय रूप काव्य ।
४. ध्वनि के उपभेदों में कहां आवश्यकता पड़ी अपने अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेते हैं ।
५. अभिधा, उदात्ता एवं व्यंजना के अतिरिक्त सात्पर्य शक्ति को भी मानते हैं ।
६. शान्तरस का स्वरूप और उसके स्थायीभाव का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने विभक्तुत्त स्तान्त्र रूप से किया है । और शान्त रस को रसराज माना है ।
७. और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है - अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त । जिसे उन्होंने उवाक्ष के रंग में रंग दिया ।
८. अभिनवगुप्त के जीवन में अलंकार के प्रसंग में विशेष रूप से मामह, उद्भट, वामन आदि को उद्धृत किया है, जिससे उनकी व्याख्या सम्यक् हो गई है और आनन्द-वर्धन का सन्तव्य भी स्पष्ट हो गया है । किन्तु कभी-कभी व्यर्थ का विस्तार सा प्रतीत होने लगता है ।
९. ध्वन्यालोक की कारिका एवं वृत्तिभाग के रचयिता आनन्दवर्धन ही हैं किन्तु अभिनवगुप्त ने जीवन में कारिका और वृत्ति भाग के कर्ता को भिन्न-भिन्न माना है ।

पंचम - अध्याय

उोचन का परकीर्ण ध्वनि-सम्प्रदाय पर प्रभाव

पिछले अध्याय में उोचन के विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में अपने अभिनव म्ताओं को गुप्त ङं से सम्मिलित किया है, जिसका प्रभाव परकीर्ण ध्वनि-सम्प्रदाय पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है । अतः पिछले अध्याय में अभिनवगुप्त के जिन नवीन त्प्यों को लोका गया है, उन्हीं त्प्यों के परिशेष में परकीर्ण ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख वाचार्थों के म्ताओं का विश्लेषण करेंगे ।

व्यंग्य अर्थ और ध्वनि में ऐक्य की प्रान्ति :-

व्यंग्य के तीन पैद हैं - वस्तुव्यंग्य, लंकार-व्यंग्य एवं रसादिव्यंग्य । किन्तु अभिनवगुप्त इन्हें वस्तुध्वनि, लंकार ध्वनि एवं रसादिध्वनि संज्ञा से अभिहित करते हैं, जिससे व्यंग्य अर्थ एवं ध्वनि के स्वरूप में ऐक्य की प्रान्ति होती है । वस्तुतः ध्वनि एवं व्यंग्य अर्थ खूँधा भिन्न-भिन्न हैं किन्तु अभिनवगुप्त की व्याख्या से इन दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है । परकीर्ण वाचार्थों में से कुछ ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों के पार्थक्य को समझ लिया, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो अभिनवगुप्त का ही अनुकरण करते हैं ।

वाचार्थ मम्मट की दृष्टि 'तत्त्व का अन्वेषण' करने में बड़ी पैनी है । वह अभिनवगुप्त के मत को उसी स्थान पर अपनाते हैं, जहाँ उन्होंने कोई विशेष बात कही हो, अन्यथा वह आनन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हैं । व्यंग्यार्थ का प्रति-पादन ध्वनि के साथ करते भी हैं, तो बड़े विवेक के साथ । यथा-

‘लंकारेण पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो पैदाः, व्यंग्यस्य त्रिपत्वात् । तथाहि

विचित्रं किंचिदाव्यक्तां वृत्ते किंचित्त्वन्वया । तत्र वाच्यतासमविचित्रं विचित्रं वेत्ति ।
विचित्रं वस्तुपात्रम्, विचित्रं त्वलंकाररूपम् । रसादिउत्पाणस्तत्त्वः स्वध्वनिः
पि न वाच्यः ।

इन पंक्तियों में 'वस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः' - पर अभिनवगुप्त का कोई प्रभाव नहीं है, जो ध्वनि के तीन भेदः वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि मानते हैं।
जो वाच्यार्थ मध्यम, इस प्रकार कहा है -

'संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्' ।

इसका तात्पर्य यह है कि - ध्वनि तो अनन्त भेदों वाला है, उसमें वस्तु, अलंकार एवं रसादि त्रिविध रूप से व्यंग्य होते रहते हैं ।

हेमचन्द्र काव्यानुशासन में व्यंग्यार्थ का उद्घाटन इस प्रकार देते हैं -

'मुख्याव्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः' ।

वौर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं -

'मुख्यगोणलक्षणाव्यतिरिक्तः प्रतीतिविचर्यो व्यंग्योऽर्थः । स च ध्वन्यते
चोत्पत्ते इति ध्वनिरिति पूर्वाचार्यैः संज्ञितः । अयं च वस्तुत्वलंकाररसादिभेदास्त्रिधा ।

हेमचन्द्र अतिकुसलता से वस्तुत्वलंकार एवं रसादि का प्रतिपादन कर रहे हैं ।
किन्तु यदि 'अयं च वस्तुत्वलंकाररसादिभेदास्त्रिधा' इस पंक्ति को 'व्यंग्योऽर्थः' के ठीक
बाद रख देते तो यह स्पष्ट हो जाता कि यह त्रिविध भेद व्यंग्यार्थ के लिए ही
कहे गए हैं, 'ध्वनि' के लिए नहीं ।

श्री विशाखर एकावली के प्रथम उन्मेष में ध्वनि की स्थापना के प्रसंग में
ध्वनि और व्यंग्यत्रय को बड़े विवेक के साथ प्रस्तुत करते हैं - 'तस्मादस्ति ध्वनिः ।
अयं च वस्तुत्वलंकाररसादि रूपतया पञ्च त्रैविध्यमतिक्रमति' ।

किन्तु अभिनवगुप्त के प्रभाव से बहूते नहीं रह पाते । उपर्युक्त पंक्तियों के
साथ इतना और कह देते हैं - 'वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिः रसादिध्वनिश्चेति' ।

१- काव्यप्रकाश पृ० २१६-२१७

२- काव्यानुशासन पृ० ३०

३- काव्यानुशासन, पृ० ३१

४- एकावली पृ० ५२-५३

५- एकावली पृ० ५२-५३

यदि इसी तथ्य को एकावलीकार इस प्रकार कहते -

‘तस्मादस्ति ध्वनिः । अयं च वस्तुवर्णकाररसादिरूपतया (व्यंग्य)

मवन्म त्रेविध्यमतिवर्तते । वस्तुव्यंग्य वर्णकारव्यंग्य, रसादिव्यंग्यश्चेति ।

तो अधिक उपयुक्त होता । क्योंकि वस्तु, वर्णकार एवं रसादिरूपेण व्यंग्य होता हुआ ध्वनिकाव्य अन्त प्रकार का हो जाता है । वस्तुध्वनि, वर्णकारध्वनि एवं रसादिध्वनि कहने पर ये ध्वनि के भेद प्रतीत होने लगते हैं वस्तुतः यह ध्वनि के भेद नहीं, व्यंग्यार्थ के भेद हैं ।

आचार्य विश्वनाथ भी ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के पार्यव्य को नहीं समझ पाए । उन्हें भी दोनों में ऐक्य की प्राप्ति हो ही गई, इसी कारण वे कहते हैं-

‘यु ध्वनिकारेणोक्तम्- काव्यस्यात्मा ध्वनिः इति तत्त्वे वस्तुवर्णकार रसादिउपाणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ?...’

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा -

कता रस्य धिमज्जक रस्य त्वं दिवसत्वं पञ्चोदति । ना पक्षि रतिवन्धिव च
वेण्वार मह धिमव्यहिधि ।

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे क्वं काव्यव्यवहार इति चेत् ?^१ इत्यादि ।

वस्तुतः ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन का सिद्धान्त इतना सरल है कि उसमें किसी प्रकार की जंजा का अवकाश नहीं है । किन्तु फिर भी आचार्य विश्वनाथ ध्वनिकार पर आक्षेप कर रहे हैं । यदि अवधानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अमिनगुप्त की ‘डोबन’ टीका के ही कारण साहित्यदर्पण-कार उपर्युक्त जंजा कर रहे हैं । क्योंकि आचार्य अमिनगुप्त वस्तु, वर्णकार एवं रसादि रूप त्रिविध व्यंग्यार्थ को कुसुमः वस्तुध्वनि, वर्णकारध्वनि एवं रसादिध्वनि कहते हैं, जिसके कारण यह ध्वनि के भेद प्रतीत होने लगते हैं । इसी कारण आचार्य विश्वनाथ काव्यस्यात्मा ध्वनिः पर इस प्रकार जंजा करते हैं कि -

‘वस्तु, वर्णकार एवं रसध्वनि तीनों को काव्य की आत्मा माना जाए जबवा केवल रसध्वनि को । यदि रसध्वनि मात्र को काव्य की आत्मा माना जाएगा तो

कविकर्णपुराणोद्गामी ने सर्वसंततसर्विक ध्वननं ध्वनिः 'ध्वन्यतोऽनेनेति ध्वनिः' एवं 'ध्वन्यतोऽस्मिन् इति ध्वनिः' का निराकरण करते हुए, केवल 'ध्वन्यतो' साविति ध्वनिः - इस प्रकार ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है।

और एक नई सम्भावना भी इन्होंने की है - वे 'रस' को आत्मा और 'ध्वनि' को प्राण कहते हैं। इनकी यह छान बड़ी विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राण और आत्मा के माध्यम से बानन्दवर्धन के 'योऽर्थः सङ्ख्यकरताध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः' और 'काव्यस्यात्मा स स्वार्थः' में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के अर्थ को स्पष्ट करना चाह रहे हैं। क्योंकि पक्षी कारिका^(ध. १/२) में वस्तु अङ्कार एवं रसादि व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा कहा गया और ध्व० १।४ में 'रसव्यंग्य' का ध्वनि-काव्य में प्राधान्य बताया गया है। इसी दृष्टि से कविकर्णपुराणोद्गामी रसादि को ध्वनिकाव्य का प्राण और रस को ध्वनि की आत्मा कह रहे हैं। इसके कुछ हद तक बानन्दवर्धन का मन्तव्य स्पष्ट होता है किन्तु उनकी शब्दावली में तस्पष्टता है।

'रसारव्यध्वनेत्ये ध्वनयस्तु प्राणा' - इस पंक्ति द्वारा कविकर्णपुराणोद्गामी पर भी अभिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिछाित हो रहा है। क्योंकि यह भी 'रसारव्यध्वनि' पद का प्रयोग कर रहे हैं।

रस - प्रक्रिया -

अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त का परवर्ती आचार्यों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सभी ने अभिनवगुप्त की दुहाई देकर रस प्रक्रिया को स्वीकार किया। यह बात दूसरी है कि कुछ आचार्यों ने एकाग्र स्थान पर थोड़ा बहुत शास्त्रीय वेद उपस्थित किया, और कुछ ने अभिनव की यथावत् स्वीकार कर लिया है।

ध्वनि विरोधी आचार्य जनक्य चनिक एवं महिम मट्ट जहां एक ओर ध्वनि का विरोध करते हैं वहीं वे दूसरी ओर रस का समर्थन करना नहीं मूलते। यथा-

जनक्य और चनिक ने रस की स्थिति सङ्ख्ययुक्त ही मानी है और यह स्वीकार किया है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों द्वारा सङ्ख्ययुक्त

स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है ।^१ किन्तु वे व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार नहीं करते । अतः वे काव्य अथवा उनमें वर्णित विभाव्यादि के साथ रस का, अभिनवशुभ्र के समान व्यंग्य-व्यङ्ग्य सम्बन्ध न मानकर मट्टनायक की भांति भाव्य-भावक सम्बन्ध मानते हैं ।^२ परिणामतः उनके मतानुसार 'विभाव्यानुभावव्यभिचारिण संयोगादुत्पत्तिरिति' इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' का अर्थ 'भाव्य-भावक सम्बन्ध' है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भक्ति होना' है ।

महिममट्ट ने 'रस' को काव्य की आत्मा माना ।^३ उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उसकी स्थिति सतृदयगत होती है । सतृदय ही स्थायीभावों का रस रूप में आस्वादन करता है, किन्तु वे स्थायीभाव वासना रूप में सतृदय के वित्त में विद्यमान नहीं होते वरन् रंगमंच पर नट द्वारा प्रदर्शित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब-रूप होते हैं :

तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमेविभाव्याव्यभिचारिणस्त एव रत्यादयः
प्रतिबिम्बकत्वाः स्थायीभावव्यपदेशभावः कविभिः प्रतिपत्तुप्रतीतिपक्षमुपनीयमाना
हृदयसंवादावास्वाकत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते ।^४

इसका भावार्थ यह है कि रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता में नहीं होती, वे केवल रंगमंच पर प्रदर्शित या काव्य में वर्णित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब होते हैं । कवि कृत्रिम कारण रूप विभाव्यादि के द्वारा इन्हें प्रमाता की प्रतीति का विषय बनाता है और तब उसकी सतृदयता के कारण आस्वाद्य होकर ये प्रतिबिम्बकत्व स्थायीभाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं ।

किन्तु इस प्रक्रिया का आधार व्यंजना नहीं है, रस अनुमान से ही सिद्ध हो

१- (१) श्रुतानां मृष्ययैवैवद्वाठानां निरवादिभिः ।

स्वोत्साहः स्वयते तद्वञ्छोतृणामर्जुनादिभिः ॥ दशरूपक ४।४१, ४२

(२) विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।

जानीयमानः स्वाकत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ वही ४।१२

२- अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यङ्ग्यभावः, किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्धः ।

काव्यं हि भाकं भाव्या रसादयः । (दशरूपकावलीक पृ० १५८)

४- व्यक्तिविवेक - पृ० ७६

जाता है, विभावादि गमक हैं और रत्यादि भाव, जो जन्यतः रस रूप ही जाते हैं, गम्य हैं ।^१

कतः मम्मट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति और संयोग का अर्थ हुआ अनुमाप्य-अनुपायक सम्बन्ध । इस प्रकार रस के स्वरूप के विषय में मम्मट का मत वहाँ अभिनवगुप्त के अनुकूल है, वहाँ प्रक्रिया के विषय में वे अंकुश से ही सक्त हैं ।

मम्मट ने मट्जोरुडट, श्रीसंकु एवं मट्नायक के मतों का पूर्वपक्ष^{के रूप में उल्लेख} करते हुए वस्तु में अभिनवगुप्त के ही मत पर अपनी आस्था प्रकट की है। मम्मट का स्पष्ट उद्देश्य काव्यशास्त्र की रचना करना था, कतः उनकी दृष्टि काव्य के विवेक पर ही केन्द्रित रही है - दर्शन का उपयोग भी उन्होंने यथास्थान किया है किन्तु उसकी सुस्पष्टताओं में वे कहीं नहीं उठे । फलतः उनके ग्रन्थ में विशेष मौलिक स्थापना नहीं है - उन्होंने अपने ढंग से, स्वच्छता के साथ किन्तु संशय में - दार्शनिक बटिस्ताओं से बचकर अभिनवगुप्त के मत के प्रकाश में रस-निष्पत्ति का बाल्स्थान मात्र कर दिया है । 'संयोग' का अर्थ वही व्यंग्य-व्यङ्ग्य सम्बन्ध है और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है ।

मम्मट का ग्रन्थ इतना ओकप्रिय हुआ कि अभिनवगुप्त के मूठ सिद्धान्तों को भी उसने बाच्छादित कर लिया और रस-प्रकाश कुमरः अपने वाधारमृत दर्शन शैवाक्षे से विच्छिन्न होता गया । उधर भारत में शांकर वेदान्त का प्रचार और प्रचार बढ़ रहा था जिसका प्रभाव साहित्य तथा साहित्यशास्त्र पर भी पड़ा । फलतः रस-सिद्धान्त पर शैवाक्षे का प्रभाव कम और शांकराक्षे का रंग गहरा होने लगा । इस परिवर्तन के संकेत थोड़े बहुत विश्वनाथ में भी मिल जाते हैं, यद्यपि विश्वनाथ दार्शनिक की अपेक्षा साहित्य-रसिक ही अधिक थे, किन्तु

१- त एव हि त्रीकिका विभावावयो हेतुकार्यसंस्काररूपा गमकाः । त एव च रत्यावयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः ।

वरम परिणति मिलती है पण्डितराव जगन्नाथ में जिन्होंने अभिनव के रस-
विद्वान्त को नव्य-न्याय है परिपुष्ट शंकर वेदान्त में सर्वथा अभिजिज्ञा कर
दिया । विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त के स्वर में ही कहा :

विभागेनानुभागेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रक्तामेति रत्यादि स्वाधिभावः संकेतसाम् ॥

अर्थात् सङ्ख्य पुस्तकों के हृदय में स्थित वाक्यात्म्य रति आदि स्वाधिभाव
ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप
को प्राप्त होते हैं ।

यहां एक तथ्य अवश्य है : कि आचार्य विश्वनाथ यह नहीं
मानते कि जिस प्रकार दीपक से घट व्यक्त होता है उसी प्रकार विभावआदिकों
से रस व्यक्त होता है, बल्कि उन्होंने 'व्यक्तः' का अर्थ किया - दूध से बनी
आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना । कहने का अभिप्राय यह है कि
'निष्पत्ति' का वास्तविक अर्थ विश्वनाथ 'परिणति' ही मानते हैं, यद्यपि 'व्यक्ति'
या 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग वे बराबर करते हैं और अभिनव के उद्धरण से
ही अपने मन्तव्य की पुष्टि करते हैं :

तदुक्तं ठोचनकारैः रसाः प्रतीयन्त इति त्थोचनं पक्षीतिक्त् व्यवहारः ।
इति ।

जाने कलकर विश्वनाथ रस का स्वरूप वर्णन करते हैं :

उत्तरोदेकावच्छेदस्वप्रकाशानन्दविन्मयः ।
वेदान्तरस्यसङ्गुन्धौ वृक्षास्वादसहोदरः ॥
लोकौतरमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदमिन्नत्वेनायमास्वाक्ते रसः ॥

१- साहित्यदर्पण ३।२

२- व्यक्तो दृष्टादिन्यायेन रूपान्तर परिणतो व्यक्तिभूत एव रसः । न तु
दीपेन घट इव पूर्वविद्धो व्यज्यते । वही पृ० ४७

३- वही पृ० ४७ . ४-५, वही पृ० ३।६, ३।७, पृ० ४८-४९

जो अक्षय्य स्वयंप्रकाशरूप, ज्ञानान्वय, विन्यय, अन्य ज्ञान के स्पर्श से मूल्य एवं कृतास्वाद के अत्यन्त समकक्ष हैं और लोकोत्तर बन्तकार ब्रह्माधार हैं, ऐसे रस का कोई (पुण्यवान्) वाचनात्म्य संस्कार से युक्त सकृदय व्यक्ति स्वाकारक्त अभिन्नत्वेन आस्वादन करता है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मूलः मट्टनायक की ही शब्दावली है- 'सत्त्वोद्देशकप्रकाशानन्दमय,..... परकृतास्वादविविधेन भोगेन परं पुण्यत इति'- जिसमें अभिनव के सिद्धान्त के प्रकाश में संशोधन कर दिया गया है । ये संशोधन सत्त्वोद्देशक की व्याख्या में तथा स्वाकारक्त एवं अभिन्नत्वेन पदों के प्रयोग में निहित हैं । मट्टनायक जहाँ रस की स्थिति में रसोगुण और तमोगुण का अनुबन्ध भी स्वीकार करते हैं, वहाँ विश्वनाथ 'रसस्तमोभ्यामस्मृष्टं मनः' को अनिवार्य मानते हैं । इसी प्रकार रस का आस्वादन आत्मा के निजी रूप के आस्वादन से अभिन्न है - जहाँ तू रसास्वाद आत्मास्वाद का ही रूप है । ये दोनों संशोधन अभिनव के मतानुसार ही किए गए हैं, इसमें सन्देह नहीं ।

रस स्पष्ट वेद और भी है - 'बन्तकार' का अर्थ विश्वनाथ ने 'विस्मय' किया है जो अनधिकृत है और पुनर्गृह का परिणाम मात्र है । विश्वनाथ ने अभिनव की शब्दावली को छोड़ कर सामान्य वेदान्ती शब्दावली का ही प्रयोग किया है ।

रस-प्रसंग में अन्तिम प्रसिद्ध नाम पण्डितराज ज्ञानाथ का है । पण्डितराज ने रस गंगाधर के प्रथम खानन में रस-विषयक ग्यारह प्रश्नों का उत्तर एवं विवेचन किया है उनकी विवेचना से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के मत में उनकी पूर्ण वास्था है । अभिनव का रस-सिद्धान्त तर्ज पर आधारित है, परन्तु यह प्रत्यक्ष-भिरादही में प्रतिपादित श्रेश्ठाज्ञ है जो आत्मतत्त्व के साथ-साथ उसकी आभासरूप प्रकृति को भी अत्यन्त एवं ज्ञानान्वय मानता है । पण्डितराज ने अभिनव के तर्ज और उसके परिणामी ज्ञानान्व-सिद्धान्त को तो यथावत् ग्रहण किया है, किन्तु उसे रंग दिया शांकर वेदान्त के रंग में । इस अन्तर को स्वयं उन्होंने ही बड़े स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है :

अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों के अनुसार अज्ञानरूप आवरण

से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति बादि स्थायी भाव रख है किन्तु 'रसो वै सः' इत्यादि भुक्ति के अनुसार वस्तुतः रति बादि स्थायी-भाव उसके विषय हों, ऐसे आवरण मुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रख कहना चाहिए न कि चैतन्यविषयिभूत रत्यादि को ।

जहाँ तक रस के स्वरूप का सम्बन्ध है , दोनों में कोई मूल अन्तर नहीं है । दोनों ही मतों में रस की नित्यता और स्वप्रकाशता सिद्ध है । अन्तर केवल इतना ही है कि अमिनव के मत में चैतन्य विशेषण और स्थायी भाव विशेष्य है , जब कि पण्डितराज के मत में स्थायीभाव विशेषण और चैतन्य विशेष्य है । और यही शैवाजैत या शांकराजैत में भेद है - शैवाजैत में प्रकृति के बंध रत्यादि स्थायीभावों में भी , चैतन्य के प्रतिमास होने के कारण जानन्द की स्थिति मान्य है । किन्तु शुद्ध(शांकर) जैत सिद्धान्त केवल चैतन्य को ही जानन्दरूप मानता है । इस प्रकार सर्वज्ञ पण्डितराज ने अमिनव के मत को तत्त्व रूप में स्वीकार तो किया है किन्तु उसकी व्याख्या में वेदान्त के अनुसार संशोधन कर दिया है ।

अमिनव के मत में के अतिरिक्त पण्डितराज ने दो अन्य मतों को भी रखा है । जिनके प्रति उनकी वास्था स्पष्ट है, यद्यपि उन्होंने कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं दिया है, फिर भी जिस आग्रह के साथ उन्होंने इसका मण्डन किया है उससे विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि ये नवीन मत विशेष कर इनमें से प्रथम मत पण्डितराज का अपना मत है । वह मत इस प्रकार है :

‘काव्ये नाट्ये च , कविना नटेन न प्रकाशितेषु विभावदिषु, व्यञ्जन-
व्यापारेण दुष्यन्तादौ ह्युन्तडादिरता गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोऽल्लासितस्य
भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना , कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छासिते स्वात्मन्य-

१- इत्थं चाभिनवमुखा मम्मटकृदादिगुरुस्वारस्येन मग्नावरणविदित्तिष्ठौ
रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाण
भुक्तिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना मग्नावरणा विदेव रसः ।

- रस गंगाधर पृ० १७

ज्ञानावच्छिन्ने बुक्तिकाशक्त इव रजसवण्डः समुत्पन्नमानो निर्विक्रीयः साक्षा-
मास्य-समुत्पन्नतादिविविचयकरत्वादिरेव रजः ।

अभिप्राय यह है कि -

- (१) स्थायीभाव ही रज रूप में आस्वाक्षित होता है ।
- (२) व्यंजना व्यापार की सहायता से ही सकृदय को विभावधि के द्वारा स्थायी भाव की अवसति होती है ।

इससे ये दोनों तथ्य अभिन्नगुण्य के मत के अनुकूल ही हैं ।

- (३) एक ओर काव्य के गुणों और दूसरी ओर उसके अपने सकृदय के गुणों के कारण प्रमाता के चित्त में एक विशेष भावना-रूप दोष का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसके प्रभाववश उसकी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्त्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् आत्म्य के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है । यहाँ दो नवीन तथ्य सामने आते हैं :

(क) भावना रूप दोष की कल्पना । और

(ख) आत्म्य के साथ तादात्म्य की कल्पना ।

- (क) भावना रूप दोष की कल्पना का आधार है - नव्यन्याय द्वारा पुष्ट.

वेदान्त । अपने को दुष्यन्त समझने की भावना वस्तुतः व्यर्थ नहीं है, इसीलिए इसे दोष कहा गया है । यह भावना वास्तव में आधुनिक आलोचना शास्त्र की समानुपति के निकट है जिसमें कल्पना और अनुपति दोनों का संयोग रहता है - इसे केवल कल्पना कहना पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि इसका आधार भाव है । मनोविज्ञान के अनुसार यह यथार्थ है, प्रम नहीं है । किन्तु भायावादी हांकिवेदान्त तो आत्मानुपति में से केवल आत्मन् की ही सत्य मानता है , अनुपति को नहीं । इसके अनुसार जब प्रत्यक्ष जागरित अनुपति की पारमार्थिक दृष्टि से कुछही प्रम है, तो कल्पित रत्यादि की अनुपति की अवधारणा में तो संदेह ही क्या हो सकता है ? नव्य मत के अनुसार काव्य का अनुभव कल्पित भाव का अनुभव है जो विषयान् न होने से अस्तु और अनुपमान होने से स्तु - अतः अनिवार्य है और स्वप्रमाण्य

से सुसमय है । वास्तविक अनुमति और काव्यानुमति दोनों ही इस दर्शन के अनुसार अज्ञान-रूप हैं । मेद केवल माया का है क्योंकि व दूसरे में अज्ञान का आवरण वञ्चतः हट जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन सभी विचारों का बाजार है और दर्शनों में भी शांकर वेदान्त सर्वाधिक सूक्ष्म-गहन एवं बुद्धि सम्पन्न है । किन्तु केवल बुद्धि का बाँध पकड़े रहने से साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की क्या दुर्गति हो सकती है , इसका प्रमाण पण्डितराज जैसे रसज्ञ का यह दार्शनिक रस-विवेचन जो कम से कम सङ्कय का परितोष नहीं कर सकता ।

उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं के बाजार पर निष्पत्ति के दो अर्थ सामने आते हैं । पहला अर्थ है अभिनव तथा मम्मट द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्ति या व्यक्ति । व्यक्ति का अर्थ पण्डितराज के अनुसार व्यञ्जा नहीं है, व्यक्ति का अर्थ है आवरण से मुक्त चैतन्य का प्रकाशन । जब स्थायीभाव इसी मुक्त चैतन्य का विषय बन जाता है तो रस निष्पन्न हो जाता है । इस प्रकार 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ 'आवरण मुक्त मुक्त चैतन्य का विषय होना' । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अर्थ सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थों से भिन्न, मुक्त दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है । नवीन मूल के बाजार पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के दो अंग हैं : एक तो व्यञ्जा-व्यापार के द्वारा विभावानि से वाङ्मय के प्रति वाक्य के स्थायीभाव का ज्ञान 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' अर्थात् दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता है और दूसरा भावना दोष के उदय से कल्पित दुष्यन्तत्त्व से वाङ्मयादित सङ्कय की वात्मा द्वारा शकुन्तला विषयक रति का वास्वावन जो काव्यगुण आदि के कारण वञ्चतः आवरणमुक्त हो जाती है । इस प्रकार व्यञ्जा द्वारा पहले तो वाक्यगत स्थायीभाव प्रकट होता है और फिर तादात्म्यमूल सङ्कय की वात्मा द्वारा वास्वादित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है । यहाँ भी 'निष्पत्ति' के मौलिक अर्थ में कोई मेद नहीं है - यहाँ भी वह व्यक्ति की ही वाक्य है जिसका अर्थ 'चित् शक्ति का विषय होना' केवल प्रक्रिया की दार्शनिक व्याख्या में ही मेद हो गया है ।

१- व्यक्तिश्च मग्नावरणा चित् - रत्नगोवर, पृ० ६०

२- रस-सिद्धान्त पृ० १७७-१८३ ।

इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख वाचार्य - मम्मट, विश्वनाथ, एवं पंडितराज ज्ञान्नाथ के रस-सिद्धान्त के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि वाचार्य अभिनवगुप्त ने रस की दार्शनिक पीठिका पर वाचीन करके जिस नवीन परम्परा का श्री गणेश किया था, उससे परकीर्ति ध्वनि-सम्प्रदाय बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है।

रस संख्या -

जहाँ तक रसों की संख्या का प्रश्न है - इस विषय में ज्ञानन्दवर्मी और अभिनवगुप्त में मतभेद है दोनों ही काव्य में नौ रस मानते हैं। इनके परकीर्ति वाचार्यों ने भी काव्य में नौ रस माने हैं। कुछ वाचार्यों ने मक्तिरस और वात्सल्य रस का भी उल्लेख किया है। किन्तु नौ रस सर्वसम्मत हैं :-

- १- भ्रुंगार
- २- हास्य
- ३- वल्लभ करुण
- ४- रौद्र
- ५- वीर
- ६- मयानक
- ७- वीमलस
- ८- अद्भुत तथा
- ९- शान्त

उक्त रसों में से वाचार्य ज्ञानन्दवर्मी ने प्रत्येक का पूर्ण विवरण नहीं दिया। केवल दो रसों भ्रुंगार और शान्त के विषय में उन्होंने पर्याप्त उदाहरण दिखाई हैं और इनके विषय में अवान्तर तथ्य प्रस्तुत किए हैं।

टीकाकार होने के कारण अभिनवगुप्त ने भी अन्य रसों की खोजा इन्हीं दोनों का विस्तृत विवेचन किया है। और इन दोनों में से भी शान्त के प्रति उनमें अधिक गह्रा है। इस तथ्य की पुष्टि अभिनवभारती के शान्त-रस विवेचन से होती है।

१- इसका विस्तृत विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।

शान्त रस-

परकीय आचार्यों में से धनंजय और धनिक ने नाट्य में शान्त रस का कम कर विरोध किया है। धनंजय के मत में नाट्य में क्रुंठार, वीर, वीरसूत, रौद्र, हास्य, उन्मुक्त, मयानक तथा कर्तव्य ये आठ ही रस होते हैं। शान्त रस के स्थायीभाव श्रम का अभिनय नहीं हो सकता क्योंकि श्रम में व्यक्ति की समस्त शैक्षिक प्रश्रियाओं का जोष हो जाता है और एक वीतराग, अनाभिदशा उसमें पाई जाती है। इस प्रकार की दशा का अभिनय करना असम्भव है। अतः अभिनय की आवश्यकता के कारण ही धनंजय नाटकादि में शान्त रस की स्थिति स्वीकार नहीं करते।

जो आचार्य शान्त रस को स्वीकार करते भी हैं उनमें उसके स्थायी-भाव के विषय में वैमत्य है।

मोक्ष 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में धृति को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं-
'धृतिस्थायीभावः वस्तुतत्त्वालोचनादिभिः व्यभिचारिभावीः वागारम्भादिभि-
रनुबन्धमानः निष्पन्नः शान्त इत्यभिधीयते।'

'अन्ये पुनस्य श्रमं प्रकृतिभावयन्ति, स तु पूर्वोरेव विशेषो भवति।'^१

धृति का अर्थ मोक्ष के अनुसार 'सन्तुष्टि' है। यथा-'स्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्वृद्धपादस्य ननु बर्मास्तुतेव पुः॥'

वी. राघवन् के अनुसार मोक्ष की 'सन्तुष्टि' तुष्ण्याशायसुख अथवा श्रम के ही निष्पत्ति है। अन्य आचार्यों को ही मांति मोक्ष भी श्रम को मानते हैं किन्तु उनके अनुसार 'श्रम' धृति के ही अन्तर्गत आता है। क्योंकि नाट्यशास्त्र में ४६ व्यभिचारियों में श्रम की गणना नहीं की गई है, धृति की गणना की गई है इसीलिए वे धृति के अन्तर्गत श्रम को मानते हैं। कहीं-कहीं पर मोक्ष श्रम को मतिविशेष के व्यभिचारी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।^२ 'मति'- तत्त्वज्ञान का ही प्रकार है जो श्रम से भिन्न नहीं है। किन्तु क्रुंठारपुञ्जाद में मोक्ष धृति को छोड़ कर श्रम को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हैं।

१- सरस्वतीकण्ठाभरण पृ०.५१४-५१५। २- मतिविशेषः श्रमो यथा-वही पृ०५२१।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद मानते हैं।^१ निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानने पर इसकी द्विविध स्थिति हो जाती है। एक ओर यह व्यभिचारि-भाव है और दूसरी ओर शान्त रस का स्थायीभाव भी। क्योंकि इसकी गणना स्थायीभावों के तुरन्त बाद और व्यभिचारिभावों की श्रृंखला में सब से पहले की गई है अतः इसकी स्थिति द्वार की देखी पर दीप की भांति है जो अपने दोनों मार्गों में समान रूप से प्रकाश प्रस्तुत करता है।

एकावलीकार विभावर निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हुए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि आचार्य मम्मट को भी शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद ही मान्य है, और क्योंकि निर्वेद शान्त रस का स्थायीभाव भी है और व्यभिचारिमय भी, इसीलिए उन्होंने स्थायीभावों और व्यभिचारिभावों के मध्य में इसका नामोल्लेख किया है।

अभिनवमुक्त की ही भांति विभावर भी शान्त रस को अर्कान् रूप फल देने वाला मानते हैं और उसका उदाहरण इस प्रकार देते हैं :-

मममंगुरताविभावनादिविभावः पुष्कल्यननिस्तरंगताधनुभावो वृत्त्यादिव्यभिचारी निर्वेदः शान्तः ।..... ततस्त्रिकारिभक्तप्रवृत्तिवर्माविपरीतनिवृत्तिभक्तित्फको-पकर्णकः शान्तः ।

१- आचार्य मम्मट शान्त का उदाहरण करते हुए कहते हैं -

‘निर्वेदस्यामंगुप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादनं व्यभिचारित्वेऽपि - स्थायित्वाऽभिधानार्थम् । तेन -

निर्वेदस्यायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नक्तो रसः ।’

यहाँ तथ्य विचारणीय है-आचार्य मम्मट का निर्वेद को ‘अमंगुप्राय’ कहना उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि निर्वेद की उत्पत्ति तत्त्वज्ञान से होती है, जो सर्वथा मंगुर है। इस तथ्य की पुष्टि मद्र गोपाः के कथन से भी होती है।- तत्त्वचिन्तायां तु निर्वेदस्य न किंचिदमंगुप्रायत्वं, प्रत्युत मंगुप्रायत्वमित्याह ।

५० The Number of Rasas. P-६६

२- वही

३- निर्वेदस्य शान्तरसस्यायित्वप्रकाशनायैव मुनिना व्यभिचारिभू प्रथमं निर्दिष्ट-त्वात् ।..... इति स्थायिव्यभिचारिमध्येऽस्य पठनादुपक्रमत्वनस्याभिमतमिति मुनीराज्यस्य उक्तमात्रतवाच्यम्। एकावली पृ० ६७-६८

४- वही पृ० ६६

साहित्यदर्पणकार बाचार्य विश्वनाथ के अनुसार शान्त-रस का स्थायीभाव 'रम' है। संसार की असंख्यता का ज्ञान वाञ्छन्-विभाव है, वाञ्छ, पक्षि-तीर्थ-स्थान, रमणीय स्कान्तवन तथा महात्माओं का संग आदि उदीपन-विभाव हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया आदि इसके संचारी भाव हैं।

पण्डितराव कान्नाथ के मतानुसार 'निर्वेद' शान्त रस का 'स्थायीभाव' है। सम्पूर्ण कृपणरूप संसार 'वाञ्छन्' है। सब पदार्थों में साम्य का भाव 'अनुभाव' है। मति आदि 'संचारीभाव' हैं।

इस प्रकार शान्त रस के स्थायीभाव के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के परकीर्ति बाचार्यों का अनुशीलन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि रम और निर्वेद को शान्त-रस के स्थायीभाव के रूप में विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। यदि निर्वेद का अन्तर्भाव रम में कर लिया जाय तो अन्य रसों की मांति शान्त रस का भी सम्मान स्थायीभाव रम ही उक्त है।

बाचार्यों में शान्त रस के स्थायीभाव के विषय में कैमल्य होते हुए भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर प्रायः सभी परकीर्ति बाचार्यों ने मुक्त कण्ठ से शान्त रस का समर्थन किया है। और काव्य में भी रस माने हैं।

शब्द शक्तियाँ -

शब्द शक्तियों के प्रसंग में अभिनवगुप्त से परकीर्ति बाचार्य कहां तक प्रभावित हुए हैं - इस का परीक्षण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

अभिवाञ्छित -

आनन्दवर्धन ने अभिवा के नियमन की चर्चा कहीं नहीं की है। किन्तु अभिनवगुप्त ने दो स्थलों पर विशेष रूप से उल्लेख किया है।

१- साहित्यदर्पण पृ० १२९

२- ५० रसगंगाधर पृ० १३६

३- वही पृ० १५६

(१) 'मृग धार्मिक' इत्यादि की व्याख्या के प्रसंग में ।

(२) शब्द शक्तिमूला- अनुरणनरूप- व्यंग्य में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ के विवेचन के प्रसंग में ।

(१) अभिनवगुप्त ने 'मृग धार्मिक' की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसमें 'मृगो' इस विधि रूप अर्थ के बाद ही 'क्त मृगो' यह जो विशेष रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, वे दोनों विधि-विशेष रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं । विरुद्ध होने के कारण दोनों की युगपत् (एक समय में) वाच्यता नहीं है । क्योंकि अभिधा जब एक विधि रूप अर्थ को कता चुकी तब उसकी प्रवृत्ति पुनः विशेष रूप अर्थ में नहीं होगी । - यह नियम है कि अभिधा के विरत हो जाने पर उसका पुनः व्यापार नहीं होता ।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् प्राणिशक्तिविशेषणे ।'

(२) ध्वनि के वेद - शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूप व्यंग्य में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ का विवेचन आया है । इसमें प्रथम प्राकरणिक अर्थ अभिधेय है । अतः अभिधा एक अर्थ लेकर विरत व्यापारा हो जाती है, फिर दूसरा अप्राकरणिक अर्थ अभिधा से नहीं निकलता, वह व्यङ्ग्य व्यापार से निकलता है । यहाँ पर आनन्दवर्धन ने अभिधा के नियमन की कर्वा नहीं की है, केवल इतना कहा है -

'वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांसीत्'

अर्थात् अप्राकरणिक अर्थान्तर के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर यह बात प्रसक्त न हो कि वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिवान करने वाला है, इसलिए अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी चाहिये । इत्यादि ।

१- (१) तत्र भाक्तवभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न कृतेण, विरम्य व्यापारमावात् । 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधा-व्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात् । उ० पृ० ५३

(२)..... नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थ-प्रतिपत्त्युपपत्तीनावा विरम्या-व्यापारात् । वही पृ० ५८

२- ध्व० पृ० २४४ ।

किन्तु बभिनकुप्त ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बभिया के नियमन की बात एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट की है ।

‘अत्रान्तरे कुसुमस्ययुगमुपसंहरन्मकुप्तः श्रीज्जाभिमानः क्लृप्तमस्तिष्ठावकाट-
हासो महाकाठः’ ।

इसमें ‘महाकाठ’ प्रभृति शब्दों से प्राकरणिक श्रीज्ज शब्द विषयक अर्थ का बोध बभिया-शक्ति से हो रहा है । इसके साथ अप्राकरणिक- शिव - विषयक अर्थ भी निकल रहा है । उसकी प्रतीति व्यंजना-व्यापार द्वारा ही होती । क्योंकि बभिया का स्कार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर उसका पुनः व्यापार नहीं होता ।

परन्ती बावार्थ मम्मट ने भी बभिनकुप्त के ही स्वर में स्वर मिठा कर कहा - शब्दशक्तिमूला व्यंजना में बभिया का संयोगादि द्वारा स्कार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर , अभिव्येय जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, उसका और उसके साथ उपमादि अलंकार का व्यंग्यत्व निर्विवाद है ।

उसी पृष्ठ में श्री बिबावर भी बभिया के नियमन की चर्चा करते हुए कहते हैं-

जहां संयोगादि के द्वारा बभिया की शक्ति कुंडलिता (अर्थात् प्रकृतार्थ में - नियन्त्रित) होने के कारण अन्यार्थ को देने में कुप्लुता हो जाती है , वहां अत्रान्तर का अवगमन कराने में व्यंजना ही समर्थ होती है ।

१- ध्व० पृ० २५६

२- अत्र क्रतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिरुक्त्याः, अतएव अवयवप्रसिद्धेः अनुदायप्रसिद्धि-
वैधीयही इति न्यायमप्राकृत्यन्तो महाकाव्यप्रभृतयः शब्दा एतमेवायमभिवाय -

कृतकृत्या एव । तदनन्तरमप्यविनतिर्ध्वन्यव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात् । ७० पृ०

३- शब्दशक्तिमूले तु बभियाया नियन्त्रणोपानामिवेयस्याध्वान्तिस्य तेन सहापिमावेरलंकार-
स्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम् । काव्यमुद्रा ५० २१८

४- संयोगादिभिरभिवा कुंडलिता यत्र कुप्लुतामेति ।

अत्रान्तरावगमने व्यंजनमेव कामं तत्र ।।

..... अर्थ संयोगादिभिरभिवायां नियन्त्रितायां यनेकार्थस्य शब्दस्याध्वान्तरमपि
यत्र क्वचन प्रतीतिगोचरीभवति तत्र व्यंजनाव्यापार एव प्रगल्भः । ५० एकावली पृ०
५८-६०

यथा -

वाच्यवाचितायतदिस्वरमुच्चरणां -

माकुञ्च संस्थितमुपगृविशास्त्रमुं ।

मूर्ध्नि स्फुटद्विषीधितिकोटिधेन-

मुदीप्य को मुवि न विस्मयो नोक्तु ॥

यहां महाकवि माघ ने रैक्तक पक्ष का वर्णन किया है । नोक्तु प्रकृति शब्दों से प्राकरणिक रैक्तक पक्ष विषयक अर्थ का बोध दमिषा शक्ति से हो रहा है । किन्तु साथ ही अप्राकरणिक शिव-विषयक अर्थ भी निकल रहा है जिसे बोधित कराने में दमिषा शक्ति उत्तम है । क्योंकि वह प्राकरणिक अर्थ देकर विस्त-व्यापारा हो गई है । दमिषा के अतिरिक्त उस अर्थ को तात्पर्य और उदात्ता भी देने में उत्तम है । अतः उस अप्राकरणिक-शिव-विषयक अर्थ की प्रतीति कराने में व्यंजनावृत्ति ही उत्तम है ।

वाचार्थ विरचनाय ने भी व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में दमिषा के नियमन की चर्चा करते हुए कहा है :-

‘शब्दबुद्धिकर्माणां विरम्य व्यापाराभावः’ इस न्याय से दमिषा, उदात्ता और तात्पर्य नामक तीनों वृत्तियों की अर्थबोधन-शक्ति के उपसर्गण हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ बोधित होता है , वह शब्दनिष्ठ अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ व्यंजना-शक्ति कहलाती है । इसके व्यंजन, ध्वनन, गमन, प्रत्यासन आदि अनेक नाम हैं ।

तदनन्तर दमिषामूढा व्यंजना के विषय में कहते हैं कि संयोगादि के द्वारा दमिषा का स्कार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर , जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति

१- (१) अत्र तावन्न शेषः ।..... इत्यभिवातात्पर्यउदात्ताकारूपव्यापार क्रिया-
तिक्ती ध्वननबोधनव्यंजनप्रत्यासनाकामनादिव्यवदेशनिरूपितशतुषो व्यापारो
पुरपक्षस्य स्य । तदस्य शब्दशक्तिमूढानुरणनरूपव्यंग्यामिवानस्य ध्वनेर्वाहिम्ना
नोक्तं नोक्तमिवेत्यत्रोपमाउत्पत्तिः प्रतीयते । ५० स्वावली पृ० ६०-६१

(२) ५० वही० पृ० ११९

२- ५० वाक्यवर्णन पृ० ४० ।

होती है, वह अभिवापुता व्यंजना कहलाती है।

यथा -

दुर्गातिष्ठितकिमुषी मनसि संमील्यंस्तेजसा

प्रोचद्राकजो गृहीतगरिमा विष्णुभूतो मोनिभिः ।

नदात्रैकभूतेषाणां गिरिपुरी गाढां रुचिं चारयन्

नामाकुम्भ विभूतिभूषितस्तन् राक्षसुमावलम्बः ॥

यह पद्य 'उमा' नामक महारानी के पति राजा मानुदेव की प्रशंसा में लिखा गया है। अतएव प्रकरण के द्वारा उमावलम्बः शब्द का 'उमा नामक महादेवी के बल्लभ मानुदेवनृपति' - इस अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है। किन्तु शब्द रचना इस प्रकार की है जिससे गौरीवल्लभ - शंकर परम अर्थ भी व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है। और अन्त्य में इन दोनों (राजा और शिव) का उपमानोन्मेष भाव काजित होता है।

उदाणाशक्ति -

काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में आचार्य मम्मट ने व्यंजना से उदाणा का भेद ध्वन्यालोक १।१७ के उचन के अनुसार किया है। किन्तु उदाणा के भेदों की संख्या के विषय में अभिनवगुप्त और मम्मट में किंचिद भेद है। अभिनव गुप्त कहते हैं -

अनया उदाणवा पंचविक्वा विश्वमेव व्याप्तम्^२ ।

किन्तु आचार्य मम्मट कहते हैं - 'उदाणा तेन चद्विक्वा'^३ ।

संक्षेपः आचार्य मम्मट ने उदाणा के छः भेदों का निरूपण 'अभिवापुतिमातृका' के आधार पर किया है। क्योंकि उदाणा का छः प्रकार का विभाग मूलतः मुकुटभट्ट ने किया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उदाणा के छः भेदों के स्थान पर सौलस भेद किए हैं। वे सौलस भेद इस प्रकार हैं - पहले रुद्रि-उदाणा तथा प्रयोजनकी

१- (१) ५० साहित्य दर्पण पृ० ४०-४३ (२) ५० वही पृ० १३४

२- उ० पृ० १५३

३- काव्यप्रकाश -पृ० ६६

उत्ताणा ये दो मेद हुए । फिर उन दोनों के उपादान-उत्ताणा तथा उत्ताण-उत्ताणा के मेद से , दो-दो मेद होकर चार मेद हुए । फिर उन चारों मेदों के आरोषा तथा बाध्यमाना रूप से दो-दो मेद होकर कुल आठ मेद हुए । फिर उन आठों मेदों के बुद्धा तथा गौणी मेद से दो-दो मेद होकर कुल बीस मेद हुए । मुकुलमट्ट और मम्मट ने केवल छः मेद ही किए हैं । इस मेद का कारण यह है कि मम्मट और मुकुलमट्ट ने उपादान-उत्ताणा और उत्ताण-उत्ताणा ये दोनों मेद केवल बुद्धा के माने हैं, गौणी के नहीं । विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों मेद माने हैं । उनको मम्मट के छः मेदों में मिठाकर देने पर आठ मेद बन जाते हैं । विश्वनाथ ने इनके इष्टि तथा प्रयोजन से दो मेद करके बीस मेद बनाये हैं । मुकुल मट्ट और मम्मट ने ये मेद नहीं किए हैं इसीलिए उत्ताणा-मेद की संख्या में अन्तर हो गया है।

तात्पर्यशक्ति -

अभिनवगुप्त ने व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में व्यंजना-विरोधी - अमिहितान्वयवादी भीमांसकों के तात्पर्यार्थि का सङ्केत करते हुए तात्पर्यार्थि बौध के अत्र तात्पर्यशक्ति का प्रयोग किया है । काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त पहले आचार्य हैं जिन्होंने तात्पर्यशक्ति- इस संज्ञा का प्रयोग किया है । आनन्दवर्धन ने वक्ता के तात्पर्य को व्यंग्य मानते हुए , 'तात्पर्य' पद का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु तात्पर्यशक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है । किन्तु अभिनवगुप्त ने प्रथम और तृतीय उद्योत में तात्पर्यशक्ति का विवेचन करते हुए इसे अमिहा, उत्ताणा और व्यंजना से भिन्न तात्पर्यस्थिता शक्ति माना है । इसका प्रभाव सभी परकीर्ति

-
- १- अमिहा, उत्ताणा और व्यंजना - तो शब्द की शक्तियाँ हैं किन्तु तात्पर्य वाक्य की शक्ति है । इसीलिए आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तियों के साथ तात्पर्यशक्ति को नहीं रखा है । किन्तु अभिनवगुप्त ने जीवन में अनेक स्थलों पर अमिहा, उत्ताणा और व्यंजना के मध्य तात्पर्यस्थिता-शक्ति की भी गणना की है और उसे द्वितीय कदया निविष्ट माना है । एवं व्यंजना शक्ति को तृतीय कदया में रखा है । जो आनन्दवर्धन के मूल से बिल्कुल साम्य नहीं रखता । क्योंकि आनन्दवर्धन शब्दशक्तियों की केवल तीन कोटियाँ मानते हैं- अमिहा, उत्ताणा और व्यंजना ।

वाच्यार्थों पर पड़ा । मध्यम, विभाव, विश्वनाथ आदि सभी ने अमिषा, उदाणा और व्यंजना के साथ तात्पर्यशक्ति का भी उल्लेख किया है । अमिनकुप्त-के डीक परवर्ती वाच्यार्थ अनर्थ और धनिक ने तो व्यंजनावृत्ति का मुक्तः उल्लेख करते हुए, एकमात्र तात्पर्यार्थ को ही माना । यद्यपि अनर्थ-धनिक ध्वनि विरोधी वाच्यार्थ हैं तथापि उनके द्वारा विवेचित तात्पर्यार्थ को दृष्टि में रखते हुए, यदावृत्तिका भी विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्यंजना विरोधी अनर्थ तथा धनिक एकमात्र तात्पर्यार्थ के ही पक्ष में हैं । उनके मतानुसार विभावानि तथा स्वायीभाव, रस के प्रतिपादक हैं और रस-भाव उनके प्रतिपादक । काव्यरूप वाक्य का एक ही कार्य जयवा प्रयोजन है - संसृष्ट के चित्त में आनन्दोद्भूति करना । यह आनन्दोद्भूति विभावानि से मुक्त स्वायीभाव के ही कारण होती है । इस प्रकार काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादकशक्ति (तात्पर्य-शक्ति) काव्य के प्रतिपादक तत्त्व रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है । इसलिये वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य-शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति करने के लिए विभावानि अन्य वाक्यों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावानि के प्रतिपादन के द्वारा ही तात्पर्यशक्ति रस-प्रतीति करा के पर्यवसित होती है । अतः संक्षेप में रस-प्रतीति की शरणि में काव्यप्रयुक्त पदार्थ - विभावानि हैं, तथा इन विभावानि से संसृष्ट रत्यादि स्वायीभाव काव्य का वाक्यार्थ है । कारण स्वायीभाव तथा रस की प्रतीति व्यंग्य न होकर काव्य का वाक्यार्थ है और वह व्यंजना-शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का ^{विषय} है ।

रस की को वाक्यार्थ रूप में निरूपित कर देने पर, केवल अमिषा, उदाणा एवं तात्पर्यशक्ति द्वारा समस्त अयमाण-अयमाण पदार्थ की प्रतीति हो जाती है इसलिये व्यंजना शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है । क्योंकि काव्य में प्रतीयमान अर्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में ही हो जाता है । जहाँ वक्ता का तात्पर्य अयमाण नहीं है, उसका काव्य में साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है, ऐसे स्थल पर भी अन्त-पदार्थ में तात्पर्यार्थ ही मानते हैं । क्योंकि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान वक्ता के

१- दू० दशरूपकावलीक- पृ० २४७-२४८

२- वही पृ० २४८-२४९ ।

के प्रयोजन(कार्य) तक रहता है । जहां तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा वहीं तक तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र होगा । यथा 'मम वार्मिक' इत्यादि में वक्ता का प्रयोजन 'निर्बोधक' है । अतः यहां पर तात्पर्यशक्ति की सीमा निर्बोधार्थ तक मानी जाती । उसका बोध कराने के बाद ही तात्पर्यशक्ति क्षीण होती ।

इस प्रकार ध्वनि विरोधी की यह कमी है कि जब व्यंग्यमात्रपद-निर्बोधार्थ को ध्वनिवादी भी वक्ता का तात्पर्य मानते हैं तब उसे वाक्यार्थ ही मानना चाहिए , व्यंग्यार्थ नहीं ।

ध्वनिवादी का मत है - जहां वाक्य में स्वार्थ(अर्थात् वाक्य का तात्पर्यार्थ) एक बार विभ्रान्त हो गया हो, तथा वाक्य किसी दूसरे तात्पर्यार्थ भिन्न प्रतीयमान अर्थ का वाक्य है । वहां ध्वनि होती । जैसे 'मम-वार्मिक' इत्यादि में तात्पर्यार्थ विध्यर्थ में ही विभ्रान्त हो जाता है , तदनन्तर निर्बोध रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंग्यावृत्ति द्वारा होती है । इस प्रकार वाक्य में स्वार्थ-विभ्रान्ति की सीमा तक ही तात्पर्य माना जाएगा ।

इस बात से ध्वनि विरोधी सहमत नहीं हैं । ध्वनिक का कहना है कि किसी भी वाक्य के तात्पर्यार्थ की विभ्रान्ति सीमा का निर्धारण करना असम्भव है । वह वक्ता के प्रयोजन पर ही बाकर विभ्रान्त होता है । अतः तात्पर्य को किसी तराजू पर रखकर नहीं कहा जा सकता है इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु जहां तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा वहां तक तात्पर्यार्थ भी होगा, अतः वक्ता के तात्पर्य के लिए व्यंग्यार्थ को मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस स्थल पर एक तथ्य अवश्य है कि आनन्दवर्धन ने तात्पर्यशक्ति का नाम नहीं दिया है । किन्तु अमिनकुप्त ने जीवन में तात्पर्यशक्ति का उल्लेख किया है । इसीलिए ध्वनिक ने व्यंग्यावृत्ति का सङ्केत करते हुए कहा है कि ध्वनिवादी जब तात्पर्यार्थ और तात्पर्यशक्ति को स्वीकार कर ही रहे हैं तब उससे अतिरिक्त

व्यंजनावृत्ति को मानने से कोई ठाम नहीं ।^१ क्योंकि जो अर्थ व्यंजनावृत्ति से निकलता है वह तात्पर्यशक्ति द्वारा ही मिल जाता है ।

वाचार्थ मम्मट ने भी शब्दार्थ-स्वरूप का निरूपण करते हुए तात्पर्यार्थ का उल्लेख किया है । किन्तु उनकी शब्दावली से परिचित होना है कि वाच्यार्थ, उदात्तार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रतिपादक वाचक, उदात्त और व्यंजक रूप त्रिविध शब्दार्थ सभी ध्वनिवाचियों को निर्विवाद रूप से मान्य हैं । किन्तु कुछ वाचार्थ वाच्य, उदात्त और व्यंग्य-अर्थ के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ को भी मानते हैं ।^२

वस्तुतः यह तात्पर्यार्थ अमिहितान्वयवादी मीमांसकों का है, जिनके अनुसार सर्व प्रथम पदों से केवल अन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, उसके बाद पदों की वाकान्ता, योग्यता तथा सन्निधि के बल से तात्पर्यार्थ द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ का बोध होता है । वे व्यंजनावृत्ति के बिना ही वाक्यार्थ द्वारा ही द्वारा अर्थ निकालना चाहते हैं ।

तात्पर्यार्थ का विवेचन करते हुए, वाचार्थ मम्मट ने कहीं कुतूहल से इस तथ्य की ओर भी खेद कर दिया है कि जो वाचार्थ काव्य में तात्पर्यार्थ को मानते हैं वे मात्र अमिहितान्वयवादी मीमांसकों के शृङ्गी हैं क्योंकि वे ही पदार्थान्वय के लिए तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करते हैं । अन्वितामिवानवादी प्रमाकर मीमांसकों के शृङ्गी इसलिए नहीं हैं क्योंकि वे अन्वित पदार्थों में ही शक्ति मानने के कारण अन्वय की प्रकाशिता तात्पर्यशक्ति को स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार पूरा वाक्यार्थ अमिथा द्वारा विषय्य होने के कारण वाच्यार्थ ही है ।

इसी प्रसंग में इस तथ्य का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि व्यंजना की व्यापना के प्रसंग में वाचार्थ मम्मट ने अपना मीमांसा और न्याय-विषयक

१- तात्पर्यातिरेकाच्च व्यंजीवस्य न ध्वनिः. - दशरूपकावलीक पु० २४६

२- स्वादावको तात्पर्यार्थः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा ।

वाच्याववस्तवार्थाः स्तुः तात्पर्यार्थोऽपि केवुक्तिः ॥ काव्यप्रकाश २।६पु० ३४-३५

३-वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्वितामिवानवादिनः = काव्यप्रकाश- पु० २७

ज्ञान का परिचय काव्यप्रकाश के पंचम-उल्लास में दे दिया है ।^१ उनका निमित्ति-
 'कानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते, सोऽयमिच्छोरिव दीर्घ-दीर्घ व्यापहरः और
 यत्परः उक्त्वा स उक्त्वायः' ध्वन्यालोक के 'यम वचिष्य' के उच्यते पर बाधित है।

उत्कारसर्वस्कार इत्युक्त ने भी तात्पर्यार्थ का उल्लेख किया है -

'ध्वनिकारः पुनरविवा-तात्पर्योत्तानास्यव्यापारप्रतीतिरस्य ध्वनमधीतना-
 दित्तवाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्यान्मुक्तम्यत्वा व्यापारस्य च वाक्यार्थ-
 स्वाभावादावकार्यस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणात्कारोपसर्तव्यत्वेन प्राधान्यादि-
 श्रान्तिवाम्कत्वात्पत्त्वं सिद्धान्तितवान्' ।

यहां वाक्यार्थ इत्युक्त पर भी तमिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्टतः पड़ा
 है क्योंकि वे भी तमिषा, उत्ताना और व्यञ्जना के मध्य तात्पर्य-व्यापार का
 नामोल्लेख कर रहे हैं । यहां एक तथ्य विशेषतः अवश्य है कि वाक्यार्थ इत्युक्त
 ने ध्वनिकार(ज्ञानन्दवर्धन) की दुहाई देकर तमिषा, तात्पर्य और उत्ताना रूप
 व्यापारत्रय से भिन्न चतुर्थ- व्यञ्जन-व्यापार की स्थापना की है, वह सर्वथा
 असंगत है । क्योंकि ध्वनिकार-ज्ञानन्दवर्धन ने तात्पर्य को तमिषा, उत्ताना
 और व्यञ्जना रूप उक्त-व्यापार के मध्य नहीं रखा है । यह तमिनवगुप्त की
 भूल है ।

एकावलीकार भी तमिषावर ने भी तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है किन्तु
 वाक्यार्थ मम्मट के ही अनुसार कही सुलझा से तमिषावृत्ति के विवेचन के प्रश्न
 में कहते हैं -

'अनुवाचानामयानां विधेयाधैरुत्वं तात्पर्यमिति व्यापारान्तरं
 परिरन्मुपगतम्' । यथा -

'उमां स पश्यन्नुज्ज्वल वदन्ता प्रवृत्ते वदन्मनुष्मिकतनुः'

इत्यत्र दक्षीत्य वदन्तः करणकृत्वाव्यभिचारस्तदुपादानं तद्विधेयणार्थं
 तदेव चात्र विधेयं तत्परत्वेन तात्पर्यम् ।

१- ५० काव्यप्रकाश- पृ० २२६-२३०

२- ५० उच्यते पृ० ६४-६६

३- उत्कारसर्वस्वम्- पृ०-२२

४-एकावली पृ० ५६

शब्दशक्तिमूला अनुरणन रूप व्यंग्य के प्रसंग में भी विद्याधर ने तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है -

‘इत्यभिधातात्पर्यलक्षणावरूपव्यापारत्रितयानिवर्तो ध्वननद्योतनव्यंजन-प्रत्यायनावगमनादिव्यपदेशनिरूपितश्चतुर्थो व्यापारो दुरपह्नव एव’^१

एकावली की उपर्युक्त पंक्ति के साथ लोचन की पंक्ति- तस्मादभिधा-तात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमना-दिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽप्युपगन्तव्यः’^२ के साथ तुलना करने पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि विद्याधर की उपर्युक्त पंक्ति लोचन पर आधृत है। आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में तात्पर्यशक्ति का उल्लेख किया है। जब वे त्रिविध वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-अर्थ की क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-वृत्तियों का विवेचन कर चुक्ते हैं, तब तात्पर्यशक्ति के विषय में कहते हैं -

तात्पर्यस्थिां वृत्तिमाहुः पदायन्वियत्रोधने ।

तात्पर्यार्थं तदर्थं च काव्यं तद्वबोधकं परे ॥

आचार्य विश्वनाथ ने शब्द-शक्तियों से पृथक् तात्पर्य-शक्ति का विवेचन किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि तात्पर्य वाक्य की शक्ति है और अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्द की ~~संज्ञित~~ शक्तियां हैं।

किन्तु व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में वे अन्य आचार्यों की ही भांति तात्पर्यवृत्ति की भी गणना अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के मध्य करते हैं -

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानानाम् ।

अंगीकार्या तुर्या वृत्तिबोधे रसादीनाम् ॥

तात्पर्य से व्यंजना का भेद बताते हुए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के मतों को समेटने का प्रयत्न किया है। यहां तक कि तात्पर्यार्थ को मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का भी खण्डन किया है। इस प्रकार साहित्य-

दर्पण में व्यंजना-विरोधी भीमांशकों को निम्नलिखित तीन मानों में विभाजित करते उनका सङ्गठन किया है -

- १- वामिहितान्वयवाकियों की तात्पर्य-शक्ति का,
- २- वामिवा-शक्ति का व्यापार भाषा के ज्ञान दीर्घदीर्घतर मानने वाले वामिवा-मित्रमन्त्रमन्त्रिण विमानवाकियों का,
- ३- और, तात्पर्य से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ को न मानने वाले वामिवा के वाक्कार्य-प्रहारित्वात्तात्पर्य न तुडाकृतम्, का

‘शब्दबुद्धिर्गणां विरम्य व्यापारामावः’ इस न्याय से सङ्गठन किया है ।

उपर्युक्त न्याय को नहीं मानने वाले भीमांशकों को उत्तर देते हैं - यदि वामिवा के इस दीर्घ-दीर्घ व्यापार से ही व्यंग्यार्थ को बोध मानते हों तो उदाणाशक्ति के मानने की भी क्या आवश्यकता है, उसे भी छोड़ दो । अपने दीर्घदीर्घ तर वामिवा व्यापार से ही उद्गार्य और व्यंग्यार्थ दोनों क्यों को निकाल लेना । किन्तु भीमांशक उदाणाशक्ति को मानते हैं इसलिए उन्हें व्यंजना शक्ति भी माननी पड़ेगी । अतः उनका वामिवा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध मानना ठीक नहीं है ।

वाचार्थ विरचनाय , उत्तरः शब्दः स शब्दार्थः’ इस न्याय को मानने वाले भीमांशकों का सङ्गठन करने के पूर्व उनसे पूछन करते हैं कि ‘किम्मे’ शब्द का तात्पर्य ही वही शब्दार्थ है - यहां प्रष्टव्य है कि तत्परत्वं क्या वस्तु है ? क्या तात्पर्य का मूलतः तदर्थत्व है ? अथवा तात्पर्य नामक वृत्ति से बोधित होना यदि पक्का पक्का मानों तो कोई विवाद ही नहीं । क्योंकि व्यंग्य होने पर भी तदर्थत्व का अभाव नहीं होता । तदर्थत्व का मूलतः है, उस पद का अर्थ होना । इससे यह तो निश्चय ही नहीं कि कौन सी वृत्ति से वह अर्थ होना चाहिए । चाहे किसी भी वृत्ति से निकला हुआ अर्थ उस शब्द का तदर्थ कहला सकता है । इसलिए व्यंजना-शक्ति के द्वारा प्रतीत हुआ निरतिशयामन्त्र भी यदि तदर्थ कहलाए तो कोई बात नहीं, क्योंकि इससे ध्वनिवादियों की मानी हुई व्यंजना-वृत्ति का सङ्गठन नहीं हो सकता, अतः इस पक्ष में हमें विवाद करने की भी कोई आवश्यकता नहीं । यदि दूसरा पक्ष मानते हैं तो यह कहलाए कि यह तात्पर्य नामक वृत्ति कौन सी है ? क्या अतिहितान्वयवादी भीमांशकों की मानी हुई

मानते हैं तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि तात्पर्यवृत्ति से पदार्थों का सम्बन्धमात्र बोधन हो है। उसके बाद वह परिक्षीण हो जाती है, अतः उससे, फिर व्यङ्ग्य-अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं। यदि उससे अतिरिक्त वृत्ति मानकर उसका नाम 'तात्पर्यवृत्ति' रखते हैं तो नाममात्र में विवादें रंहा। पूर्वसम्प्रत अभिप्रा, लक्षणा और तात्पर्य के अतिरिक्त चौथी वृत्ति तो तुम्हारे मत में भी सिद्ध हो ही गई। फेद केवल इतना है कि हम चौथी वृत्ति को व्यंजना कहते हैं और तुम तीसरी तथा चौथी दोनों को तात्पर्यवृत्ति कहते हो।^१

अभिहितान्वयवाधियों की सम्मत तात्पर्यशक्ति से ही पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (विभावादि का संघर्ष) और रसादि का ज्ञान यदि एक साथ ही प्रकाशित हो जाय तो क्या हानि है? इस प्रकार चौथी वृत्ति भी नहीं माननी पड़ेगी और काम भी चल जाएगा। केवल तात्पर्यशक्ति से ही दोनों का प्रकाशन मान लें।^१

उपर्युक्त मत का सफ़्फ़न करते हुए कहते हैं कि 'विभावादि के संघर्ष को रस का कारण माना गया है और रसज्ञान को विभावादि ज्ञान का कार्य माना गया है (कार्य और कारण कभी एक साथ हो नहीं सकते। कारण पहले होता है और कार्य उसके पीछे, अतः एक वृत्ति से इन दोनों का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। इन दोनों का कार्य-कारण भाव परतमुनि ने कहा है - विभावानुभाव और व्यवहारो भाव के संयोग से अर्थात् इन कारणों से रस की निष्पत्ति अर्थात् रस रूप कार्य की सिद्धि होती है। पहले सिद्ध किया है कि रस कार्य नहीं होता, अतः यहाँ चौथी वृत्ति के कारण इन शब्दों का तात्पर्य प्रयोजन किया गया है। अथवा तात्पर्य भाव के कारण को उपचार से रस का कारण कह दिया है। यदि विभावादि ज्ञान और रस-ज्ञान या सम्भाव (एक ही काठ में उत्पन्न होना) माना जाय तो कार्यकारण भाव नहीं बन सकता। एक साथ निकले हुए किसी पशु के बाएं और दाहिने छींटे एक दूसरे के कार्य और

१- तत्र प्रष्टव्यम् - किमिदं तत्पर्यत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यकृत्या तद्व्योक्तत्वं वा? आद्ये न विवादः, व्यंग्यत्वेऽपि तदर्थज्ञानपायात्।
 द्वितीये तु - केवं तात्पर्यास्तिया वृत्तिः? अभिहितान्वयवाधिमिरंगीकृता,
 तदन्य वा? आद्ये वचनेवोचरम्। द्वितीये तु नाममात्रे विवादः। तन्मतेऽपि
 तुरीयवृत्तिरिद्धेः। (साहित्य दर्पण पृ० १५६-१५६)

और कारण नहीं हुआ करते । जहाँ, पूर्वोक्ति हो वहीं कार्य-कारण भाव होता है। उसके विपर्यय में नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि तात्पर्यवृत्ति से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता ।

इस प्रकार सभी ने तात्पर्य^{अर्थ} के लिए तात्पर्य-शक्ति का प्रयोग अभिनवगुप्त से प्रमाणित होकर किया है ।

व्यंजना-व्यापार -

व्यंग्याशौक के आधार पर व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार है -

‘शब्द-प्रयोक्ता कभी वाच्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी प्रयोजन की अपेक्षा से छिपी-छिपी अनभिधेय रूप से अर्थ प्रकाशन करना चाहता है । किन्तु प्रतिमाशाही बक्ता या कवि का जो पारोक्षिक प्रयोजन होता है उसकी अवगति वह श्रोता को अनभिधेय रूप से कभी नहीं कराना चाहता । प्रयोजन को अनभिधेय बना कर तो सारा चमत्कार या वैचित्र्य ही नष्ट हो जाता है । फलतः वह छिपी-छिपी उस प्रयोजन प्रतीति को समन्वित रूप देने के लिए अनभिधेय ही रहता है । ऐसी अवस्था में उसके उस अनभिधेय अभिप्राय-विशेष की समन्वित प्रत्यायना किस शक्ति से होती है उसे व्यंजना-शक्ति कहते हैं ।’

व्यंजना-शक्ति के विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में प्रतीक है । परकीर्ति आचार्यों ने भी व्यंजना का स्वरूप आनन्दवर्धन के ही अनुसार प्रतिपादित किया है ।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में व्यंजनावृत्ति का विस्तृत विवरण किया है । व्यंजना के मूलतः दो भेद हैं - शब्दनिष्ठ तथा अर्थनिष्ठ । इन्हीं को क्रमशः शाब्दी व्यंजना और वाची व्यंजना भी कहते हैं । शाब्दी व्यंजना के पुनः दो भेद हैं -

१- प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वहृद्वेन अर्थ प्रकाशयितुं इच्छते

कदाचित्स्वहृद्वानभिधेयत्वेन प्रयोक्तापेक्षया कदाचित् - ध्व० पृ० ४४६-४०

२- वारुणो ह्यर्थः स्वहृद्वानभिधेयत्वेन प्रकाशितः कुरामेव शोभामावहति, प्रसिद्धिर्देव-
कमस्तथैव विदग्धविदग्धपरिचरित्तु यदभिरुक्तं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात्-
व्यङ्ग्यवाच्यत्वेन । ध्व० पृ० ४३३

३- ५० ध्वनि सिद्धान्तः विरोधी सम्प्रदायः उनकी मान्यताएं पृ० ७१ ।

अभिधामूला तथा उदाणामूला । मम्मट ने सर्वप्रथम उदाणा के विवेचन में प्रथम में प्रयोजन की निश्चयि कराने वाली उदाणामूला व्यंजना का यह उदाण किया है-

यस्य प्रीतिमाधातुं उदाणा अनुपास्ते ।

काठे शुद्धेण्येऽत्र व्यंजान्नापरा श्रिया ॥^१

प्रयोजनप्रतिविधाविषया यत्र उदाणया उच्चप्रमाणस्तत्र नान्यत्वास्तत्प्रीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्, न चात्र व्यंजनादौऽन्यो व्यापारः ।

‘मंगायां घोषः’ में स्तैत्यपाकत्वादि प्रयोजनका विषय के बोधन में उदाणा शक्ति के शीघ्र हो जाने पर अभिधा, तात्पर्य तथा उदाणा से व्यतिरिक्त एक चतुर्थ-व्यापार अवश्य मानना पड़ेगा और वही है व्यंजना-व्यापार जिसके धोतन ध्वनन आदि उपर पर्यायि हैं ।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना -

अनेकाकी शब्दों के स्वतः में संयोगविप्रयोगादि^४ अभिधानियामकों द्वारा अभिधा के नियमन हो जाने पर भी शब्दार्थों की प्रतिभा बडात् जो अन्य अर्थ की प्रीति होनी है, उस वृत्तमिवेय वन्-अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार को व्यंजना-व्यापार कहते हैं । यथा-

मद्रात्मनो दुरधिरोक्तनोर्विज्ञाज्जंशोऽन्ते कृतश्रितीमुत्तमं पश्य ।

यस्यानुष्ठुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुलेऽप्युक्तः कृतकरोऽप्युक्तः ॥

१- काव्य० २/१४

२- वही पृ० ५६

३- आचार्य मम्मट ने व्यंजना-व्यापार को चतुर्थ कर्तृत्वा-निवेष्टी माना है - यह अभिनवगुप्त का प्रभाव है ।

४- तटादी ये विशेषाः पावनत्वाद्यस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्या तेऽन्ये व्यञ्जन-ध्वनन-धोतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेवितव्यम् । काव्यप्रकाश. ७६.

५- संयोगो विप्रयोगश्च शाब्दार्था विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं त्रिं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

शामर्थ्यमीक्षितो वैतःकातो व्यक्तिः स्वरास्यः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतितैवः ॥ वाक्यपदीय

६- अनेकार्थस्यशब्दस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगादौऽप्यर्थमीकृद् व्यापृतिरंकम् ॥ काव्यप्रकाश २/१६

इसमें कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है। प्रकरणीक होने के कारण राजसत्तीय अर्थ की ही प्रथम प्रतीति होती है। यही वाच्य अर्थ है। इसके अनन्तर प्रतीत होने वाला गजसत्तीय अर्थ व्यंजनाव्यापार के द्वारा बोधित होना क्योंकि प्रकरणवशात् अमिवा का नियमन तो राजसत्ता अर्थ में हो चुका और एक अर्थ दे देने के बाद अमिवा पुनरुन्वीक्षित नहीं हो सकती। यदि यहाँ पर प्रकरण अज्ञात रहता तो अमिवा अनियन्त्रित हो रहती फलतः दोनों ही अर्थ वाच्य हो जाते और इस प्रकार यह श्लेष उलंकार का विषय हो जाता। इतिवर्णन रूप अपाकरणीक व्यंग्य अर्थ की प्राकरणीक राजसत्तीय वाच्य अर्थ के साथ असम्बद्धता के निरसनार्थ दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। फलतः यहाँ पर उपमा उलंकार भी व्यंग्य होना।

वाचार्थ मञ्चट शाब्दी व्यंजना की परिभाषा में शब्द की अनेकार्थता तो स्वीकार करते हैं किन्तु शब्दश्लेष के प्रसंग में वाच्यभेद के कारण शब्दभिन्नता ही मानते हैं। एक शब्द के अनेक वाच्यार्थ नहीं स्वीकार करते। यहाँ पर 'अर्थभेदेन - शब्दभेदः' इस मत के पौञ्जक बन जाते हैं। उनके इन दोनों मतों पर परस्पर विरोध पड़ता है। अतः 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्वसत्तीय 'महात्मनः' जादि उपमाध्वनि के स्थलों में यह संका उठा सकता है - 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इस न्याय से यहाँ पर भी दो वाचक शब्द माने जायें। एक शब्द के द्वारा राजा वाले अर्थ का अभिवान होने पर अमिवा का नियमन हो गया तदनन्तर दूसरे शब्द से दूसरे शाब्दी वाले अर्थ का बोध हो जाएगा क्योंकि दूसरे शब्द की अमिवा का तो नियमन हुआ नहीं, इसलिए व्यंजना नामक वृत्त्यन्तर की कल्पना ठीक नहीं है। इस संका का समाधान विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाशदर्पण' में किया है। वे कहते हैं कि 'यदि यहाँ पर शब्दद्वय की कल्पना करने तो प्रकृत अर्थ की प्रथम प्रतीति कैदे होगी, क्योंकि दोनों ही अर्थों को अभिवेय मानने पर दोनों की समकक्षता हो जाएगी और उनमें पूर्ववशाद्भाष की निक्षतता असम्भव हो जाएगी। अतः दूसरे अर्थ को वाच्य न मान कर व्यंग्य मानना ही ठीक होगा और द्वितीय अर्थ के बोधक के लिए एक दूसरे वाचक शब्द की कल्पना करने की अपेक्षा उसी शब्द में

व्यापारान्तर की ही कल्पना करना। कैस्कर होना। वस्तुतः यहाँ पर पार्यान्तिक उपमा अलंकार व्यंग्य है। 'नव' विषयक अर्थ को ही पार्यान्तिक व्यंग्य मानने में एक बाधति है, वह यह कि दोनों अर्थों की परस्पर सम्बन्ध रूप से प्रतीति होने पर वाक्य में असंगति हो जाती। इसी लिए आचार्य आनन्दवर्मा वस्तुत्व की प्रतीति को ध्वनि का विषय न मान कर केवल शब्द का ही विषय मानते हैं। वे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहीं पर मानते हैं जहाँ कि शब्द सामर्थ्य से अलंकारान्तर आदिष्ट हो, वस्तु मात्र नहीं। आचार्य मम्मट का इस विषय में ध्वनिकार से प्रामेय दिखाई देता है क्योंकि वे शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य की भी स्वीकार करते हैं और निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

पंक्तिः वा एतत् कथं भवति यत्र वस्तुत्वो नामे ।

उज्ज्वलवर्णोऽहं वैविक्रान्तः क्व क्वसि ता वसु ॥

अत्र यद्युपमागत्योऽपि तदा वास्वेति व्यञ्जते ॥ (काव्य० पृ० १३३)

शब्द शक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य के भी स्वीकारता होने के कारण मम्मट के अनुसार 'मद्रात्मनः' कथादि श्लोक में अप्राकरणीक नक्षत्रीय अर्थ को आनुबन्धिक रूप से वस्तुव्यंग्य मान सकते हैं किन्तु पार्यान्तिक व्यंग्य तो उपमा ही है। वस्तुतः मम्मट यहाँ पर नक्षत्रीय अर्थ को व्यंग्य रूप ही मानते हैं। ध्वनित्वेन परीक्षा करने पर तो यह भी उपमा अलंकार व्यंग्य का ही उदाहरण होना, वस्तु व्यंग्य का नहीं, क्योंकि यहाँ पर व्यंग्य रूप नक्षत्रीय अर्थ की प्राधान्येन विवक्षा नहीं है। कवि का मुख्य उद्देश्य यहाँ नव की प्रतीति कराना नहीं है, अपितु उपमानोपमेयभाव की प्रतीति ही उसका प्रधान उद्देश्य है। प्रधान व्यंग्य को ही ध्वनि कहते हैं अतः यहाँ अलंकारव्यंग्य है, वस्तुव्यंग्य नहीं।

१- काव्यप्रकाशवर्णन : वा० वा० पृ० ६६

२- आदिष्ट स्वालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।

वस्मिन्मुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युत्पन्नो हि सः ॥ ध्व० २।२९

यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं वस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युत्पन्नो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् वस्तुत्वे न शब्दशक्त्या प्रकाशमाने शब्देः - ध्व० पृ० - २३५

३- ध्वनि-सिद्धान्तः विरोधी. सम्प्रदायः उनकी मान्यताएं पृ० ७८-८९

पण्डितराव जगन्नाथ नियमितप्राकरणिक अर्थ वाले नानार्थक शब्दों के स्थल में अप्राकरणिक अर्थ को व्यञ्जानम्य नहीं मानते । इस विषय में उन्होंने 'रस-
नंगापर' के द्वितीय बानन के आरम्भ में ही पर्याप्त विवेचन कर मम्मटादि आचार्यों के मत का उच्छेद किया है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं -

‘तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जेति प्राचां सिद्धान्तः ठिक्ठि एव ।
प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेवोक्तमायां तु सा क्वाचित्स्वाकपीत्यत्रास्माकं
प्रतिमाति’ ।^१

पण्डितराव जगन्नाथ ने शब्दशक्तिमूक्त वस्तु व्यंग्य अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ के लिए एक नई उद्भावना की है । उनकी दृष्टि में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जा-व्यापार है उन्हीं स्थलों पर होनी जहाँ पर योगरूढ शब्दों के प्रयोगों में अमिवा के द्वारा रुढ़ अर्थ निकलना तथा यौगिक अर्थ के लिए अमिवा के अक्षमपूर्य के कारण व्यञ्जावृत्ति का ही वाक्य उना पढ़ना । इसका वे निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

अवतानां भियं कृत्वा वारिवाहैः सवामिहम् ।

तिष्ठन्ति वपठा यत्र स काठः समुपस्थितः ॥

यहाँ पर वपठा, अवता तथा वारिवाह योगरूढ शब्द हैं । इनका अमि-
वैयार्थ कुमशः ‘विफु, स्त्री तथा मेघ’ है । प्राकरणिक अर्थ के निष्पन्न होने के
अनन्तर एक दूसरा अर्थ भी भावता रहता है जिस दूसरे अर्थ में उक्त शब्दों का
कुमशः ‘पुंश्चली, अशक्तः तथा कज्वाहक पुराण’ यह अर्थ निकलता है । अब यदि
कोई कहे कि इन दूसरे अर्थों को भी अमिवैय मान लिया जाय तो यह असम्भव
है क्योंकि अमिवा तो रुढ़ अर्थ को ही देगी - ‘योगादुद्भिर्बलीयसी’ - इस न्याय
के अनुसार । अतः इन दूसरे यौगिक अर्थों का बोध कराने के लिए ‘व्यञ्जा’ के
वतिरिक्त अन्य कोई मति ही नहीं है ।

पण्डितराव की इस मौलिक उद्भावना के कारण आनन्दवर्धन तथा मम्मट
इन दोनों आचार्यों की मर्यादाओं का कर्षित् निवारित हो जाता है । आनन्द-
वर्धन ने नानार्थक शब्दों के स्थल में अमिवा के नियन्त्रण की कहीं पर भी बातें
नहीं की, अतः पण्डितराव ने उक्त शब्दशक्तिमूक्त व्यंग्य के सम्बन्ध में भी
अमिवा के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि हम यह नहीं
१- रसनंगापर, द्वितीय बानन

कह सकते कि अमिया तो बपटा शब्द का विकृत अर्थ देकर नियन्त्रित हो गयी, इसलिए दूसरा 'पुंश्चती' बाठा अर्थ नहीं दे सकती, कारण कि अमिया के द्वारा तो बपटा का इस प्रसंग में विकृत अर्थ ही निकलेगा क्योंकि ^{अस} अर्थ में शब्द रहूँ है। यदि 'पुंश्चती' इस योगिक अर्थ को भी अभिप्रेय माना जाय तो फिर 'पंथ का सेवार' (शैवाड) अर्थ भी अभिप्रेय ही मानना पड़ेगा। अमिया के नियमन बाडे सिद्धान्त के विरोधी ठीक अमिया का पुनरुज्जीवन भी मान लें जा: अमिया नियमन की बर्ण ही न की जाय 'हिन्ने मूठे नैव पत्रं न शाखा: '। योगरुड्ड शब्दों के स्पष्ट में वस्तुव्यंग्यता मान कर मम्मट के मत का समर्थन हो गया, यद्यपि इस संबंध में दोनों के सिद्धान्त में मौलिक भेद है।

पण्डितराज का शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य का सिद्धान्त बापात्तः ठीक बंस्ता है। किन्तु इसका जीवनकार के सिद्धान्त से वास्तव्यन्तिक विरोध पड़ता है। जीवनकार प्रकरणादि को इतना बड़बान् तात्पर्य निष्ठाविक मानते हैं कि इनके कारण कहीं-कहीं 'योगाडुडिक्कीयसी' इस न्याय का अपाकरण भी हो जाता है। जैसे ग्रीष्मकाल के वर्णन के प्रकरण में बार हूँ 'महाकाठ' शब्द का 'महान् बाखी काठरव' इस व्युत्पत्ति से निकाला योगिक अर्थ ही अभिप्रेय मानना पड़ता है और जो इसका योगरुड्ड अर्थ है 'तंकर', उसे अभिप्रेय न मानकर व्यंग्य ही मानना पड़ता है।

बाधी व्यंजना -

बाधी व्यंजना की मम्मट ने यह परिभाषा दी है :-

वक्तुवोधव्यकाशानां वाक्यवाच्यान्वयसन्निधेः ।

प्रस्तावदेवजातादेवैरिष्ट्यात् प्रतिमात्रुषाम् ॥

योऽर्थस्यान्याथैकीहेतुव्यापारो व्यक्तिरेव वा ॥

वक्ता तथा बोधव्य आदि के वैतकाण्ड के कारण प्रतिमात्रान् अनुवय कर्तों को वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने बाडे अर्थव्यापार को व्यंजना कहते हैं।

आचार्य, मम्मट ने व्यंजना के दो मुख्य सहकारित्वों का प्रयोगों की स्पष्ट निर्देश किया है। वे दो सहकारी हैं - विषय की दृष्टि से कस्ता बादि का वैशिष्ट्य तथा प्रतिफल की दृष्टि से प्रतिभा की अपेक्षा। व्यंग्यार्थ की प्रतीति केवल प्रतिभावान् प्रतिफल को ही होती है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि व्यंग्यार्थ तो केवल काव्यरसक द्वारा ही जाना जा सकता है। आचार्य अमिनमुक्त के शब्दों में व्यंजनाशक्ति प्रतिफल^{सहाय}प्रतिभा है। कस्ता बादि की चित्तगता का ज्ञान भी व्यंजना का मुख्य प्रयोक्त है। मम्मट ने केवल बाधी व्यंजना में ही कस्ता बादिवैशिष्ट्य को सहकारी माना है। शाब्दी व्यंजना में, उन्हीं अनपेक्षित हो, यह बात नहीं है, क्योंकि मोक्ष के पुराण में कहे गए 'पुरमिमांसे मवान् मुंक्ते' इस वाक्य से जो 'गोमांसमलणक्य' द्वितीय अर्थ की व्यंजना हो रही है उसमें कस्ता का वैशिष्ट्य भी प्रयोक्त है। मम्मट के द्वारा दिए गए शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के निम्नलिखित उदाहरण में कस्तुबोधक का वैशिष्ट्य व्यंजना में उदात्त है -

पंधिय ण हत्य क्त्वरमत्ति मणं पत्तरत्तुं नामे । २

उज्ज्वलपञ्चोहरं वैशिष्ट्यं कर्तुं कश्चि ता कस्तु ॥

अर्थात् पक्षि । इस कथरीले ग्राम (पिछड़ी बस्ती) में बिहोना (शास्त्र) नहीं है, उठे पयोधर को देख कर यदि रहना चाहते हो तो रहो। यहाँ यदि 'उपमानपयोऽसि तथा शास्त्र' इस व्यंग्य की प्रतीति तो उन्हीं कस्तु बय को होनी जिसने इस उक्ति की कस्ता स्त्री के कुट्टात्वं और दुःशीलत्व का तथा इसके बोधक का के प्रबुद्धननांकुरत्व बाते पाव का ठीक-ठीक अवधारण कर लिया हो।

शाब्दी व्यंजना के कुछ स्पष्ट ऐसे भी हैं जहाँ पर कस्ता बादि वैशिष्ट्य का व्यंजना में कोई साहाय्य नहीं होता जैसे - 'मद्रात्मन' इत्यादि श्लोक में।

१-(१) तन्मन्त्रिप्रयोपचिन्तामविनमूढवाततत्प्रतिभास्यविज्ञितप्रतिफलप्रतिभा-

सहायार्थोत्तमशक्तिध्वन्यापारः - उ० पृ० ६२-६३

(२) प्रतिफलप्रतिभासकारित्वं ह्यस्याभिधीतस्य प्राणत्वेनोक्तम् - उ० पृ० ६३

२- काव्यप्रकाश पृ० १५०

वस्तुतः बाधीव्यंजना में जो रमणीयता है वह विभुद शाब्दी व्यंजना में नहीं मिलती। 'मद्रात्मनः' बाध विभुद शाब्दी व्यंजनावर्गों में प्रत्येक शब्द के समय स्नेह के लिए अभिवानकोशों का ज्ञान प्रतिपत्ता के लिए परम आवश्यक है। उनके बिना अप्राकरणिक तर्क की प्रतीति असम्भव है। कवि को भी ऐसे व्यंजक शब्दों की योजना में पूर्ण प्रभाव करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति के व्यंग्य तर्क की प्रतीति उतनी सक्षम नहीं होती जितनी की बाधी व्यंजनावर्गों में होती है। और जब तत्वावधारिणी बुद्धि में व्यंग्य तर्क का कटिति अमान्य नहीं हो तो उसका समकार कम हो ही जाता है क्योंकि व्यंग्यार्थ को तो गुरन्त मासित होना चाहिए। जब प्रतिपत्ता को अभिवानकोश का ज्ञान अपेक्षित ही है तो फिर उनके लिए वह व्यंजक शब्द भी स्नेहसहाय वाचक शब्द के तुल्य ही तो हुआ। सम्भवतः इसी वरुण का विचार कर पश्चितराय तथा ब्रज्यदीक्षित बाध कुछ बाधायों ने ऐसे उद्गरणों का स्नेह-अङ्कार में ही अन्तर्भाव किया है क्योंकि वहाँ द्वितीय तर्क को देने में भी स्नेहसहाय बाधिवारुणिक ही प्रतिपत्त होकर समर्थ होती है। हाँ, ऐसे स्थलों में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव में रमणीयता अवश्य है। अतः इस अङ्कारांश की व्यंग्यता को सभी बाधायों ने स्वीकार किया है।

ध्वनिकाव्य मेद -

इस तथ्य का पक्के इल्लेस किया जा चुका है कि तानेन्दवर्मा ने ध्वनि-मेदों की निश्चित संख्या नहीं बताई है। किन्तु बभ्रुकुण्ड ने ध्वनि मेदों की गणना करके उनकी संख्या ७४२० मानी है। बभ्रुकुण्ड ने ध्वनि-मेद

१- ध्वनि सिद्धान्तः विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएं पृ० ८४-८८

२- बभ्रुकुण्ड ने ध्वनिमेदों की संख्या ७४२० मानी है उसमें ब्रुटि है-

उपनकार जितने ध्वनि के मेद (३५) मानते हैं उतने ही गुणीकृत व्यंग्य के भी (३५)। अङ्कारों के अन्त होने के कारण 'अङ्कारत्वावच्छिन्न' ध्वनि का एक ही मेद मानते हैं। इस प्रकार कुल ७२ मेद हुए। अब इनकी त्रिविध संकर तथा पुनार की संशुद्धि के साथ योजना होने के कारण ४ से गुणा करने पर २८४ मेद निकलते हैं। इन २८४ संकीर्ण मेदों की कुल ३५ मेदों के साथ भी योजना होने के कारण गुणनफल २८४ X ३५ = ९८४० जाता है (जौ० ७५०९-५०२) किन्तु इस गुणनफल को उपनकार ब्रुटिबशात् ७४२० मानते हैं -

ध्वनि-सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएं-
५०९६२

मम्मट ने लोचनकार से कुछ १६ मेद अधिक मानकर ध्वनि के ५१ मेद बताए हैं ।

इन ५१ मेदों के परस्पर मिश्रित होने पर $५१ + ५१ = २६०२$ मेद होते हैं । तदनन्तर इनकी योजना त्रिविध संकर तथा एक प्रकार की संश्लिष्ट के साथ होने पर $२६०२ \times ४ = १०४०८$ मेद होते हैं । अब इन संकर तथा संश्लिष्ट ध्वनि मेदों के साथ ५१ शुद्ध ध्वनि मेदों को जोड़ने पर $१०४०८ + ५१ = १०४५९$ ध्वनिमेद हो जाते हैं।

एकावलीकार विभावर ने अविवक्षितवाक्य तथा संतुल्यक्रमध्वन्य ध्वनि के मेदों की गणना में मम्मट का ही अनुकरण किया है । अन्तर केवल इतना है कि व्यंशशक्तिमूठ के ३६ मेद गिनाने के अनन्तर पुनश्च ११ प्रकार के अन्य मेदों का भी निर्देश किया है ।

वसंतपञ्चम रसादि ध्वनि के ८ प्रकार माने हैं - रस, माव, रसामास, मावामास, मावोदव, मावसन्धि, और माकलनजा । इस प्रकार से रसादिध्वनि के मेदों की गणना मम्मटादि किसी आचार्य ने नहीं की है अपितु पदपुकारशक्ता, वाक्यपुकारशक्ता, रचनापुकारशक्ता के आधार पर ही की गई है । रसादि ध्वनि की पदपुकारशक्ता आदि के विषय में एकावलीकार मौन हैं । उनके ध्वनि मेदों का संक्षिप्त आकलन इस प्रकार है -

४ अविवक्षितवाक्य + ८ वसंतपञ्चमध्वनि + ३६ व्यंशशक्तिमूठ + ४ व्यंशशक्तिमूठ + १ उभयशक्तिमूठ = ५१ मेद ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुकरण किया है । उन्होंने भी शुद्ध ध्वनि के ५१ मेद माने हैं ।

१- तेषां चान्यान्यसौके संक्रेण क्रियेण संश्लिष्टा वैकल्प्या वेदहान्निवियज्यन्ताः

(१०४०८) शुद्ध मेदः सह - शरीरपुनरुत्पन्नः (१०४५९) - वाक्यपुकारः - ५१ १२७

२- स्वमपरेऽव्यंशशक्तिमूठस्य ध्वनौरेकादशपुनश्चपुकारशयमेदाः पुनश्चान्तरेषु दृष्टव्याः-

एकावली पृ० १२८

३- अस्य रसमावरसामासमावामासमावसन्धिसमावोदवमावसन्धिसमाकलनजावकल्प्याष्ट

प्रकाराः - एकावली पृ० ८६

४- तदेकमेकपञ्चाशद् मेदास्तत्त्वध्वनौमेदाः - साहित्यदर्पण ४।११

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसनागार के मुख्य ज्ञान में उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य को असंख्य भेदों बांटा माना है^१, किन्तु सामान्यतः उनके पांच भेद मानते हैं^२।

ध्वनि

अभिधामूठ

उदाणामूठ

रसादिध्वनि वस्तुध्वनि उच्चारध्वनि अर्थात्तरसंक्रुष्टिवाच्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

मुख्य ज्ञान में रसादि ध्वनि का ही सांगोपांग विवेचन किया गया है।

द्वितीय ज्ञान में रसादि के अतिरिक्त शेष सभी अभिधामूठ ध्वनियों का भेदप्रतिपादन संतुल्यध्वनि के अन्तर्गत किया गया है। यहां पर रसादि का केवल वर्ण, पद आदि की व्यञ्जिता के नाते निर्देश किया गया है। संतुल्यध्वन्य के अन्तर उदाणामूठ ध्वनि के भेदों का विचार किया गया है।

ध्वनि भेद के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ, ज्ञानन्दवर्धन तथा मम्मट दोनों से प्रभावित हैं। ज्ञानन्दवर्धन के ही अनुकरण पर उन्होंने कविप्रौढोक्ति तथा स्वतःसंकी इन दो प्रकार के व्यञ्जक रूपों को ही स्वीकार किया। कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्ति का कविप्रौढोक्ति में ही अन्तर्भाव^{कर} किया है। उच्चरतिमूठ में वस्तुव्यंग्य को स्वीकार कर मम्मट का ही अनुकूलन किया है।

१, २- तत्र ध्वनैरुत्तमोत्तमस्यासंख्यमेवस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते तानेव ध्वनिषामान्यभेदान् निरूपयति -

द्विविधः ध्वनिः, अभिधामूठो उदाणामूठश्च । तत्राद्यस्त्रिविधः - रसवस्त्व-
उच्चारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसंक्रुष्टमोक्षउदाणात् रस-भाव-तदाभास-
भावशान्ति-भावोदय-भावशान्ति-भाववृत्तवानाम् गृह्यते । द्वितीयश्च द्विविधः
- अर्थात्तरसंक्रुष्टिवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च । एवं पंचात्मके ध्वनौ परम-
रमणीयता रसध्वनेस्तदात्मा । रसनागार-पृष्ठ ८५-८६

३- पण्डितराज जगन्नाथ ने वस्तुध्वनि, उच्चारध्वनि एवं रसध्वनि - इस प्रकार का प्रयोग अभिव्यक्त से प्रभावित होकर किया है। यदि वस्तुव्यंग्य, उच्चारध्वन्य एवं रसव्यंग्य इस प्रकार कहते हैं तो अधिक उपयुक्त होता।

४- ध्वनि सिद्धान्तः विरोधी सम्प्रदायः उनकी मान्यताएं - पृ० १६७-१७४

काव्यमेव-

वानन्दवर्धन ने सभी दृष्टियों से मीमांसा कर व्यंग्य वर्ग की प्रधान तथा गौण दो प्रकार की स्थितियों के अनुसार कुपुः काव्य के दो प्रकार निरूपित किए - ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य । इन दो अतिरिक्त चित्रकाव्य की उन्हींने वस्तुतः काव्य माना ही नहीं । उसे काव्यानुकृति तथा काव्यविग्र मात्र कह कर छोड़ दिया । इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने वानन्दवर्धन का ही अनुकरण किया, कोई नई उद्भावना नहीं की है ।

आचार्य मम्मट ने काव्य की तीन कोटियाँ मानी हैं । ध्वनिकाव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यंग्य को मध्यम तथा चित्र को अवर(अल्प) काव्य कहा है । परन्तु सभी आचार्यों ने काव्यप्रेम निरूपण काव्य-प्रकाश के ही आधार पर किया है । किन्तु विश्वनाथ तथा पण्डितराव जाम्नाथ इस विषय में कुछ कैमल रखते हैं ।

विश्वनाथ काव्य के दो भेद स्वीकार करते हैं - ध्वनि काव्य और गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य । वे चित्रकाव्य की गणना काव्य कोटि में नहीं करते । इस विषय में वे वानन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हैं । क्योंकि ऐसा ऊपर कहा जा चुका है वानन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को व्यंग्य रहित होने के कारण काव्यानुकृति मात्र माना है, काव्य नहीं ।

पण्डितराव जाम्नाथ काव्य के चार भेद करते हैं - उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अल्प । उनके उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण ध्वनि काव्य के उदाहरण से साम्य रखता है । उत्तम काव्य ध्वनिकार सम्पन्न गुणीभूतव्यंग्य से साम्य रखता हुआ भी उससे कुछ भिन्न है । साम्य कैसा इस कारण है कि दोनों (उत्तम काव्य और गुणी-भूतव्यंग्य) में व्यंग्य वाक्य की अवस्था उपपन्न रहता हुआ, वाक्य का उत्कर्ष-

१- इयमुत्तममतिहयिनि व्यंग्ये वाक्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः । काव्यप्रकाश १।४

उत्तादृशी गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम् ।

उच्चविग्रं वाक्यविग्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।। वही १।४ पृ० ३१-३२

२- काव्यं ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यं वेति दिवा मत्तम् - साहित्यदर्पण ४।१

३- तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाव्यमेवाव्यक्तुर्वा - रत्नमाधर पृ० ३६

४- उच्चार्थो यत्र गुणीपाकित्वात्मानो कमप्यकीमिव्यंतस्तदायम् - वही पृ० ३६

५- यत्र व्यंग्यप्रधानमेव उच्चमत्कारकारणं तद्विज्ञेयम् - वही पृ० ६६

उत्कृष्टाधिक होने के कारण बाह्यत्व हेतु कता है । निम्नता स्थिति है क्योंकि ध्वनिकार ने वाच्य तथा व्यंग्य के समुदाय होने पर व्यक्ता संक्षिप्त-प्राधान्य होने पर भी गुणीभूतव्यंग्यता मानी है । किन्तु रसनावरकार उत्तम काव्य में केवल व्यंग्य का अप्राधान्य मानते हैं, न संक्षिप्तप्राधान्य और न तुल्यप्राधान्य । इस कारण पण्डितराव का उत्तमकाव्य गुणीभूतव्यंग्य काव्य के समकक्ष नहीं ठहरता ।

काव्य का तृतीय भेद मध्यम काव्य है । जहाँ पर व्यंग्य का समत्कार वाच्य-समत्कार से असमानाधिकरण हो, वह मध्यम काव्य है । असमानाधिकरण का अर्थ है - 'अस्फुटतया बोध्य' । अतः सीधा अर्थ यह हुआ कि मध्यम काव्य वह है जहाँ व्यंग्य का समत्कार अस्फुट हो और वाच्य का समत्कार उत्कृष्ट हो । इस प्रकार पण्डितराव के उत्तम तथा मध्यम दोनों काव्य-प्रकार मिलकर गुणीभूतव्यंग्य की बराबरी करते हैं ।

काव्य का चतुर्थ भेद अल्प काव्य माना गया है । जहाँ पर शब्द का समत्कार प्रधान हो और अर्थ का समत्कार उसका उपस्कारक हो, वह अल्प काव्य है ।

पण्डितराव जन्नाथ की चतुर्विध काव्य-प्रकारों की प्रेरणा सधमस्तः पुर्वीति आचार्य केविकर्णपुर गोस्वामी से मिली हो क्योंकि उन्होंने भी अपने उत्तमकाव्योस्तुम में इसी प्रकार काव्यभेदों का उल्लेख किया है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि व्याकरण, दर्शन साहित्य आदि शास्त्र में परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है । जब एक शास्त्र दूसरे शास्त्र से अज्ञात नहीं रह पाता, कहीं न कहीं अपने से छतर शास्त्र का वाक्य है ही उता है , तब एक ही शास्त्र-परम्परा में लिखे गए ग्रन्थों का एक दूसरे से प्रमाप्ति हुए बिना रह सकना सर्वथा असम्भव है । ऐसे साहित्यशास्त्र में ही व्यवस्थित ,

१- यत्र व्यंग्यसमत्कारासमानाधिकरणी वाच्यसमत्कारस्तत्तृतीयम् - रसनावर पृ० ७१

२- तदसमानाधिकरणत्वं वास्फुटतया बोध्यम् - नानैत(मन्त्रिकाञ्च) पृ० ७६

३- यत्रार्थमन्त्रयुपलब्धता शब्दसमत्कृतिः प्रधानं, तदल्पं चतुर्थम् - रसनावर, पृ० ७८

४- उत्तमं काव्यम् ।

मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ आदि आचार्य यह दावा नहीं कर सकते कि वो हमने कहा है वह किसी ने नहीं कहा है। सभी ने एक ही बात कही है अन्तरमात्रे इतना है कि सब के प्रतिपादन की शैली भिन्न है। सामान्य से किसी आचार्य पर भगवती सरस्वती की ऐसी कृपा हो जाती है कि वह सर्वथा नूतन तत्त्व खोज निकालता है, तदनन्तर उनके आचार्य उसी पथ का अनुसरण करते हुए अपने-अपने ग्रन्थों की रचना करते हैं, अनुवदन मात्र करते हुए भी उन्हें पर्याप्त सह मिठ जाता है। यथा- भगवती की कृपा से ही आचार्य आनन्दवर्धन ने अज्ञातपूर्व ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। तदनन्तर उसका अनुवदन करने वाले सर्वप्रमुख आचार्य उन्हीं के टीकाकार अभिनवगुप्त हुए। उनके बाद - मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि सभी ने उसी तथ्य को मात्र दुहरा दिया है। एक ही कड़ी में जुड़े होने के कारण उन पर अपने-अपने पूर्वजों आचार्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

उपसंहार -

पूर्व विवेचित तथ्यों के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि परकीर्ण ध्वनि-सम्प्रदाय आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के जीवन से अधिक प्रभावित रहा है। अभिनवगुप्त ने कोई मौखिक ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनकी दो साहित्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं - जीवन और अभिनवभारती - दोनों ही टीकाएँ हैं, तथापि अभिनवगुप्त 'आचार्य' पद से अभिषिक्त हैं। यह अभिनवगुप्त की अपनी एक विशेषता है। अभिनवगुप्त ने दार्शनिक होते हुए भी साहित्य-कृतियों पर अपनी उसी उठाई और उसमें कुछ हद तक संकट भी हुए। किन्तु, उन्होंने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में जो गुप्त डंग से परिकल्पित किए उसके आनन्दवर्धन का सरल एवं क्रतु सिद्धान्त भी इतना अधिक उलझ गया कि वह अध्येताओं के लिए दुर्गम दुर्ग बन गया। उस पर अभिनवगुप्त ने मुहर भी लगा दी - 'कि जीवन विनाशोको भाति' इत्यादि। निष्पत्ता दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहना अनुपयुक्त न होना कि यदि अभिनवगुप्त ने जीवन टीका नहीं लिखी होती तो 'ध्वन्यालोक' संकल्पनों के लिए अधिक सरल, सुलभ और ग्राह्य होता।

परिशिष्ट

ग्रन्थ और - ग्रन्थकार

- अभिनवगुप्त** : ध्वन्यालोक-उपन, अनु० कान्नाय पाठक, चौहन्ना विद्यामन, वाराणसी, १९६५
- : अभिनवभारती, नायकवाड़ औरिएष्टत डीरीतु पावर, १९५६
(अभि. भा.)
मान-२, १९३४
- : हिन्दी अभिनवभारती, अनु० बा० विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसन्धान, अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६०
- : तन्त्रालोक, काश्मीर संस्कृत डीरीतु
- : ईश्वरपुत्रवर्माविवृतिविमर्शिनी, काश्मीर संस्कृत डीरीतु १९३८
(ई. डी. वि. वि.)
- अमरसिंह** : अमरकोश, निर्णय शानर प्रेस, बम्बई
- आनन्दवर्मा** : ध्वन्यालोक, अनु० कान्नाय पाठक, चौहन्ना विद्यामन, वाराणसी, १९६५
- : ध्वन्यालोक, दीधिति टीका (चौ. सं. सि. द्वि. संस्करण १९५३).
- : ध्वन्यालोक (ध्व.) लोचन (लो.) और ^{नालन्ध्या टीका} उक्ति, काशी संस्कृत डीरीतु, १९४०
- उद्भट और** : काव्याञ्जलिसारसंग्रह, एवं अनुवृत्ति की व्याख्या, व्याख्याकार-
(का. अ. सं. सं.)
- प्रतिहारेंद्रराव** : डा० राममूर्ति त्रिवाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९६६
- काशिबाब** : अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मेघदूतम् और कुमार वम्बम् ।
- कविकर्णपुर-**
- गोस्वामी** : अञ्जल कौस्तुभ, बरेल्ल रिखर सोसायटी १९२६
- कुन्तल** : कन्नोक्तिवीथि, हिन्दी, अनु० बा० विश्वेश्वर, बात्माराम रण्ड
बम्बई दिल्ली १९५५
- गोमैन्दु** : बौधित्य विचार कर्मा, चौहन्ना संस्कृत डीरीतु, १९३३
क्षेमराज
कान्नाय - : स्वच्छन्दतन्त्रम्, प्रत्यभिज्ञा हृदयम्
- परिष्काराव** : रत्नगंगाधर, अनु० करीनाथ फा और मदनमोहन फा, चौहन्ना
विद्यामन, वाराणसी, १९५५
- पण्डी** : काव्यादर्श - चौहन्ना संस्कृत डीरीतु
- पनंकर, पनिक** : पञ्चपद, चौहन्ना विद्यामन, वाराणसी
- नरेन्द्रप्रमोदि** : अञ्जल महोदधि, नायकवाड़ औरिएष्टत डीरीतु, १९४२
- नानैड** : मीपुकाव (रत्नगंगाधर की नानैड कृत व्याख्या) - काव्यमाता
- नरत** : नाट्यशास्त्र, नायकवाड़ औरिएष्टत डीरीतु, मान-१, १९५६
मान-२, १९३४

- मनुहरि : काव्यप्रदीप (बनारस)
 मामह : काव्यालंकार , अनु० देवेन्द्रनाथ झा, बिहार राष्ट्रभाषा -
 परिषद्, पटना १९६२
 मम्मट : काव्यप्रकाश, अनु० डा० विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल डिप्टेड, -
 (का० ३२) वाराणसी, १९६०
 मल्लिमट्ट : काव्यप्रकाश - बालबोधिनी सहित छल्ल संस्करण
 व्यक्तिविवेक, अनु० डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्यामन-
 वाराणसी, १९६४ ।
 मुकुलमट्ट : बालिकावृत्तिमातृका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६
 मयूक : अलंकारसर्वस्व- संदीपनी, अनुवादक एवं संपादक- डा० रामचन्द्र -
 द्विवेदी- मोतीदास बनारसीदास
 रावसेनर : काव्य बीमांदा : हिन्दी अनु० केदारनाथ झा, बारस्का -
 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४
 रघुट : काव्यालंकार- निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२८
 रामन : काव्यालंकारप्रवृत्ति - बोरिरिष्टड बुक एजेन्सी, १९२७
 बाबस्पति मित्र : सांख्यतत्त्वबंकीमुदी-प्रभा, व्याख्याकार डा० बाबाप्रसाद मित्र
 प्रेम प्रकाशन , ललाहाबाद, १९६६
 विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, विपठा टीका, शास्त्राग्र शास्त्री - मोतीदास -
 (सा० ६०) बनारसीदास ।
 काव्यप्रकाशवर्णन
 विद्याधर : रत्नावली, श्रीमस्तिष्ठाध्वरारतास्वाटीकाध्वरारता । बम्बई संस्कृत-
 सीरीज, १९०३
 हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, काव्यमाता १९०९
 (का० ३०-३१)
 श्रीहर्ष : रत्नावली
 योगसूत्र (योगसूत्र) व्यासभाष्य सहित
 हिन्दी
 कान्तिचन्द्र-
 पाण्डेय : स्तनत्रकशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी वि० सं०
 २०२४
 कृष्णकुमार-

कृष्णाकुमार-

सर्मा : ध्वनि सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय और अनाद
मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।

डा० चण्डिका-

प्रसाद गुप्त : नैषध परिशीलन

नगेन्द्र : रस सिद्धान्त, नैषध पञ्चिहसिं हाठास, दिल्ली १९६४

निर्मला जे : रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, नैषध पञ्चिहसिं हाठास -
दिल्ली, १९६७

पी.वी.काणो : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - मोतीदास बनारसीदास

प्रेमस्वरूप गुप्त : रसनाभर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर,
वडीमड १९६२

विन्मयी माहेश्वरी : रसनाभर का समीक्षात्मक अध्ययन

वडवेव उवाध्याय : संस्कृत वाचोवना, हिन्दी. समिति, शिवांग - विमान,
सचिवालय, उत्तरा १९६३

: भारतीयसाहित्यशास्त्र, नन्द किशोर रसद सन्ध, चौक -
वाराणसी

मंजुता जायसवाल : काठियास के काव्य में ध्वनि तत्त्व

रेवा प्रसाद तिवेदी : वानन्दवकी, मध्य प्रदेश हिन्दी मन्त्र अकादमी, मोपाठ
१९७२

राजवंत सहाय हीरा : भारतीय साहित्य शास्त्र कोश

रामगोपाठ -

मण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मन्त्र, भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी, १९६७

सुरेन्द्र पाण्डेय : ध्वनि सिद्धान्त-विशेषी-सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएँ

शिवनाथ पाण्डेय : ध्वनि सम्प्रदाय का विकास

English Books.Oriental and Comparative Aesthetics.

- Bhattacharya-Sivaprasad : Studies in Indian Poetics, Indian Studies
Calcutta, 1964.
- Chatterji J.C. : Kashmir Saivism (1914).
- DE, S.K. : Sanskrit Poetics ad a study of Aesthetics,
Oxford University Press, Bombay, 1963.
: Some problems of Sanskrit Poetics,
Calcutta Oriental Press, 1969.
- Drivedi, R.C. : Principles of Literary Criticism in Sanskrit
Motilal Banarsidas, 1969.
- Gnoli, Raniero : The Aesthetics Experience According to
(A.E.A.A.)
Abhinavagupta, Chowkhamba Publication, 1968.
- Kane, P.V. : History of Sanskrit Poetics, Third revised
edition, Motilal Banarsidas, Varanasi 1961.
- Krishnamoorthy, K. : Anandavardhana's Dhvanyāloka^{or} Theory
of Suggestion In Poetry. Poona Oriental
Book Agency, 1965.
: Essays In Sanskrit Criticism.
Manohar Printing Press, Neelkanth Kripa
Market, Dharwar.
: Dhvanyāloka And Its Critics.
Kavyalaya Publishers, Mysore.
- Nasson, J.L. : Aesthetic rapture Vol. I. II.
and Poona, Dacca College. 1970
- Patwardhan, M.V. : Sāntarasa and Abhinavagupta's Philosophy
of Aesthetics.

Pandey, K.C. : Indian Aesthetics, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1950.

: Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study. Chowkhamba, Varanasi, 1963.

Raghavan, V. : Rhoja's Sringara-Prakash, Panarvasu, Madras, 1963.

: The Number of Rasas, Adyar, Madras, 1940.

Sharma Mukunda-

Madhava : The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics.

Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi
1968.

Sankaran, A. : Some Aspects of Literary Criticism In Sanskrit
or The Theories of Rasa and Dhvani. Published
by University of Madras, 1966. Second edition
January 1973.

JOURNALS.

Allahabad Studies. University of Allahabad.

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Ganga Math Jha Research Institute, Allahabad. (J.G.N.J.R.I.)

Journal of The American Oriental Society. Vol.92.
